अनुगीतापर्व

महाभारत

(अनुशासनपर्व – आश्वमेधिकपर्व)

(अनुगीतापर्व)

षोडशोऽध्यायः

अर्जुनका श्रीकृष्णसे गीताका विषय पूछना और श्रीकृष्णका अर्जुनसे सिद्ध, महर्षि एवं काश्यपका संवाद सुनाना

जनमेजय उवाच

सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन् महात्मनोः ।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद् द्विज ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! शत्रुओंका नाश करके जब महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन सभाभवनमें रहने लगे, उन दिनों उन दोनोंमें क्या-क्या बातचीत हुई? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

कृष्णेन सहितः पार्थः स्वं राज्यं प्राप्य केवलम् ।
तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! श्रीकृष्णके सहित अर्जुनने जब केवल अपने राज्यपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया, तब वे उस दिव्य सभाभवनमें आनन्दपूर्वक रहने लगे ।। २ ।।

तत्र कंचित् सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप ।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ।। ३ ।।

नरेश्वर! एक दिन वहाँ स्वजनोंसे घिरे हुए वे दोनों मित्र स्वेच्छासे घूमते-घामते सभामण्डपके एक ऐसे भागमें पहुँचे, जो स्वर्गके समान सुन्दर था ।। ३ ।।

ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः ।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ।। ४ ।।

पाण्डुनन्दन अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने एक बार उस रमणीय सभाकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा— ।। ४ ।।

विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते ।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ।। ५ ।।

'महाबाहो! देवकीनन्दन! जब संग्रामका समय उपस्थित था, उस समय मुझे आपके माहात्म्यका ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूपका दर्शन हुआ था ।। ५ ।।

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ।। ६ ।।

'किंतु केशव! आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञानका उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलित-चित्त हो जानेके कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है ।। ६ ।।

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः ।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ।। ७ ।।

'माधव! उन विषयोंको सुननेके लिये मेरे मनमें बारंबार उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं; अतः पुनः वह सब विषय मुझे सुना दीजिये' ।। ७ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत ।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः ।। ८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गलेसे लगाकर इस प्रकार उत्तर दिया ।। ८ ।।

वासुदेव उवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम् ।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान् ।। ९ ।।
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति ।। १० ।।

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! उस समय मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका श्रवण कराया था, अपने स्वरूपभूत धर्म-सनातन पुरुषोत्तमतत्त्वका परिचय दिया था और (शुक्ल-कृष्ण गतिका निरूपण करते हुए) सम्पूर्ण नित्य लोकोंका भी वर्णन किया था; किंतु तुमने जो अपनी नासमझीके कारण उस उपदेशको याद नहीं रखा, यह मुझे बहुत अप्रिय है। उन बातोंका अब पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता ।। ९-१० ।।

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव ।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनंजय ।। ११ ।।

पाण्डुनन्दन! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। धनंजय! अब मैं उस उपदेशको ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता ।। ११ ।।

स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ।। १२ ।।

क्योंकि वह धर्म ब्रह्मपदकी प्राप्ति करानेके लिये पर्याप्त था, वह सारा-का-सारा धर्म उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है ।। १२ ।।

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया ।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ।। १३ ।।

उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था। अब उस विषयका ज्ञान करानेके लिये मैं एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करता हूँ ।। १३ ।।

यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्रयां गमिष्यसि ।
शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ।। १४ ।।

जिससे तुम उस समत्वबुद्धिका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त कर लोगे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तुम मेरी सारी बातें ध्यान देकर सुनो ।। १४ ।।

आगच्छद् ब्राह्मणः कश्चित् स्वर्गलोकादरिंदम ।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ।। १५ ।।
अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन् ।। १६ ।।

शत्रुदमन! एक दिनकी बात है, एक दुर्धर्ष ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे उतरकर स्वर्गलोकमें होते हुए मेरे यहाँ आये। मैंने उनकी विधिवत् पूजा की और मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न किया। भरतश्रेष्ठ! मेरे प्रश्नका उन्होंने सुन्दर विधिसे उत्तर दिया। पार्थ! वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। कोई अन्यथा विचार न करके इसे ध्यान देकर सुनो ।। १५-१६ ।।

ब्राह्मण उवाच

मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः ।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ।। १७ ।।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन ।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ।। १८ ।।

ब्राह्मणने कहा—श्रीकृष्ण! मधुसूदन! तुमने सब प्राणियोंपर कृपा करके उनके मोहका नाश करनेके लिये जो यह मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न किया है, उसका मैं यथावत् उत्तर दे रहा हूँ। प्रभो! माधव! सावधान होकर मेरी बात श्रवण करो ।। १७-१८ ।।

कश्चिद् विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः ।
आससाद द्विजं कंचिद् धर्माणामागतागमम् ।। १९ ।।
गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातार्थं सुखदुःखयोः ।। २० ।।
जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः ।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम् ।। २१ ।।

प्राचीन समयमें काश्यप नामके एक धर्मज्ञ और तपस्वी ब्राह्मण किसी सिद्ध महर्षिके पास गये; जो धर्मके विषयमें शास्त्रके सम्पूर्ण रहस्योंको जाननेवाले, भूत और भविष्यके ज्ञान-विज्ञानमें प्रवीण, लोक-तत्त्वके ज्ञानमें कुशल, सुख-दुःखके रहस्यको समझनेवाले, जन्म-मृत्युके तत्त्वज्ञ, पाप-पुण्यके ज्ञाता और ऊँच-नीच प्राणियोंको कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली गतिके प्रत्यक्ष द्रष्टा थे ।। १९—२१ ।।

चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम् ।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्मया क्रममाणं च सर्वशः ।। २२ ।।
अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः ।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह ।। २३ ।।
सम्भाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह ।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ।। २४ ।।

वे मुक्तकी भाँति विचरनेवाले, सिद्ध, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान, सर्वत्र घूमनेवाले और अन्तर्धान विद्याके ज्ञाता थे। अदृश्य रहनेवाले चक्रधारी सिद्धोंके साथ वे विचरते, बातचीत करते और उन्हींके साथ एकान्तमें बैठते थे। जैसे वायु कहीं आसक्त न होकर सर्वत्र प्रवाहित होती है, उसी तरह वे सर्वत्र अनासक्त भावसे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरा करते थे। महर्षि काश्यप उनकी उपर्युक्त महिमा सुनकर ही उनके पास गये थे ।। २२—२४ ।।

तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः ।
चरणौ धर्मकामोऽस्य तपस्वी सुसमाहितः ।
प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ।। २५ ।।
विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तद् द्विजोत्तमम् ।
परिचारेण महता गुरुं तं पर्यतोषयत् ।। २६ ।।
उपपन्नं च तत्सर्वं श्रुतचारित्रसंयुतम् ।
भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परंतपः ।। २७ ।।

निकट जाकर उन मेधावी, तपस्वी, धर्माभिलाषी और एकाग्रचित्त महर्षिने न्यायानुसार उन सिद्ध महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया। वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ और बड़े अद्भुत संत थे। उनमें सब प्रकारकी योग्यता थी। वे शास्त्रके ज्ञाता और सच्चरित्र थे। उनका दर्शन करके काश्यपको बड़ा विस्मय हुआ। वे उन्हें गुरु मानकर उनकी सेवामें लग गये और अपनी शुश्रूषा, गुरुभक्ति तथा श्रद्धाभावके द्वारा उन्होंने उन सिद्ध महात्माको संतुष्ट कर लिया ।। २५—२७ ।।

तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् ।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन ।। २८ ।।

जनार्दन! अपने शिष्य काश्यपके ऊपर प्रसन्न होकर उन सिद्ध महर्षिने परासिद्धिके सम्बन्धमें विचार करके जो उपदेश किया, उसे बताता हूँ, सुनो ।। २८ ।।

सिद्ध उवाच

विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः ।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थितिम् ।। २९ ।।

सिद्धने कहा—तात काश्यप! मनुष्य नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके केवल पुण्यके संयोगसे इस लोकमें उत्तम फल और देवलोकमें स्थान प्राप्त करते हैं ।। २९ ।।

न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः ।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः ।। ३० ।।

जीवको कहीं भी अत्यन्त सुख नहीं मिलता। किसी भी लोकमें वह सदा नहीं रहने पाता। तपस्या आदिके द्वारा कितने ही कष्ट सहकर बड़े-से-बड़े स्थानको क्यों न प्राप्त किया जाय, वहाँसे भी बार-बार नीचे आना ही पड़ता है ।। ३० ।।

अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् ।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च ।। ३१ ।।

मैंने काम-क्रोधसे युक्त और तृष्णासे मोहित होकर अनेक बार पाप किये हैं और उनके सेवनके फलस्वरूप घोर कष्ट देनेवाली अशुभ गतियोंको भोगा है ।। ३१ ।।

पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः ।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।। ३२ ।।

बार-बार जन्म और बार-बार मृत्युका क्लेश उठाया है। तरह-तरहके आहार ग्रहण किये और अनेक स्तनोंका दूध पीया है ।। ३२ ।।

मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः ।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयानघ ।। ३३ ।।

अनघ! बहुत-से पिता और भाँति-भाँतिकी माताएँ देखी हैं। विचित्र-विचित्र सुख-दुःखोंका अनुभव किया है ।।

प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह ।
धननाशश्च सम्प्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद् धनम् ।। ३४ ।।

कितनी ही बार मुझसे प्रियजनोंका वियोग और अप्रिय जनोंका संयोग हुआ है। जिस धनको मैंने बहुत कष्ट सहकर कमाया था, वह मेरे देखते-देखते नष्ट हो गया है ।। ३४ ।।

अवमानाः सुकष्टाश्च राजतः स्वजनात् तथा ।
शारीरा मानसा वापि वेदना भृशदारुणाः ।। ३५ ।।

राजा और स्वजनोंकी ओरसे मुझे कई बार बड़े-बड़े कष्ट और अपमान उठाने पड़े हैं। तन और मनकी अत्यन्त भयंकर वेदनाएँ सहनी पड़ी हैं ।। ३५ ।।

प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः ।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ।। ३६ ।।

मैंने अनेक बार घोर अपमान, प्राणदण्ड और कड़ी कैदकी सजाएँ भोगी हैं। मुझे नरकमें गिरना और यमलोकमें मिलनेवाली यातनाओंको सहना पड़ा है ।। ३६ ।।

जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः ।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया ।। ३७ ।।

इस लोकमें जन्म लेकर मैंने बारंबार बुढ़ापा, रोग, व्यसन और राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंके प्रचुर दुःख सदा ही भोगे हैं ।। ३७ ।।

ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च ।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ।। ३८ ।।

इस प्रकार बारंबार क्लेश उठानेसे एक दिन मेरे मनमें बड़ा खेद हुआ और मैं दुखोंसे घबराकर निराकार परमात्माकी शरण ली तथा समस्त लोकव्यवहारका परित्याग कर दिया ।। ३८ ।।

लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितः ।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ।। ३९ ।।

इस लोकमें अनुभवके पश्चात् मैंने इस मार्गका अवलम्बन किया है और अब परमात्माकी कृपासे मुझे यह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है ।। ३९ ।।

नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् ।
आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गताः शुभाः ।। ४० ।।

अब मैं पुनः इस संसारमें नहीं आऊँगा। जबतक यह सृष्टि कायम रहेगी और जबतक मेरी मुक्ति नहीं हो जायगी, तबतक मैं अपनी और दूसरे प्राणियोंकी शुभगतिका अवलोकन करूँगा ।। ४० ।।

उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा ।
इतः परं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः ।। ४१ ।।
ब्रह्मणः पदमव्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः ।
नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परंतप ।। ४२ ।।

द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार मुझे यह उत्तम सिद्धि मिली है। इसके बाद मैं उत्तम लोकमें जाऊँगा। फिर उससे भी परम उत्कृष्ट सत्यलोकमें जा पहुँचूँगा और क्रमशः अव्यक्त ब्रह्मपद (मोक्ष)-को प्राप्त कर लूँगा। इसमें तुम्हें संशय नहीं करना चाहिये। काम-क्रोध आदि शत्रुओंको संताप देनेवाले काश्यप! अब मैं पुनः इस मर्त्यलोकमें नहीं आऊँगा ।। ४१-४२ ।।

प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते ।

यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ।। ४३ ।।

महाप्राज्ञ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? तुम जिस वस्तुको पानेकी इच्छासे मेरे पास आये हो, उसके प्राप्त होनेका यह समय आ गया है ।। ४३ ।।

अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः ।
अचिरात् तु गमिष्यामि तेनाहं त्वामचूचुदम् ।। ४४ ।।

तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है, इसे मैं जानता हूँ और शीघ्र ही यहाँसे चला जाऊँगा। इसीलिये मैंने स्वयं तुम्हें प्रश्न करनेके लिये प्रेरित किया है ।। ४४ ।।

भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण ।
परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत् तवेप्सितम् ।। ४५ ।।

विद्वन्! तुम्हारे उत्तम आचरणसे मुझे बड़ा संतोष है। तुम अपने कल्याणकी बात पूछो। मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रश्नका उत्तर दूँगा ।। ४५ ।।

बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं सम्पूजयामि च ।
येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ।। ४६ ।।

काश्यप! मैं तुम्हारी बुद्धिकी सराहना करता और उसे बहुत आदर देता हूँ। तुमने मुझे पहचान लिया है, इसीसे कहता हूँ कि बड़े बुद्धिमान् हो ।। ४६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि षोडशोऽध्यायः ।। १६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १६ ।।

सप्तदशोऽध्यायः

काश्यपके प्रश्नोंके उत्तरमें सिद्ध महात्माद्वारा जीवकी विविध गतियोंका वर्णन

वासुदेव उवाच

ततस्तस्योपसंगृह्य पादौ प्रश्नान् सुदुर्वचान् ।
पप्रच्छ तांश्च धर्मान् स प्राह धर्मभृतां वरः ।। १ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ काश्यपने उन सिद्ध महात्माके दोनों पैर पकड़कर जिनका उत्तर कठिनाईसे दिया जा सके, ऐसे बहुत-से धर्मयुक्त प्रश्न पूछे ।। १ ।।

काश्यप उवाच

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते ।
कथं कष्टाच्च संसारात् संसरन् परिमुच्यते ।। २ ।।

काश्यपने पूछा—महात्मन्! यह शरीर किस प्रकार गिर जाता है? फिर दूसरा शरीर कैसे प्राप्त होता है? संसारी जीव किस तरह इस दुःखमय संसारसे मुक्त होता है? ।। २ ।।

आत्मा च प्रकृतिं मुक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति ।
शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत् प्रपद्यते ।। ३ ।।

जीवात्मा प्रकृति (मूल विद्या) और उससे उत्पन्न होनेवाले शरीरका कैसे त्याग करता है? और शरीरसे छूटकर दूसरेमें वह किस प्रकार प्रवेश करता है? ।। ३ ।।

कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः ।
उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते ।। ४ ।।

मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल कैसे भोगता है और शरीर न रहनेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं? ।। ४ ।।

ब्राह्मण उवाच

एवं संचोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान् प्रत्यभाषत ।
आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय तन्मे निगदतः शृणु ।। ५ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! काश्यपके इस प्रकार पूछनेपर सिद्ध महात्माने उनके प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देना आरम्भ किया। वह मैं बता रहा हूँ, सुनिये ।। ५ ।।

सिद्ध उवाच

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते ।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः ।। ६ ।।
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते ।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते ।। ७ ।।

सिद्धने कहा—काश्यप! मनुष्य इस लोकमें आयु और कीर्तिको बढ़ानेवाले जिन कर्मोंका सेवन करता है, वे शरीर-प्राप्तिमें कारण होते हैं। शरीर-ग्रहणके अनन्तर जब वे सभी कर्म अपना फल देकर क्षीण हो जाते हैं, उस समय जीवकी आयुका भी क्षय हो जाता है। उस अवस्थामें वह विपरीत कर्मोंका सेवन करने लगता है और विनाशकाल निकट आनेपर उसकी बुद्धि उलटी हो जाती है ।। ६-७ ।।

सत्त्वं बलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा ।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान् ।। ८ ।।

वह अपने सत्त्व (धैर्य), बल और अनुकूल समयको जानकर भी मनपर अधिकार न होनेके कारण असमयमें तथा अपनी प्रकृतिके विरुद्ध भोजन करता है ।। ८ ।।

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते ।
अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते कदाचन ।। ९ ।।

अत्यन्त हानि पहुँचानेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबका वह सेवन करता है। कभी तो बहुत अधिक खा लेता है, कभी बिलकुल ही भोजन नहीं करता है ।। ९ ।।

दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च ।
गुरु चाप्यमितं भुङ्क्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः ।। १० ।।

कभी दूषित खाद्य अन्न-पानको भी ग्रहण कर लेता है, कभी एक-दूसरेसे विरुद्ध गुणवाले पदार्थोंको एक साथ खा लेता है। किसी दिन गरिष्ठ अन्न और वह भी बहुत अधिक मात्रामें खा जाता है। कभी-कभी एक बारका खाया हुआ अन्न पचने भी नहीं पाता कि दुबारा भोजन कर लेता है ।। १० ।।

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते ।
सततं कर्मलोभाद् वा प्राप्तं वेगं विधारयेत् ।। ११ ।।

अधिक मात्रामें व्यायाम और स्त्री-सम्भोग करता है। सदा काम करनेके लोभसे मल-मूत्रके वेगको रोके रहता है ।। ११ ।।

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते ।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान् प्रकोपयेत् ।। १२ ।।

रसीला अन्न खाता और दिनमें सोता है तथा कभी-कभी खाये हुए अन्नके पचनेके पहले असमयमें भोजन करके स्वयं ही अपने शरीरमें स्थित वात-पित्त आदि दोषोंको कुपित कर देता है ।। १२ ।।

स्वदोषकोपनाद् रोगं लभते मरणान्तिकम् ।

अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ।। १३ ।।

उन दोषोंके कुपित होनेसे वह अपने लिये प्राणनाशक रोगोंको बुला लेता है। अथवा फाँसी लगाने या जलमें डूबने आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंका आश्रय लेता है ।। १३ ।।

तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा ।
जीवितं प्रोच्यमानं तद् यथावदुपधारय ।। १४ ।।

इन्हीं सब कारणोंसे जीवका शरीर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार जो जीवका जीवन बताया जाता है, उसे अच्छी तरह समझ लो ।। १४ ।।

ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ।
शरीरमनुपर्येत्य सर्वान् प्राणान् रुणद्धि वै ।। १५ ।।

शरीरमें तीव्र वायुसे प्रेरित हो पित्तका प्रकोप बढ़ जाता है और वह शरीरमें फैलकर समस्त प्राणोंकी गतिको रोक देता है ।। १५ ।।

अत्यर्थं बलवानूष्मा शरीरे परिकोपितः ।
भिनत्ति जीवस्थानानि मर्माणि विद्धि तत्त्वतः ।। १६ ।।

इस शरीरमें कुपित होकर अत्यन्त प्रबल हुआ पित्त जीवके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर देता है। इस बातको ठीक समझो ।। १६ ।।

ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरात् ।
शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु ।। १७ ।।

जब मर्मस्थान छिन्न-भिन्न होने लगते हैं, तब वेदनासे व्यथित हुआ जीव तत्काल इस जड शरीरसे निकल जाता है। उस शरीरको सदाके लिये त्याग देता है ।। १७ ।।

वेदनाभिः परीतात्मा तद् विद्धि द्विजसत्तम ।
जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः ।। १८ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मृत्युकालमें जीवका तन-मन वेदनासे व्यथित होता है, इस बातको भलीभाँति जान लो। इस तरह संसारके सभी प्राणी सदा जन्म और मरणसे उद्विग्न रहते हैं ।। १८ ।।

दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ ।
गर्भसंक्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे ।। १९ ।।
तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः ।
भिन्नसंधिरथ क्लेदमद्भिः स लभते नरः ।। २० ।।

विप्रवर! सभी जीव अपने शरीरोंका त्याग करते देखे जाते हैं। गर्भमें मनुष्य प्रवेश करते समय तथा गर्भसे नीचे गिरते समय भी वैसी ही वेदनाका अनुभव करता है। मृत्यु-कालमें जीवोंके शरीरकी सन्धियाँ टूटने लगती हैं और जन्मके समय वह गर्भस्थ जलसे भीगकर अत्यन्त व्याकुल हो उठता है ।। १९-२० ।।

यथा पञ्चसु भूतेषु सम्भूतत्वं नियच्छति ।

शैत्यात् प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः ।। २१ ।।
यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः ।
स गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणः ।। २२ ।।

अन्य प्रकारकी तीव्र वायुसे प्रेरित हो शरीरमें सर्दीसे कुपित हुई जो वायु पाँचों भूतोंमें प्राण और अपानके स्थानमें स्थित है, वही पञ्चभूतोंके संघातका नाश करती है तथा वह देहधारियोंको बड़े कष्टसे त्यागकर ऊर्ध्वलोकको चली जाती है ।। २१-२२ ।।

शरीरं च जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते ।
स निरूष्मा निरुच्छ्वासो निःश्रीको हतचेतनः ।। २३ ।।
ब्रह्मणा सम्परित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरैः ।

इस प्रकार जब जीव शरीरका त्याग करता है, तब प्राणियोंका शरीर उच्छ्वासहीन दिखायी देता है। उसमें गर्मी, उच्छ्वास, शोभा और चेतना कुछ भी नहीं रह जाती। इस तरह जीवात्मासे परित्यक्त उस शरीरको लोग मृत (मरा हुआ) कहते हैं ।। २३ $\frac{१}{२}$ ।।

स्रोतोभिर्यैर्विजानाति इन्द्रियार्थान् शरीरभृत् ।। २४ ।।
तैरेव न विजानाति प्राणानाहारसम्भवान् ।
तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः ।। २५ ।।

देहधारी जीव जिन इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस आदि विषयोंका अनुभव करता है, उनके द्वारा वह भोजनसे परिपुष्ट होनेवाले प्राणोंको नहीं जान पाता। इस शरीरके भीतर रहकर जो कार्य करता है, वह सनातन जीव है ।। २४-२५ ।।

तथा यद्यद् भवेद् युक्तं संनिपाते क्वचित् क्वचित् ।
तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्रदृष्टं हि तत् तथा ।। २६ ।।

कहीं-कहीं संधिस्थानोंमें जो-जो अंग संयुक्त होता है, उस-उसको तुम मर्म समझो; क्योंकि शास्त्रमें मर्मस्थानका ऐसा ही लक्षण देखा गया है ।। २६ ।।

तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन् ।
आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणद्धि वै ।। २७ ।।

उन मर्मस्थानों (संधियों)-के विलग होनेपर वायु ऊपरको उठती हुई प्राणीके हृदयमें प्रविष्ट हो शीघ्र ही उसकी बुद्धिको अवरुद्ध कर लेती है ।। २७ ।।

ततः सचेतनो जन्तुर्नाभिजानाति किंचन ।
तमसा संवृतज्ञानः संवृतेष्वेव मर्मसु ।
स जीवो निरधिष्ठानश्चाल्यते मातरिश्वना ।। २८ ।।

तब अन्तकाल उपस्थित होनेपर प्राणी सचेतन होनेपर भी कुछ समझ नहीं पाता; क्योंकि तम (अविद्या)-के द्वारा उसकी ज्ञानशक्ति आवृत्त हो जाती है। मर्मस्थान भी अवरुद्ध हो जाते हैं। उस समय जीवके लिये कोई आधार नहीं रह जाता और वायु उसे अपने स्थानसे विचलित कर देती है ।। २८ ।।

ततः स तं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम् ।
निष्क्रामन् कम्पयत्याशु तच्छरीरमचेतनम् ।। २९ ।।

तब वह जीवात्मा बारंबार भयंकर एवं लंबी साँस छोड़कर बाहर निकलने लगता है। उस समय सहसा इस जड शरीरको कम्पित कर देता है ।। २९ ।।

स जीवः प्रच्युतः कायात् कर्मभिः स्वैः समावृतः ।
अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाप्युपपद्यते ।। ३० ।।

शरीरसे अलग होनेपर वह जीव अपने किये हुए शुभकार्य पुण्य अथवा अशुभ कार्य पापकर्मोंद्वारा सब ओरसे घिरा रहता है ।। ३० ।।

ब्राह्मणा ज्ञानसम्पन्ना यथावच्छ्रुतनिश्चयाः ।
इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः ।। ३१ ।।

जिन्होंने वेद-शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका यथावत् अध्ययन किया है, वे ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मण लक्षणोंके द्वारा यह जान लेते हैं कि अमुक जीव पुण्यात्मा रहा है और अमुक जीव पापी ।। ३१ ।।

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः ।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः ।। ३२ ।।
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा ।
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम् ।। ३३ ।।

जिस तरह आँखवाले मनुष्य अँधेरेमें इधर-उधर उगते-बुझते हुए खद्योतको देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-नेत्रवाले सिद्ध पुरुष अपनी दिव्य दृष्टिसे जन्मते, मरते तथा गर्भमें प्रवेश करते हुए जीवको सदा देखते रहते हैं ।। ३२-३३ ।।

तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः ।
कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः ।। ३४ ।।

शास्त्रके अनुसार जीवके तीन प्रकारके स्थान देखे गये हैं (मृत्युलोक, स्वर्गलोक और नरक)। यह मर्त्यलोककी भूमि जहाँ बहुत-से प्राणी रहते हैं, कर्मभूमि कहलाती है ।। ३४ ।।

ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः ।
इहैवोच्चावचान् भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः ।। ३५ ।।

अतः यहाँ शुभ और अशुभ कर्म करके सब मनुष्य उसके फलस्वरूप अपने कर्मोंके अनुसार अच्छे-बुरे भोग प्राप्त करते हैं ।। ३५ ।।

इहैवाशुभकर्माणः कर्मभिर्निरयं गताः ।
अवाग्गतिरियं कष्टा यत्र पच्यन्ति मानवाः ।
तस्मात् सुदुर्लभो मोक्षो रक्ष्यश्चात्मा ततो भृशम् ।। ३६ ।।

यहीं पाप करनेवाले मानव अपने कर्मोंके अनुसार नरकमें पड़ते हैं। यह जीवकी अधोगति है जो घोर कष्ट देनेवाली है। इसमें पड़कर पापी मनुष्य नरकाग्निमें पकाये जाते

हैं। उससे छुटकारा मिलना बहुत कठिन है। अतः (पापकर्मसे दूर रहकर) अपनेको नरकसे बचाये रखनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये ।। ३६ ।।

ऊर्ध्वं तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः ।
कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः संनिबोध मे ।। ३७ ।।

स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोकोंमें जाकर प्राणी जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, उनका यहाँ वर्णन किया जाता है, इस विषयको यथार्थरूपसे मुझसे सुनो ।। ३७ ।।

नच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुद्धयेथाः कर्मनिश्चयम् ।
तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतच्चन्द्रमण्डलम् ।। ३८ ।।
यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम् ।
स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम् ।। ३९ ।।

इसको सुननेसे तुम्हें कर्मोंकी गतिका निश्चय हो जायगा और नैष्ठिकी बुद्धि प्राप्त होगी। जहाँ ये समस्त तारे हैं, जहाँ वह चन्द्रमण्डल प्रकाशित होता है और जहाँ सूर्यमण्डल जगत्में अपनी प्रभासे उद्भासित हो रहा है, ये सब-के-सब पुण्यकर्मा पुरुषोंके स्थान हैं, ऐसा जानो [पुण्यात्मा मुनष्य उन्हीं लोकोंमें जाकर अपने पुण्योंका फल भोगते हैं] ।। ३८-३९ ।।

कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः ।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः ।। ४० ।।

जब जीवोंके पुण्यकर्मोंका भोग समाप्त हो जाता है, तब वे वहाँसे नीचे गिरते हैं। इस प्रकार बारंबार उनका आवागमन होता रहता है। स्वर्गमें भी उत्तम, मध्यम और अधमका भेद रहता है ।। ४० ।।

न च तत्रापि संतोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम् ।
इत्येता गतयः सर्वाः पृथक्ते समुदीरिताः ।। ४१ ।।

वहाँ भी दूसरोंका अपनेसे बहुत अधिक दीप्तिमान् तेज एवं ऐश्वर्य देखकर मनमें संतोष नहीं होता है। इस प्रकार जीवकी इन सभी गतियोंका मैंने तुम्हारे समक्ष पृथक्-पृथक् वर्णन किया है ।। ४१ ।।

उपपत्तिं तु वक्ष्यामि गर्भस्याहमतः परम् ।
तथा तन्मे निगदतः शृणुष्वावहितो द्विज ।। ४२ ।।

अब मैं यह बतलाऊँगा कि जीव किस प्रकार गर्भमें आकर जन्म धारण करता है। ब्रह्मन्! तुम एकाग्रचित्त होकर मेरे मुखसे इस विषयका वर्णन सुनो ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १७ ।।

अष्टादशोऽध्यायः

जीवके गर्भ-प्रवेश, आचार-धर्म, कर्म-फलकी अनिवार्यता तथा संसारसे तरनेके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् ।
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा ।। १ ।।

सिद्ध ब्राह्मण बोले—काश्यप! इस लोकमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंका फल भोगे बिना नाश नहीं होता। वे कर्म वैसा-वैसा कर्मानुसार एकके बाद एक शरीर धारण कराकर अपना फल देते रहते हैं ।। १ ।।

यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात् फलं बहु ।
तथा स्याद् विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ।। २ ।।

जैसे फल देनेवाला वृक्ष फलनेका समय आनेपर बहुत-से फल प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध हृदयसे किये हुए पुण्यका फल अधिक होता है ।। २ ।।

पापं चापि तथैव स्यात् पापेन मनसा कृतम् ।
पुरोधाय मनो हीदं कर्मण्यात्मा प्रवर्तते ।। ३ ।।

इसी तरह कलुषित चित्तसे किये हुए पापके फलमें भी वृद्धि होती है; क्योंकि जीवात्मा मनको आगे करके ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होता है ।। ३ ।।

यथा कर्मसमाविष्टः काममन्युसमावृतः ।
नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि शृणु चोत्तरम् ।। ४ ।।

काम-क्रोधसे घिरा हुआ मनुष्य जिस प्रकार कर्मजालमें आबद्ध होकर गर्भमें प्रवेश करता है, उसका भी उत्तर सुनो ।। ४ ।।

शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम् ।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाशुभम् ।। ५ ।।

जीव पहले पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होता है, फिर स्त्रीके गर्भाशयमें जाकर उसके रजमें मिल जाता है। तत्पश्चात् उसे कर्मानुसार शुभ या अशुभ शरीरकी प्राप्ति होती है ।। ५ ।।

सौक्ष्म्यादव्यक्तभावाच्च न च क्वचन सज्जति ।
सम्प्राप्य ब्राह्मणः कामं तस्मात् तद् ब्रह्म शाश्वतम् ।। ६ ।।

जीव अपनी इच्छाके अनुसार उस शरीरमें प्रवेश करके सूक्ष्म और अव्यक्त होनेके कारण कहीं आसक्त नहीं होता है; क्योंकि वास्तवमें वह सनातन परब्रह्म-स्वरूप है ।। ६ ।।

तद् बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः ।

स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः ।। ७ ।।
दधाति चेतसा सद्यः प्राणस्थानेष्ववस्थितः ।
ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि स गर्भश्चेतनान्वितः ।। ८ ।।

वह जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंकी स्थितिका हेतु है, क्योंकि उसीके द्वारा सब प्राणी जीवित रहते हैं। वह जीव गर्भके समस्त अंगमें प्रविष्ट हो उसके प्रत्येक अंशमें तत्काल चेतनता ला देता है और वही प्राणोंके स्थान—वक्षःस्थलमें स्थित हो समस्त अंगोंका संचालन करता है। तभी वह गर्भ चेतनासे सम्पन्न होता है ।। ७-८ ।।

यथा लोहस्य निःस्यन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम् ।
उपैति तद् विजानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् ।। ९ ।।

जैसे तपाये हुए लोहेका द्रव जैसे साँचेमें ढाला जाता है उसीका रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है, ऐसा समझो (अर्थात् जीव जिस प्रकारकी योनिमें प्रविष्ट होता है, उसी रूपमें उसका शरीर बन जाता है) ।। ९ ।।

लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत् ।
तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम् ।। १० ।।

जैसे आग लोहपिण्डमें प्रविष्ट होकर उसे बहुत तपा देती है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है और वह उसमें चेतनता ला देता है। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो ।। १० ।।

यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते ।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना ।। ११ ।।

जिस प्रकार जलता हुआ दीपक समूचे घरमें प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जीवकी चैतन्य शक्ति शरीरके सब अवयवोंको प्रकाशित करती है ।। ११ ।।

यद् यच्च कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम् ।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते ।। १२ ।।

मनुष्य शुभ अथवा अशुभ जो-जो कर्म करता है, पूर्व-जन्मके शरीरसे किये गये उन सब कर्मोंका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है ।। १२ ।।

ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत् प्रचीयते ।
यावत् तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवावबुध्यते ।। १३ ।।

उपभोगसे प्राचीन कर्मका तो क्षय होता है और फिर दूसरे नये-नये कर्मोंका संचय बढ़ जाता है। जबतक मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक धर्मका उसे ज्ञान नहीं होता, तबतक यह कर्मोंकी परम्परा नहीं टूटती है ।। १३ ।।

तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै ।
आवर्तमानो जातीषु यथान्योन्यासु सत्तम ।। १४ ।।

साधुशिरोमणे! इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव जिनके अनुष्ठानसे सुखी होता है, उन कर्मोंका वर्णन सुनो ।। १४ ।।

दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम् ।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम् ।। १५ ।।
संयमाश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम्
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि ।। १६ ।।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम् ।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः ।। १७ ।।
प्रवर्तनं शुभानां च तत् सतां वृत्तमुच्यते ।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वतीः ।। १८ ।।

दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रोक्त रीतिसे वेदाध्ययन, इन्द्रियनिग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता, दूसरोंके धन लेनेकी इच्छाका त्याग, संसारके प्राणियोंका मनसे भी अहित न करना, माता-पिताकी सेवा, देवता, अतिथि और गुरुओंकी पूजा, दया, पवित्रता, इन्द्रियोंको सदा काबूमें रखना तथा शुभ कर्मोंका प्रचार करना—यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका बर्ताव कहलाता है। इनके अनुष्ठानसे धर्म होता है, जो सदा प्रजावर्गकी रक्षा करता है ।। १५—१८ ।।

एवं सत्सु सदा पश्येत् तत्राप्येषा ध्रुवा स्थितिः ।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिन् शान्ता व्यवस्थिताः ।। १९ ।।

सत्पुरुषोंमें सदा ही इस प्रकारका धार्मिक आचरण देखा जाता है। उन्हींमें धर्मकी अटल स्थिति होती है। सदाचार ही धर्मका परिचय देता है। शान्तचित्त महात्मा पुरुष सदाचारमें ही स्थित रहते हैं ।। १९ ।।

तेषु तत् कर्म निक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः ।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात् ।। २० ।।

उन्हींमें पूर्वोक्त दान आदि कर्मोंकी स्थिति है। वे ही कर्म सनातन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो उस सनातन धर्मका आश्रय लेता है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती है ।। २० ।।

अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन् धर्मवर्त्मसु ।
यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ।। २१ ।।

इसीलिये धर्ममार्गसे भ्रष्ट होनेवाले लोगोंका नियन्त्रण किया जाता है। जो योगी और मुक्त है, वह अन्य धर्मात्माओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है ।। २१ ।।

वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा ।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत् ।। २२ ।।

जो धर्मके अनुसार बर्ताव करता है, वह जहाँ जिस अवस्थामें हो, वहाँ उसी स्थितिमें उसको अपने कर्मानुसार उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और वह धीरे-धीरे अधिक काल बीतनेपर संसार-सागरसे तर जाता है ।।

एवं पूर्वकृतं कर्म नित्यं जन्तुः प्रपद्यते ।
सर्वं तत्कारणं येन विकृतोऽयमिहागतः ।। २३ ।।

इस प्रकार जीव सदा अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंका फल भोगता है। यह आत्मा निर्विकार ब्रह्म होनेपर भी विकृत होकर इस जगत्में जो जन्म धारण करता है, उसमें कर्म ही कारण है ।। २३ ।।

शरीरग्रहणं चास्य केन पूर्वं प्रकल्पितम् ।
इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतः परम् ।। २४ ।।

आत्माके शरीर धारण करनेकी प्रथा सबसे पहले किसने चलायी है, इस प्रकारका संदेह प्रायः लोगोंके मनमें उठा करता है, अतः उसीका उत्तर दे रहा हूँ ।। २४ ।।

शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वलोकपितामहः ।
त्रैलोक्यमसृजद् ब्रह्मा कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ।। २५ ।।

सम्पूर्ण जगत्के पितामह ब्रह्माजीने सबसे पहले स्वयं ही शरीर धारण करके स्थावर-जंगमरूप समस्त त्रिलोकीकी (कर्मानुसार) रचना की ।। २५ ।।

ततः प्रधानमसृजत् प्रकृतिं स शरीरिणाम् ।
यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः ।। २६ ।।

उन्होंने प्रधान नामक तत्त्वकी उत्पत्ति की, जो देहधारी जीवोंकी प्रकृति कहलाती है। जिसने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है तथा लोकमें जिसे मूल प्रकृतिके नामसे जानते हैं ।। २६ ।।

इदं तत्क्षरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम् ।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक् पृथक् ।। २७ ।।

यह प्राकृत जगत् क्षर कहलाता है, इससे भिन्न अविनाशी जीवात्माको अक्षर कहते हैं। (इनसे विलक्षण शुद्ध परब्रह्म हैं)—इन तीनोंमेंसे जो दो तत्त्व—क्षर और अक्षर हैं, वे सब प्रत्येक जीवके लिये पृथक्-पृथक् होते हैं ।।

असृजत् सर्वभूतानि पूर्वदृष्टः प्रजापतिः ।
स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः ।। २८ ।।

श्रुतिमें जो सृष्टिके आरम्भमें सत्रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं, उन प्रजापतिने समस्त स्थावर भूतों और जंगम प्राणियोंकी सृष्टि की है, यह पुरातन श्रुति है ।। २८ ।।

तस्य कालपरीमाणमकरोत् स पितामहः ।
भूतेषु परिवृत्तिं च पुनरावृत्तिमेव च ।। २९ ।।

पितामहने जीवके लिये नियत समयतक शरीर धारण किये रहनेकी, भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेकी और परलोकसे लौटकर फिर इस लोकमें जन्म लेने आदिकी भी व्यवस्था की है ।। २९ ।।

यथात्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि ।
यत् प्रवक्ष्यामि तत् सर्वं यथावदुपपद्यते ।। ३० ।।

जिसने पूर्वजन्ममें अपने आत्माका साक्षात्कार कर लिया हो, ऐसा कोई मेधावी अधिकारी पुरुष संसारकी अनित्यताके विषयमें जैसी बात कह सकता है, वैसी ही मैं भी कहूँगा। मेरी कही हुई सारी बातें यथार्थ और संगत होंगी ।। ३० ।।

सुखदुःखे यथा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति ।
कायं चामेध्यसंघातं विनाशं कर्मसंहितम् ।। ३१ ।।
यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ।। ३२ ।।

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको अनित्य समझता है, शरीरको अपवित्र वस्तुओंका समूह समझता है और मृत्युको कर्मका फल समझता है तथा सुखके रूपमें प्रतीत होनेवाला जो कुछ भी है वह सब दुःख-ही-दुःख है, ऐसा मानता है, वह घोर एवं दुस्तर संसार-सागरसे पार हो जायगा ।। ३१-३२ ।।

जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित् ।
चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति ।। ३३ ।।
निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् ।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ।। ३४ ।।

जन्म, मृत्यु एवं रोगोंसे घिरा हुआ जो पुरुष प्रधान तत्त्व (प्रकृति)-को जानता है और समस्त चेतन प्राणियोंमें चैतन्यको समानरूपसे व्याप्त देखता है, वह पूर्ण परमपदके अनुसंधानमें संलग्न हो जगत्‌के भोगोंसे विरक्त हो जाता है। साधुशिरोमणे! उस वैराग्यवान् पुरुषके लिये जो हितकर उपदेश है, उसका मैं यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा ।।

शाश्वतस्याव्ययस्याथ यदस्य ज्ञानमुत्तमम् ।
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ।। ३५ ।।

उसके लिये जो सनातन अविनाशी परमात्माका उत्तम ज्ञान अभीष्ट है, उसका मैं वर्णन करता हूँ। विप्रवर! तुम सारी बातोंको ध्यान देकर सुनो ।। ३५ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अट्ठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १८ ।।

एकोनविंशोऽध्यायः

गुरु-शिष्यके संवादमें मोक्षप्राप्तिके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद् भवेत् ।। १ ।।

सिद्ध ब्राह्मणने कहा—काश्यप! जो मनुष्य (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमेंसे क्रमशः) पूर्व-पूर्वका अभिमान त्यागकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता और मौनभावसे रहकर सबके एकमात्र अधिष्ठान—परब्रह्म परमात्मामें लीन रहता है, वही संसार-वन्धनसे मुक्त होता है ।। १ ।।

सर्वमित्रः सर्वंसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः ।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः ।। २ ।।

जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, मनोनिग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।। २ ।।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः ।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ।। ३ ।।

जो नियमपरायण और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं है तथा जो अभिमानसे दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है ।। ३ ।।

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च ।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ।। ४ ।।

जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंको समभावसे देखता है, वह मुक्त हो जाता है ।। ४ ।।

न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किंचन ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ।। ५ ।।

जो किसीके द्रव्यका लोभ नहीं रखता, किसीकी अवहेलना नहीं करता, जिसके मनपर द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता और जिसके चित्तकी आसक्ति दूर हो गयी है, वह सर्वथा मुक्त ही है ।। ५ ।।

अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित् ।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते ।। ६ ।।

जो किसीको अपना मित्र, बन्धु या संतान नहीं मानता, जिसने सकाम धर्म, अर्थ और कामका त्याग कर दिया है तथा जो सब प्रकारकी आकांक्षाओंसे रहित है, वह मुक्त हो

जाता है ।। ६ ।।

नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः ।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते ।। ७ ।।

जिसकी न धर्ममें आसक्ति है न अधर्ममें, जो पूर्वसंचित कर्मोंको त्याग चुका है, वासनाओंका क्षय हो जानेसे जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है ।। ७ ।।

अकर्मवान् विकाङ्‌क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम् ।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ।। ८ ।।
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः ।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ।। ९ ।।

जो किसी भी कर्मका कर्ता नहीं बनता, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो इस जगत्‌को अश्वत्थके समान अनित्य—कलतक न टिक सकनेवाला समझता है तथा जो सदा इसे जन्म, मृत्यु और जरासे युक्त जानता है, जिसकी बुद्धि वैराग्यमें लगी रहती है और जो निरन्तर अपने दोषोंपर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र ही अपने बन्धनका नाश कर देता है ।। ८-९ ।।

अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् ।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वाऽऽत्मानं विमुच्यते ।। १० ।।

जो आत्माको गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह, रूपसे रहित तथा अज्ञेय मानता है, वह मुक्त हो जाता है ।। १० ।।

पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदहेतुकम् ।
अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते ।। ११ ।।

जिसकी दृष्टिमें आत्मा पाञ्चभौतिक गुणोंसे हीन, निराकार, कारणरहित तथा निर्गुण होते हुए भी (मायाके सम्बन्धसे) गुणोंका भोक्ता है, वह मुक्त हो जाता है ।। ११ ।।

विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्‌ध्या शारीरमानसान् ।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः ।। १२ ।।

जो बुद्धिसे विचार करके शारीरिक और मानसिक सब संकल्पोंका त्याग कर देता है, वह बिना ईंधनकी आगके समान धीरे-धीरे शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।। १२ ।।

सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ।। १३ ।।

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे रहित, द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित हो गया है तथा जो तपस्याके द्वारा इन्द्रिय-समूहको अपने वशमें करके (अनासक्त) भावसे विचरता है, वह मुक्त ही है ।। १३ ।।

विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् ।

परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम् ।। १४ ।।

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे मुक्त होता है, वह मनुष्य शान्त, अचल, नित्य, अविनाशी एवं सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है ।। १४ ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् ।
युञ्जन्तः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः ।। १५ ।।

अब मैं उस परम उत्तम योगशास्त्रका वर्णन करूँगा, जिसके अनुसार योग-साधन करनेवाले योगी पुरुष अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं ।। १५ ।।

तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत् तन्निबोध मे ।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ।। १६ ।।

मैं उसका यथावत् उपदेश करता हूँ। मनोनिग्रहके जिन उपायोंद्वारा चित्तको इस शरीरके भीतर ही वशीभूत एवं अन्तर्मुख करके योगी अपने नित्य आत्माका दर्शन करता है, उन्हें मुझसे श्रवण करो ।। १६ ।।

इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ।। १७ ।।

इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर मनमें और मनको आत्मामें स्थापित करे। इस प्रकार पहले तीव्र तपस्या करके फिर मोक्षोपयोगी उपायका अवलम्बन करना चाहिये ।। १७ ।।

तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् ।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि ।। १८ ।।

मनीषी ब्राह्मणको चाहिये कि वह सदा तपस्यामें प्रवृत्त एवं यत्नशील होकर योगशास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करे। इससे वह मनके द्वारा अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार करता है ।। १८ ।।

स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि ।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ।। १९ ।।

एकान्तमें रहनेवाला साधक पुरुष यदि अपने मनको आत्मामें लगाये रखनेमें सफल हो जाता है तो वह अवश्य ही अपनेमें आत्माका दर्शन करता है ।। १९ ।।

संयतः सततं युक्त आत्मवान् विजितेन्द्रियः ।
तथा य आत्मनाऽऽत्मानं सम्प्रयुक्तः प्रपश्यति ।। २० ।।

जो साधक सदा संयमपरायण, योगयुक्त, मनको वशमें करनेवाला और जितेन्द्रिय है, वही आत्मासे प्रेरित होकर बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात्कार कर सकता है ।।

यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति ।
तथा रूपमिवात्मानं साधुयुक्तः प्रपश्यति ।। २१ ।।

जैसे मनुष्य सपनेमें किसी अपरिचित पुरुषको देखकर जब पुनः उसे जाग्रत् अवस्थामें देखता है, तब तुरंत पहचान लेता है कि 'यह वही है।' उसी प्रकार साधन-परायण योगी समाधि-अवस्थामें आत्माको जिस रूपमें देखता है, उसी रूपमें उसके बाद भी देखता रहता है ।।

इषीकां च यथा मुञ्जात् कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत् ।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः ।। २२ ।।

जैसे कोई मनुष्य मूँजसे सींकको अलग करके दिखा दे, वैसे ही योगी पुरुष आत्माको इस देहसे पृथक् करके देखता है ।। २२ ।।

मुञ्जं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनि श्रिताम् ।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् ।। २३ ।।

यहाँ शरीरको मूँज कहा गया है और आत्माको सींक। योगवेत्ताओंने देह और आत्माके पार्थक्यको समझनेके लिये यह बहुत उत्तम दृष्टान्त दिया है ।। २३ ।।

यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत् ।
न तस्येहेश्वरः कश्चित् त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः ।। २४ ।।

देहधारी जीव जब योगके द्वारा आत्माका यथार्थ-रूपसे दर्शन कर लेता है, उस समय उसके ऊपर त्रिभुवनके अधीश्वरका भी आधिपत्य नहीं रहता ।। २४ ।।

अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते ।
विनिवृत्य जरां मृत्युं न शोचति न हृष्यति ।। २५ ।।

वह योगी अपनी इच्छाके अनुसार विभिन्न प्रकारके शरीर धारण कर सकता है, बुढ़ापा और मृत्युको भी भगा देता है, वह न कभी शोक करता है न हर्ष ।। २५ ।।

देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी ।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम् ।। २६ ।।

अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला योगी पुरुष देवताओंका भी देवता हो सकता है। वह इस अनित्य शरीरका त्याग करके अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त होता है ।। २६ ।।

विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते ।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित् ।। २७ ।।

सम्पूर्ण प्राणियोंका विनाश होनेपर भी उसे भय नहीं होता। सबके क्लेश उठानेपर भी उसको किसीसे क्लेश नहीं पहुँचता ।। २७ ।।

दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः ।
न विचाल्यति युक्तात्मा निःस्पृहः शान्तमानसः ।। २८ ।।

शान्ताचित्त एवं निःस्पृह योगी आसक्ति और स्नेहसे प्राप्त होनेवाले भयंकर दुःख-शोक तथा भयसे विचलित नहीं होता ।। २८ ।।

नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते ।

नातः सुखतरं किंचिल्लोके क्वचन दृश्यते ।। २९ ।।

उसे शस्त्र नहीं बींध सकते, मृत्यु उसके पास नहीं पहुँच पाती, संसारमें उससे बढ़कर सुखी कहीं कोई नहीं दिखायी देता ।। २९ ।।

सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते ।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ।। ३० ।।

वह मनको आत्मामें लीन करके उसीमें स्थित हो जाता है तथा बुढ़ापाके दुःखोंसे छुटकारा पाकर सुखसे सोता—अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ।। ३० ।।

देहान्यथेष्टमभ्येति हित्वेमां मानुषीं तनुम् ।
निर्वेदस्तु न कर्तव्यो भुञ्जानेन कथंचन ।। ३१ ।।

वह इस मानव-शरीरका त्याग करके इच्छानुसार दूसरे बहुत-से शरीर धारण करता है। योगजनित ऐश्वर्यका उपभोग करनेवाले योगीको योगसे किसी तरह विरक्त नहीं होना चाहिये ।। ३१ ।।

सम्यग्युक्तो यदाऽऽत्मानमात्मन्येव प्रपश्यति ।
तदैव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः ।। ३२ ।।

अच्छी तरह योगका अभ्यास करके जब योगी अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करने लगता है, उस समय वह साक्षात् इन्द्रके पदको भी पानेकी इच्छा नहीं करता है ।। ३२ ।।

योगमेकान्तशीलस्तु यथा विन्दति तच्छृणु ।
दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन् संनिवसेत् पुरे ।। ३३ ।।
पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनः स्थाप्यं न बाह्यतः।

एकान्तमें ध्यान करनेवाले पुरुषको जिस प्रकार योगकी प्राप्ति होती है, वह सुनो—जो उपदेश पहले श्रुतिमें देखा गया है, उसका चिन्तन करके जिस भागमें जीवका निवास माना गया है, उसीमें मनको भी स्थापित करे। उसके बाहर कदापि न जाने दे ।। ३३½ ।।

पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन् यस्मिन्नावसथे वसेत् ।
तस्मिन्नावसथे धार्यं सबाह्याभ्यन्तरं मनः ।। ३४ ।।

शरीरके भीतर रहते हुए वह आत्मा जिस आश्रयमें स्थित होता है, उसीमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसहित मनको धारण करे ।। ३४ ।।

प्रचिन्त्यावसथे कृत्स्नं यस्मिन् काले स पश्यति ।
तस्मिन् काले मनश्चास्य न च किंचन बाह्यतः ।। ३५ ।।

मूलाधार आदि किसी आश्रयमें चिन्तन करके जब वह सर्वस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है, उस समय उसका मन प्रत्यक्स्वरूप आत्मासे भिन्न कोई ‘बाह्य’ वस्तु नहीं रह जाता ।। ३५ ।।

संनियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषं निर्जने वने ।
कायमभ्यन्तरं कृत्स्नमेकाग्रः परिचिन्तयेत् ।। ३६ ।।

निर्जन वनमें इन्द्रिय-समुदायको वशमें करके एकाग्रचित्त हो शब्दशून्य अपने शरीरके बाहर और भीतर प्रत्येक अंगमें परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करे ।। ३६ ।।

दन्तांस्तालु च जिह्वां च गलं ग्रीवां तथैव च ।
हृदयं चिन्तयेच्चापि तथा हृदयबन्धनम् ।। ३७ ।।

दन्त, तालु, जिह्वा, गला, ग्रीवा, हृदय तथा हृदय-बन्धन (नाड़ीमार्ग)-को भी परमात्मरूपसे चिन्तन करे ।। ३७ ।।

इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन ।
पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम् ।। ३८ ।।

मधुसूदन! मेरे ऐसा कहनेपर उस मेधावी शिष्यने पुनः जिसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है, उस मोक्षधर्मके विषयमें पूछा— ।। ३८ ।।

भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथमन्नं विपच्यते ।
कथं रसत्वं व्रजति शोणितत्वं कथं पुनः ।। ३९ ।।

'यह बारंबार खाया हुआ अन्न उदरमें पहुँचकर कैसे पचता है? किस तरह उसका रस बनता है और किस प्रकार वह रक्तके रूपमें परिणत हो जाता है? ।। ३९ ।।

तथा मांसं च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च योषिति ।
कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम् ।। ४० ।।
वर्धते वर्धमानस्य वर्धते च कथं बलम् ।
निरोधानां निर्गमनं मलानां च पृथक् पृथक् ।। ४१ ।।

'स्त्री-शरीरमें मांस, मेदा, स्नायु और हड्डियाँ कैसे होती हैं? देहधारियोंके ये समस्त शरीर कैसे बढ़ते हैं? बढ़ते हुए शरीरका बल कैसे बढ़ता है? जिनका सब ओरसे अवरोध है, उन मलोंका पृथक्-पृथक् निःसारण कैसे होता है? ।। ४०-४१ ।।

कुतो वायं प्रश्वसिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः ।
कं च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्मायमात्मनि ।। ४२ ।।

'यह जीव कैसे साँस लेता, कैसे उच्छ्वास खींचता और किस स्थानमें रहकर इस शरीरमें सदा विद्यमान रहता है? ।। ४२ ।।

जीवः कथं वहति च चेष्टमानः कलेवरम् ।
किं वर्णं कीदृशं चैव निवेशयति वै पुनः ।। ४३ ।।
याथातथ्येन भगवन् वक्तुमर्हसि मेऽनघ ।

'चेष्टाशील जीवात्मा इस शरीरका भार कैसे वहन करता है? फिर कैसे और किस रंगके शरीरको धारण करता है। निष्पाप भगवन्! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताइये' ।। ४३½ ।।

इति सम्परिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव ।। ४४ ।।
प्रत्यब्रुवं महाबाहो यथाश्रुतमरिंदम ।

शत्रुदमन महाबाहु माधव! उस ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर मैंने जैसा सुना था वैसा ही उसे बताया ।। ४४½ ।।

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत् ।। ४५ ।।
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः ।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत् ।। ४६ ।।

जैसे घरका सामान अपने कोटेमें डालकर भी मनुष्य उन्हींके चिन्तनमें मन लगाये रहता है, उसी प्रकार इन्द्रियरूपी चंचल द्वारोंसे विचरनेवाले मनको अपनी कायामें ही स्थापित करके वहीं आत्माका अनुसंधान करे और प्रमादको त्याग दे ।। ४५-४६ ।।

एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा नचिरादिव ।
आसादयति तद् ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित् ।। ४७ ।।

इस प्रकार सदा ध्यानके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषका चित्त शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और वह उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है, जिसका साक्षात्कार करके मनुष्य प्रकृति एवं उसके विकारोंको स्वतः जान लेता है ।। ४७ ।।

न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते ।। ४८ ।।

उस परमात्माका इन चर्म-चक्षुओंसे दर्शन नहीं हो सकता, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिरूपी दीपककी सहायतासे ही उस महान् आत्माका दर्शन होता है ।। ४८ ।।

सर्वतःपाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। ४९ ।।

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ।। ४९ ।।

जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात् सम्प्रपश्यति ।
स तमुत्सृज्य देहे स्वं धारयन् ब्रह्म केवलम् ।। ५० ।।
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव ।
तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि ।। ५१ ।।

तत्त्वज्ञ जीव अपने-आपको शरीरसे पृथक् देखता है। वह शरीरके भीतर रहकर भी उसका त्याग करे—उसकी पृथक्ताका अनुभव करके अपने स्वरूपभूत केवल परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करता हुआ बुद्धिके सहयोगसे आत्माका साक्षात्कार करता है। उस समय वह यह सोचकर हँसता-सा रहता है कि अहो! मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मुझमें ही प्रतीत होनेवाले इस संसारने मुझे अबतक व्यर्थ ही भ्रममें डाल रखा था। जो इस प्रकार परमात्माका दर्शन करता है, वह उसीका आश्रय लेकर अन्तमें मुझमें ही मुक्त हो जाता है (अर्थात् अपने-आपमें ही परमात्माका अनुभव करने लगता है) ।। ५०-५१ ।।

इदं सर्वरहस्यं ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम् ।। ५२ ।।

द्विजश्रेष्ठ! यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया। अब मैं जानेकी अनुमति चाहता हूँ। विप्रवर! तुम भी सुखपूर्वक अपने स्थानको लौट जाओ ।। ५२ ।।

इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः ।
अगच्छत यथाकामं ब्राह्मणः संशितव्रतः ।। ५३ ।।

श्रीकृष्ण! मेरे इस प्रकार कहनेपर वह कठोर व्रतका पालन करनेवाला मेरा महातपस्वी शिष्य ब्राह्मण काश्यप इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चला गया ।। ५३ ।।

वासुदेव उवाच

इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसत्तमः ।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत ।। ५४ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—अर्जुन! मोक्षधर्मका आश्रय लेनेवाले वे सिद्धमहात्मा श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझसे यह प्रसंग सुनाकर वहीं अन्तर्धान हो गये ।। ५४ ।।

कच्चिदेतत् त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा ।
तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि ।। ५५ ।।

पार्थ! क्या तुमने मेरे बताये हुए इस उपदेशको एकाग्रचित्त होकर सुना है? उस युद्धके समय भी तुमने रथपर बैठे-बैठे इसी तत्त्वको सुना था ।। ५५ ।।

नैतत् पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः ।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना ।। ५६ ।।

कुन्तीनन्दन! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जिसका चित्त व्यग्र है, जिसे ज्ञानका उपदेश नहीं प्राप्त है, वह मनुष्य इस विषयको सुगमतापूर्वक नहीं समझ सकता। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वही इसे जान सकता है ।। ५६ ।।

सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ ।
कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित् ।। ५७ ।।

भरतश्रेष्ठ! यह मैंने देवताओंका परम गोपनीय रहस्य बताया है। पार्थ! इस जगत्में कभी किसी भी मनुष्यने इस रहस्यका श्रवण नहीं किया है ।। ५७ ।।

न ह्येतच्छ्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ ।
नैतदद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना ।। ५८ ।।

अनघ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मनुष्य इसे सुननेका अधिकारी भी नहीं है। जिसका चित्त दुविधेमें पड़ा हुआ है, वह इस समय इसे अच्छी तरह नहीं समझ सकता ।। ५८ ।।

क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः ।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यरूपनिवर्तनम् ।। ५९ ।।

कुन्तीकुमार! क्रियावान् पुरुषोंसे देवलोक भरा पड़ा है। देवताओंको यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्यके मर्त्यरूपकी निवृत्ति हो ।। ५९ ।।

परा हि सा गतिः पार्थ यत् तद् ब्रह्म सनातनम् ।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी ।। ६० ।।

पार्थ! जो सनातन ब्रह्म है, वही जीवकी परम-गति है। ज्ञानी मनुष्य देहको त्यागकर उस ब्रह्ममें ही अमृतत्त्वको प्राप्त होता है और सदाके लिये सुखी हो जाता है ।। ६० ।।

इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। ६१ ।।

इस आत्मदर्शनरूप धर्मका आश्रय लेकर स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा जो पापयोनिके मनुष्य हैं, वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ।। ६१ ।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः ।
स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः ।। ६२ ।।

पार्थ! फिर जो अपने धर्ममें प्रेम रखते और सदा ब्रह्मलोककी प्राप्तिके साधनमें लगे रहते हैं, उन बहुश्रुत ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है ।। ६२ ।।

हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चास्य साधने ।
सिद्धिं फलं च मोक्षश्च दुःखस्य च विनिर्णयः ।। ६३ ।।

इस प्रकार मैंने तुम्हें मोक्षधर्मका युक्तियुक्त उपदेश किया है। उसके साधनके उपाय भी बतलाये हैं और सिद्धि, फल, मोक्ष तथा दुःखके स्वरूपका भी निर्णय किया है ।। ६३ ।।

नातः परं सुखं त्वन्यत् किंचित् स्याद् भरतर्षभ ।
बुद्धिमान् श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव ।। ६४ ।।
यः परित्यज्यते मर्त्यो लोकसारमसारवत् ।
एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुते ।। ६५ ।।

भरतश्रेष्ठ! इससे बढ़कर दूसरा कोई सुखदायक धर्म नहीं है। पाण्डुनन्दन! जो कोई बुद्धिमान्, श्रद्धालु और पराक्रमी मनुष्य लौकिक सुखको सारहीन समझकर उसे त्याग देता है, वह उपर्युक्त इन उपायोंके द्वारा बहुत शीघ्र परम गतिको प्राप्त कर लेता है ।। ६४-६५ ।।

एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किंचन ।
षण्मासान् नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते ।। ६६ ।।

पार्थ! इतना ही कहनेयोग्य विषय है। इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है। जो छः महीनेतक निरन्तर योगका अभ्यास करता है, उसका योग अवश्य सिद्ध हो जाता है ।। ६६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ।। १९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। १९ ।।

विंशोऽध्यायः

ब्राह्मणगीता—एक ब्राह्मणका अपनी पत्नीसे ज्ञानयज्ञका उपदेश करना

वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद् भरतर्षभ ।। १ ।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! अर्जुन! इसी विषयमें पति-पत्नीके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ।। १ ।।

ब्राह्मणी ब्राह्मणं कंचिज्ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्तारमब्रवीत् ।। २ ।।
कं नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता ।
न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ।। ३ ।।
भार्याः पतिकृताँल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम् ।
त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम् ।। ४ ।।

एक ब्राह्मण, जो ज्ञान-विज्ञानके पारगामी विद्वान् थे, एकान्त स्थानमें बैठे हुए थे, यह देखकर उनकी पत्नी ब्राह्मणी अपने उन पतिदेवके पास जाकर बोली—'प्राणनाथ! मैंने सुना है कि स्त्रियाँ पतिके कर्मानुसार प्राप्त हुए लोकोंको जाती हैं; किंतु आप तो कर्म छोड़कर बैठे हैं और मेरे प्रति कठोरताका बर्ताव करते हैं। आपको इस बातका पता नहीं है कि मैं अनन्यभावसे आपके ही आश्रित हूँ। ऐसी दशामें आप-जैसे पतिका आश्रय लेकर मैं किस लोकमें जाऊँगी? आपको पतिरूपमें पाकर मेरी क्या गति होगी' ।। २—४ ।।

एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव ।
सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवानघे ।। ५ ।।

पत्नीके ऐसा कहनेपर वे शान्तचित्तवाले ब्राह्मण देवता हँसते हुए-से बोले—'सौभाग्यशालिनि! तुम पापसे सदा दूर रहती हो; अतः तुम्हारे इस कथनके लिये मैं बुरा नहीं मानता ।। ५ ।।

ग्राह्यं दृश्यं च सत्यं वा यदिदं कर्म विद्यते ।
एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म कर्मेति कर्मिणः ।। ६ ।।

'संसारमें जो ग्रहण करनेयोग्य दीक्षा और व्रत आदि हैं तथा इन आँखोंसे दिखायी देनेवाले जो स्थूल कर्म हैं, उन्हींको वस्तुतः कर्म माना जाता है। कर्मठ लोग ऐसे ही कर्मको कर्मके नामसे पुकारते हैं ।। ६ ।।

मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्जिताः ।
नैष्कर्म्यं न च लोकेऽस्मिन् मुहूर्तमपि लभ्यते ।। ७ ।।

'किंतु जिन्हें ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है, वे लोग कर्मके द्वारा मोहका ही संग्रह करते हैं। इस लोकमें कोई दो घड़ी भी बिना कर्म किये रह सके, ऐसा सम्भाव नहीं है ।। ७ ।।

कर्मणा मनसा वाचा शुभं वा यदि वाशुभम् ।
जन्मादिमूर्तिभेदान्तं कर्म भूतेषु वर्तते ।। ८ ।।

मनसे, वाणीसे तथा क्रियाद्वारा जो भी शुभ या अशुभ कार्य होता है, वह तथा जन्म, स्थिति, विनाश एवं शरीरभेद आदि कर्म प्राणियोंमें विद्यमान हैं ।। ८ ।।

रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्यद्रव्येषु वर्त्मसु ।
आत्मस्थमात्मना तेभ्यो दृष्टमायतनं मया ।। ९ ।।

'जब राक्षसों—दुर्जनोंने जहाँ सोम और घृत आदि दृश्य द्रव्योंका उपयोग होता है, उन कर्म-मार्गोंका विनाश आरम्भ कर दिया, तब मैंने उनसे विरक्त होकर स्वयं ही अपने भीतर स्थित हुए आत्माके स्थानको देखा ।। ९ ।।

यत्र तद् ब्रह्म निर्द्वन्द्वं यत्र सोमः सहाग्निना ।
व्यवायं कुरुते नित्यं धीरो भूतानि धारयन् ।। १० ।।

'जहाँ द्वन्द्वोंसे रहित वह परब्रह्म परमात्मा विराजमान है, जहाँ सोम अग्निके साथ नित्य समागम करता है तथा जहाँ सब भूतोंको धारण करनेवाला धीर समीर निरन्तर चलता रहता है ।। १० ।।

यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते ।
विद्वांसः सुव्रता यत्र शान्तात्मानो जितेन्द्रियाः ।। ११ ।।

'जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शान्तचित्त जितेन्द्रिय विद्वान् योगयुक्त होकर उस अविनाशी ब्रह्मकी उपासना करते हैं ।। ११ ।।

घ्राणेन न तदाघ्रेयं नास्वाद्यं चैव जिह्वया ।
स्पर्शनेन तदस्पृश्यं मनसा त्ववगम्यते ।। १२ ।।

'वह अविनाशी ब्रह्म घ्राणेन्द्रियसे सूँघने और जिह्वाद्वारा आस्वादन करनेयोग्य नहीं है। स्पर्शेन्द्रिय—त्वचाद्वारा उसका स्पर्श भी नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिके द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है ।। १२ ।।

चक्षुषामविषह्यं च यत् किंचिच्छ्रवणात् परम् ।
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दलक्षणम् ।। १३ ।।

'वह नेत्रोंका विषय नहीं हो सकता। वह अनिर्वचनीय परब्रह्म श्रवणेन्द्रियकी पहुँचसे सर्वथा परे है। गन्ध, रस, स्पर्श, रूप और शब्द आदि कोई भी लक्षण उसमें उपलब्ध नहीं है ।। १३ ।।

यतः प्रवर्तते तन्त्रं यत्र च प्रतितिष्ठति ।
प्राणोऽपानः समानश्च व्यानश्चोदान एव च ।। १४ ।।
तत एव प्रवर्तन्ते तदेव प्रविशन्ति च ।

'उसीसे सृष्टि आदिका विस्तार होता है और उसीमें उसकी स्थिति है। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—से उसीसे प्रकट होते और फिर उसीमें प्रविष्ट हो जाते हैं ।। १४½ ।।

समानव्यानयोर्मध्ये प्राणापानौ विचेरतुः ।। १५ ।।

तस्मिंल्लीने प्रलीयेत समानो व्यान एव च ।
अपानप्राणयोर्मध्ये उदानो व्याप्य तिष्ठति ।
तस्माच्छयानं पुरुषं प्राणापानौ न मुञ्चतः ।। १६ ।।

'समान और व्यान—इन दोनोंके बीचमें प्राण और अपान विचरते हैं। उस अपानसहित प्राणके लीन होनेपर समान और व्यानका भी लय हो जाता है। अपान और प्राणके बीचमें उदान सबको व्याप्त करके स्थित होता है। इसीलिये सोये हुए पुरुषको प्राण और अपान नहीं छोड़ते हैं ।। १५-१६ ।।

प्राणानामायतत्वेन तमुदानं प्रचक्षते ।
तस्मात् तपो व्यवस्यन्ति मद्गतं ब्रह्मवादिनः ।। १७ ।।

'प्राणोंका आयतन (आधार) होनेके कारण उसे विद्वान् पुरुष उदान कहते हैं। इसलिये वेदवादी मुझमें स्थित तपका निश्चय करते हैं ।। १७ ।।

तेषामन्योन्यभक्षाणां सर्वेषां देहचारिणाम् ।
अग्निर्वैश्वानरो मध्ये सप्तधा दीव्यतेऽन्तरा ।। १८ ।।

'एक दूसरेके सहारे रहनेवाले तथा सबके शरीरोंमें संचार करनेवाले उन पाँचों प्राणवायुओंके मध्यभागमें जो समान वायुका स्थान नाभिमण्डल है, उसके बीचमें स्थित हुआ वैश्वानर अग्नि सात रूपोंमें प्रकाशमान है ।। १८ ।।

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता जिह्वा वैश्वानरार्चिषः ।। १९ ।।
घ्रेयं दृश्यं च पेयं च स्पृश्यं श्रव्यं तथैव च ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं ताः सप्त समिधो मम ।। २० ।।

'घ्राण (नासिका), जिह्वा, नेत्र, त्वचा और पाँचवाँ कान एवं मन तथा बुद्धि—ये उस वैश्वानर अग्निकी सात जिह्वाएँ हैं। सूँघनेयोग्य गन्ध, दर्शनीय रूप, पीनेयोग्य रस, स्पर्श करनेयोग्य वस्तु, सुननेयोग्य शब्द, मनके द्वारा मनन करने और बुद्धिके द्वारा समझने योग्य विषय—ये सात मुझ वैश्वानरकी समिधाएँ हैं ।। १९-२० ।।

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते भवन्ति परमर्त्विजः ।। २१ ।।

'सूँघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, स्पर्श करने-वाला, पाँचवाँ श्रवण करनेवाला एवं मनन करनेवाला और समझनेवाला—ये सात श्रेष्ठ ऋत्विज् हैं ।। २१ ।।

घ्रेये पेये च दृश्ये च स्पृश्ये श्रव्ये तथैव च ।
मन्तव्येऽप्यथ बोद्धव्ये सुभगे पश्य सर्वदा ।। २२ ।।

'सुभगे! सूँघनेयोग्य, पीनेयोग्य, देखनेयोग्य, स्पर्श करनेयोग्य, सुनने, मनन करने तथा समझनेयोग्य विषय—इन सबके ऊपर तुम सदा दृष्टिपात करो (इनमें हविष्य-बुद्धि करो) ।। २२ ।।

हवींष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु ।
सम्यक् प्रक्षिप्य विद्वांसो जनयन्ति स्वयोनिषु ।। २३ ।।

'पूर्वोक्त सात होता उक्त सात हविष्योंका सात रूपोंमें विभक्त हुए वैश्वानरमें भलीभाँति हवन करके (अर्थात् विषयोंकी ओरसे आसक्ति हटाकर) विद्वान् पुरुष अपने तन्मात्रा आदि योनियोंमें शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं ।। २३ ।।

पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैता योनिरित्येव शब्दिताः ।। २४ ।।

'पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मन और बुद्धि—ये सात योनि कहलाते हैं ।। २४ ।।

हविर्भूता गुणाः सर्वे प्रविशन्त्यग्निजं गुणम् ।
अन्तर्वासमुषित्वा च जायन्ते स्वासु योनिषु ।। २५ ।।

'इनके जो समस्त गुण हैं, वे हविष्यरूप हैं। जो अग्निजनित गुण (बुद्धिवृत्ति)-में प्रवेश करते हैं। वे अन्तःकरणमें संस्काररूपसे रहकर अपनी योनियोंमें जन्म लेते हैं ।। २५ ।।

तत्रैव च निरुध्यन्ते प्रलये भूतभावने ।
ततः संजायते गन्धस्ततः संजायते रसः ।। २६ ।।

'वे प्रलयकालमें अन्तःकरणमें ही अवरुद्ध रहते और भूतोंकी सृष्टिके समय वहींसे प्रकट होते हैं। वहींसे गन्ध और वहींसे रसकी उत्पत्ति होती है ।। २६ ।।

ततः संजायते रूपं ततः स्पर्शोऽभिजायते ।
ततः संजायते शब्दः संशयस्तत्र जायते ।
ततः संजायते निष्ठा जन्मैतत् सप्तधा विदुः ।। २७ ।।

'वहींसे रूप, स्पर्श और शब्दका प्राकट्य होता है। संशयका जन्म भी वहीं होता है और निश्चयात्मिका बुद्धि भी वहीं पैदा होती है। यह सात प्रकारका जन्म माना गया है ।। २७ ।।

अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः ।
पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्त्रिभिः पूर्यन्ति तेजसा ।। २८ ।।

'इसी प्रकारसे पुरातन ऋषियोंने श्रुतिके अनुसार घ्राण आदिका रूप ग्रहण किया है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—इन तीन आहुतियोंसे समस्त लोक परिपूर्ण हैं। वे सभी लोक आत्मज्योतिसे परिपूर्ण होते हैं' ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्रह्मगीतासु विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २० ।।

एकविंशोऽध्यायः

दस होताओंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञका वर्णन तथा मन और वाणीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निबोध दशहोतॄणां विधानमथ यादृशम् ।। १ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—प्रिये! इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। दस होता मिलकर जिस प्रकार यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वह सुनो ।। १ ।।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चरणौ करौ ।
उपस्थं वायुरिति वा होतॄणि दश भामिनि ।। २ ।।

भामिनि! कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा (वाक् और रसना), नासिका, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा—से दस होता हैं ।। २ ।।

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो वाक्यं क्रिया गतिः ।
रेतोमूत्रपुरीषाणां त्यागो दश हवींषि च ।। ३ ।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, क्रिया, गति, वीर्य, मूत्रका त्याग और मल-त्याग—ये दस विषय ही दस हविष्य हैं ।। ३ ।।

दिशो वायू रविश्चन्द्रः पृथ्व्यग्नी विष्णुरेव च ।
इन्द्रः प्रजापतिर्मित्रमग्नयो दश भामिनि ।। ४ ।।

भामिनि! दिशा, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, प्रजापति और मित्र—ये दस देवता अग्नि हैं ।। ४ ।।

दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दश भाविनि ।
विषया नाम समिधो हूयन्ते तु दशाग्निषु ।। ५ ।।

भाविनि! दस इन्द्रियरूपी होता दस देवतारूपी अग्निमें दस विषयरूपी हविष्य एवं समिधाओंका हवन करते हैं (इस प्रकार मेरे अन्तरमें निरन्तर यज्ञ हो रहा है; फिर मैं अकर्मण्य कैसे हूँ?) ।। ५ ।।

चित्तं स्रुवश्च वित्तं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ।
सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिति श्रुतम् ।। ६ ।।

इस यज्ञमें चित्त ही स्रुवा तथा पवित्र एवं उत्तम ज्ञान ही धन है। यह सम्पूर्ण जगत् पहले भलीभाँति विभक्त था—ऐसा सुना गया है ।। ६ ।।

सर्वमेवाथ विज्ञेयं चित्तं ज्ञानमवेक्षते ।

रेतःशरीरभृत्काये विज्ञाता तु शरीरभृत् ।। ७ ।।

जाननेमें आनेवाला यह सारा जगत् चित्तरूप ही है, वह ज्ञानकी अर्थात् प्रकाशककी अपेक्षा रखता है तथा वीर्यजनित शरीर-समुदायमें रहनेवाला शरीरधारी जीव उसको जाननेवाला है ।। ७ ।।

शरीरभृद् गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते ।
मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन् प्रक्षिप्यते हविः ।। ८ ।।

वह शरीरका अभिमानी जीव गार्हपत्य अग्नि है। उससे जो दूसरा पावक प्रकट होता है, वह मन है। मन आहवनीय अग्नि है। उसीमें पूर्वोक्त हविष्यकी आहुति दी जाती है ।। ८ ।।

ततो वाचस्पतिर्जज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते ।
रूपं भवति वैवर्णं समनुद्रवते मनः ।। ९ ।।

उससे वाचस्पति (वेदवाणी)-का प्राकट्य होता है। उसे मन देखता है। मनके अनन्तर रूपका प्रादुर्भाव होता है, जो नील-पीत आदि वर्णोंसे रहित होता है। वह रूप मनकी ओर दौड़ता है ।। ९ ।।

ब्राह्मण्युवाच

कस्माद् वागभवत् पूर्वं कस्मात् पश्चान्मनोऽभवत् ।
मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते ।। १० ।।

ब्राह्मणी बोली—प्रियतम! किस कारणसे वाक्की उत्पत्ति पहले हुई और क्यों मन पीछे हुआ? जब कि मनसे सोचे-विचारे वचनको ही व्यवहारमें लाया जाता है ।। १० ।।

केन विज्ञानयोगेन मतिश्चित्तं समास्थिता ।
समुन्नीता नाध्यगच्छत् को वै तां प्रतिबाधते ।। ११ ।।

किस विज्ञानके प्रभावसे मति चित्तके आश्रित होती है? वह ऊँचे उठायी जानेपर विषयोंकी ओर क्यों नहीं जाती? कौन उसके मार्गमें बाधा डालता है? ।। ११ ।।

ब्राह्मण उवाच

तामपानः पतिर्भूत्वा तस्मात् प्रेषत्यपानताम् ।
तां गतिं मनसः प्राहुर्मनस्तस्मादपेक्षते ।। १२ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! अपान पतिरूप होकर उस मतिको अपानभावकी ओर ले जाता है। वह अपानभावकी प्राप्ति मनकी गति बतायी गयी है, इसलिये मन उसकी अपेक्षा रखता है ।। १२ ।।

प्रश्नं तु वाङ्मनसोर्मां यस्मात् त्वमनुपृच्छसि ।
तस्मात् ते वर्तयिष्यामि तयोरेव समाह्वयम् ।। १३ ।।

परंतु तुम मुझसे वाणी और मनके विषयमें ही प्रश्न करती हो, इसलिये मैं तुम्हें उन्हीं दोनोंका संवाद बताऊँगा ।। १३ ।।

उभे वाङ्मनसी गत्वा भूतात्मानमपृच्छताम् ।
आवयोः श्रेष्ठमाचश्व छिन्धि नौ संशयं विभो ।। १४ ।।

मन और वाणी दोनोंने जीवात्माके पास जाकर पूछा—'प्रभो! हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है? यह बताओ और हमारे संदेहका निवारण करो' ।। १४ ।।

मन इत्येव भगवांस्तदा प्राह सरस्वती ।
अहं वै कामधुक् तुभ्यमिति तं प्राह वागथ ।। १५ ।।

तब भगवान् आत्मदेवने कहा—'मन ही श्रेष्ठ है।' यह सुनकर सरस्वती बोलीं—'मैं ही तुम्हारे लिये कामधेनु बनकर सब कुछ देती हूँ।' इस प्रकार वाणीने स्वयं ही अपनी श्रेष्ठता बतायी ।। १५ ।।

ब्राह्मण उवाच

स्थावरं जङ्गमं चैव विद्धयुभे मनसी मम ।
स्थावरं मत्सकाशे वै जङ्गमं विषये तव ।। १६ ।।

ब्राह्मण देवता कहते हैं—प्रिये! स्थावर और जंगम ये दोनों मेरे मन हैं। स्थावर अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंसे गृहीत होनेवाला जो यह जगत् है, वह मेरे समीप है और जंगम अर्थात् इन्द्रियातीत जो स्वर्ग आदि है, वह तुम्हारे अधिकारमें है ।। १६ ।।

यस्तु तं विषयं गच्छेन्मन्त्रो वर्णः स्वरोऽपि वा ।
तन्मनो जङ्गमो नाम तस्मादसि गरीयसी ।। १७ ।।

जो मन्त्र, वर्ण अथवा स्वर उस अलौकिक विषयको प्रकाशित करता है, उसका अनुसरण करनेवाला मन भी यद्यपि जंगम नाम धारण करता है तथापि वाणीस्वरूपा तुम्हारे द्वारा ही मनका उस अतीन्द्रिय जगत्‌में प्रवेश होता है। इसलिये तुम मनसे भी श्रेष्ठ एवं गौरवशालिनी हो ।। १७ ।।

यस्मादपि समाधिस्ते स्वयमभ्येस्त शोभने ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य प्रवक्ष्यामि सरस्वति ।। १८ ।।

क्योंकि शोभामयी सरस्वति! तुमने स्वयं ही पास आकर समाधान अर्थात् अपने पक्षकी पुष्टि की है। इससे मैं उच्छ्वास लेकर कुछ कहूँगा ।। १८ ।।

प्राणापानान्तरे देवी वाग् वै नित्यं स्म तिष्ठति ।
प्रेर्यमाणा महाभागे विना प्राणमपानती ।
प्रजापतिमुपाधावत् प्रसीद भगवन्निति ।। १९ ।।

महाभागे! प्राण और अपानके बीचमें देवी सरस्वती सदा विद्यमान रहती हैं। वह प्राणकी सहायताके बिना जब निम्नतम दशाको प्राप्त होने लगी, तब दौड़ी हुई प्रजापतिके

पास गयी और बोली—'भगवन्! प्रसन्न होइये' ।। १९ ।।

ततः प्राणः प्रादुरभूद् वाचमाप्याययन् पुनः ।
तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग् वदति कर्हिचित् ।। २० ।।

तब वाणीको पुष्ट-सा करता हुआ पुनः प्राण प्रकट हुआ। इसीलिये उच्छ्वास लेते समय वाणी कभी कोई शब्द नहीं बोलती है ।। २० ।।

घोषिणी जातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्तते ।
तयोरपि च घोषिण्या निर्घोषैव गरीयसी ।। २१ ।।

वाणी दो प्रकारकी होती है—एक घोषयुक्त (स्पष्ट सुनायी देनेवाली) और दूसरी घोषरहित, जो सदा सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है। इन दोनोंमें घोषयुक्त वाणीकी अपेक्षा घोषरहित ही श्रेष्ठतम है (क्योंकि घोषयुक्त वाणीको प्राणशक्तिकी अपेक्षा रहती है और घोषरहित उसकी अपेक्षाके बिना भी स्वभावतः उच्चरित होती रहती है) ।। २१ ।।

गौरिव प्रसवत्यर्थान् रसमुत्तमशालिनी ।
सततं स्यन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ।। २२ ।।
दिव्यादिव्यप्रभावेण भारती गौः शुचिस्मिते ।
एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ।। २३ ।।

शुचिस्मिते! घोषयुक्त (वैदिक) वाणी भी उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती है। वह दूध देनेवाली गायकी भाँति मनुष्योंके लिये सदा उत्तम रस झरती एवं मनोवांछित पदार्थ उत्पन्न करती है और ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली उपनिषद्वाणी (शाश्वत ब्रह्म)-का बोध करानेवाली है। इस प्रकार वाणीरूपी गौ दिव्य और अदिव्य प्रभावसे युक्त है। दोनों ही सूक्ष्म हैं और अभीष्ट पदार्थका प्रस्रव करने-वाली हैं। इन दोनोंमें क्या अन्तर है, इसको स्वयं देखो ।। २२-२३ ।।

ब्राह्मण्युवाच

अनुत्पन्नेषु वाक्येषु चोद्यमाना विवक्षया ।
किन्नु पूर्वं तदा देवी व्याजहार सरस्वती ।। २४ ।।

ब्राह्मणीने पूछा—नाथ! जब वाक्य उत्पन्न नहीं हुए थे, उस समय कुछ कहनेकी इच्छासे प्रेरित की हुई सरस्वती देवीने पहले क्या कहा था? ।। २४ ।।

ब्राह्मण उवाच

प्राणेन या सम्भवते शरीरे
प्राणादपानं प्रतिपद्यते च ।
उदानभूता च विसृज्य देहं
व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति ।। २५ ।।
ततः समाने प्रतितिष्ठतीह

इत्येव पूर्वं प्रजजल्प वाणी ।
तस्मान्मनः स्थावरत्वाद् विशिष्टं
तथा देवी जङ्गमत्वाद् विशिष्टा ।। २६ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! वह वाक् प्राणके द्वारा शरीरमें प्रकट होती है, फिर प्राणसे अपानभावको प्राप्त होती है। तत्पश्चात् उदानस्वरूप होकर शरीरको छोड़कर व्यानरूपसे सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त कर लेती है। तदनन्तर समान वायुमें प्रतिष्ठित होती है। इस प्रकार वाणीने पहले अपनी उत्पत्तिका प्रकार बताया था।* इसलिये स्थावर होनेके कारण मन श्रेष्ठ है और जंगम होनेके कारण वाग्देवी श्रेष्ठ हैं ।। २५-२६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकविंशोऽध्यायः ।। २१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २१ ।।

द्वाविंशोऽध्यायः

मन-बुद्धि और इन्द्रियरूप सप्त होताओंका, यज्ञ तथा मन-इन्द्रिय-संवादका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे सप्तहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ।। १ ।।

ब्राह्मणने कहा—सुभगे! इसी विषयमें इस पुरातन इतिहासका भी उदाहरण दिया जाता है। सात होताओंके यज्ञका जैसा विधान है, उसे सुनो ।। १ ।।

घ्राणश्चक्षुश्च जिह्वा च त्वक् श्रोत्रं चैव पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः ।। २ ।।
सूक्ष्मेऽवकाशे तिष्ठन्तो न पश्यन्तीतरेतरम् ।
एतान् वै सप्तहोतॄंस्त्वं स्वभावाद् विद्धि शोभने ।। ३ ।।

नासिका, नेत्र, जिह्वा, त्वचा और पाँचवाँ कान, मन और बुद्धि—ये सात होता अलग-अलग रहते हैं। यद्यपि ये सभी सूक्ष्म शरीरमें ही निवास करते हैं तो भी एक-दूसरेको नहीं देखते हैं। शोभने! इन सात होताओंको तुम स्वभावसे ही पहचानो ।। २-३ ।।

ब्राह्मण्युवाच

सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते कथं नान्योन्यदर्शिनः ।
कथंस्वभावा भगवन्नेतदाचक्ष्व मे प्रभो ।। ४ ।।

ब्राह्मणीने पूछा—भगवन्! जब सभी सूक्ष्म शरीरमें ही रहते हैं, तब एक-दूसरेको देख क्यों नहीं पाते? प्रभो! उनके स्वभाव कैसे हैं? यह बतानेकी कृपा करें ।। ४ ।।

ब्राह्मण उवाच

गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता ।
परस्परं गुणानेते नाभिजानन्ति कर्हिचित् ।। ५ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! (यहाँ देखनेका अर्थ है, जानना) गुणोंको न जानना ही गुणवान्‌को न जानना कहलाता है और गुणोंको जानना ही गुणवान्‌को जानना है। ये नासिका आदि सात होता एक-दूसरेके गुणोंको कभी नहीं जान पाते हैं (इसीलिये कहा गया है कि ये एक-दूसरेको नहीं देखते हैं) ।। ५ ।।

जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्‌मनो बुद्धिरेव च ।
न गन्धानधिगच्छन्ति घ्राणस्तानधिगच्छति ।। ६ ।।

जीभ, आँख, कान, त्वचा, मन और बुद्धि—ये गन्धोंको नहीं समझ पाते, किंतु नासिका उसका अनुभव करती है ।। ६ ।।

घ्राणं चक्षुस्तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति ।। ७ ।।

नासिका, कान, नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि—ये रसोंका आस्वादन नहीं कर सकते। केवल जिह्वा उसका स्वाद ले सकती है ।। ७ ।।

घ्राणं जिह्वा तथा श्रोत्रं वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न रूपाण्यधिगच्छन्ति चक्षुस्तान्यधिगच्छति ।। ८ ।।

नासिका, जीभ, कान, त्वचा, मन और बुद्धि—ये रूपका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते; किंतु नेत्र इनका अनुभव करते हैं ।। ८ ।।

घ्राणं जिह्वा ततश्चक्षुः श्रोत्रं बुद्धिर्मनस्तथा ।
न स्पर्शानधिगच्छन्ति त्वक् च तानधिगच्छति ।। ९ ।।

नासिका, जीभ, आँख, कान, बुद्धि और मन—ये स्पर्शका अनुभव नहीं कर सकते; किंतु त्वचाको उसका ज्ञान होता है ।। ९ ।।

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च वाङ्मनो बुद्धिरेव च ।
न शब्दानधिगच्छन्ति श्रोत्रं तानधिगच्छति ।। १० ।।

नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, मन और बुद्धि—इन्हें शब्दका ज्ञान नहीं होता; किंतु कानको होता है ।। १० ।।

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं बुद्धिरेव च ।
संशयं नाधिगच्छन्ति मनस्तमधिगच्छति ।। ११ ।।

नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, कान और बुद्धि—ये संशय (संकल्प-विकल्प) नहीं कर सकते। यह काम मनका है ।। ११ ।।

घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं मन एव च ।
न निष्ठामधिगच्छन्ति बुद्धिस्तामधिगच्छति ।। १२ ।।

इसी प्रकार नासिका, जीभ, आँख, त्वचा, कान, और मन—वे किसी बातका निश्चय नहीं कर सकते। निश्चयात्मक ज्ञान तो केवल बुद्धिको होता है ।। १२ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रियाणां च संवादं मनसश्चैव भामिनि ।। १३ ।।

भामिनि! इस विषयमें इन्द्रियों और मनके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ।। १३ ।।

मन उवाच

नाघ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न वेत्ति च ।

रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक् स्पर्शं नावबुध्यते ।। १४ ।।
न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथंचन ।
प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मि सनातनम् ।। १५ ।।

एक बार मनने इन्द्रियोंसे कहा—मेरी सहायताके बिना नासिका सूँघ नहीं सकती, जीभ रसका स्वाद नहीं ले सकती, आँख रूप नहीं देख सकती, त्वचा स्पर्शका अनुभव नहीं कर सकती और कानोंको शब्द नहीं सुनायी दे सकता। इसलिये मैं सब भूतोंमें श्रेष्ठ और सनातन हूँ ।। १४-१५ ।।

अगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः ।
इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः ।। १६ ।।

'मेरे बिना समस्त इन्द्रियाँ बुझी लपटोंवाली आग और सूने घरकी भाँति सदा श्रीहीन जान पड़ती हैं ।। १६ ।।

काष्ठानीवार्द्रशुष्काणि यतमानैरपीन्द्रियैः ।
गुणार्थान् नाधिगच्छन्ति मामृते सर्वजन्तवः ।। १७ ।।

संसारके सभी जीव इन्द्रियोंके यत्न करते रहनेपर भी मेरे बिना उसी प्रकार विषयोंका अनुभव नहीं कर सकते, जिस प्रकार कि सूखे-गीले काष्ठ कोई अनुभव नहीं कर सकते ।। १७ ।।

इन्द्रियाण्यूचुः

एवमेतद् भवेत् सत्यं यथैतन्मन्यते भवान् ।
ऋतेऽस्मानस्मदर्थांस्त्वं भोगान् भुङ्क्ते भवान् यदि ।। १८ ।।

यह सुनकर इन्द्रियोंने कहा—महोदय! यदि आप भी हमारी सहायता लिये बिना ही विषयोंका अनुभव कर सकते तो हम आपकी इस बातको सच मान लेतीं ।। १८ ।।

यद्यस्मासु प्रलीनेषु तर्पणं प्राणधारणम् ।
भोगान् भुङ्क्ते भवान् सत्यं यथैतन्मन्यते तथा ।। १९ ।।

हमारा लय हो जानेपर भी आप तृप्त रह सकें, जीवन धारण कर सकें और सब प्रकारके भोग भोग सकें तो आप जैसा कहते और मानते हैं, वह सब सत्य हो सकता है ।। १९ ।।

अथवास्मासु लीनेषु तिष्ठत्सु विषयेषु च ।
यदि संकल्पमात्रेण भुङ्क्ते भोगान् यथार्थवत् ।। २० ।।
अथ चेन्मन्यसे सिद्धिमस्मदर्थेषु नित्यदा ।
घ्राणेन रूपमादत्स्व रसमादत्स्व चक्षुषा ।। २१ ।।
श्रोत्रेण गन्धानादत्स्व स्पर्शानादत्स्व जिह्वया ।
त्वचा च शब्दमादत्स्व बुद्ध्या स्पर्शमथापि च ।। २२ ।।

अथवा हम सब इन्द्रियाँ लीन हो जायँ या विषयोंमें स्थित रहें, यदि आप अपने संकल्पमात्रसे विषयोंका यथार्थ अनुभव करनेकी शक्ति रखते हैं और आपको ऐसा करनेमें सदा ही सफलता प्राप्त होती है तो जरा नाकके द्वारा रूपका तो अनुभव कीजिये, आँखसे रसका तो स्वाद लीजिये और कानके द्वारा गन्धोंको तो ग्रहण कीजिये। इसी प्रकार अपनी शक्तिसे जिह्वाके द्वारा स्पर्शका, त्वचाके द्वारा शब्दका और बुद्धिके द्वारा स्पर्शका तो अनुभव कीजिये ।। २०—२२ ।।

बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् ।
भोगानपूर्वानादत्स्व नोच्छिष्टं भोक्तुमर्हति ।। २३ ।।

आप-जैसे बलवान् लोग नियमोंके बन्धनमें नहीं रहते, नियम तो दुर्बलोंके लिये होते हैं। आप नये ढंगसे नवीन भोगोंका अनुभव कीजिये। हमलोगोंकी जूठन खाना आपको शोभा नहीं देता ।। २३ ।।

यथा हि शिष्यः शास्तारं श्रुत्यर्थमभिधावति ।
ततः श्रुतमुपादाय श्रुत्यर्थमुपतिष्ठति ।। २४ ।।
विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानभिमन्यसे ।
अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ।। २५ ।।

जैसे शिष्य श्रुतिके अर्थको जाननेके लिये उपदेश करनेवाले गुरुके पास जाता है और उनसे श्रुतिके अर्थका ज्ञान प्राप्त करके फिर स्वयं उसका विचार और अनुसरण करता है, वैसे ही आप सोते और जागते समय हमारे ही दिखाये हुए भूत और भविष्य-विषयोंका उपभोग करते हैं ।। २४-२५ ।।

वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम् ।
अस्मदर्थे कृते कार्ये दृश्यते प्राणधारणम् ।। २६ ।।

जो मनरहित हुए मन्दबुद्धि प्राणी हैं, उनमें भी हमारे लिये ही कार्य किये जानेपर प्राण-धारण देखा जाता है ।। २६ ।।

बहूनपि हि संकल्पान् मत्वा स्वप्नानुपास्य च ।
बुभुक्षया पीड्यमानो विषयानेव धावति ।। २७ ।।

बहुत-से संकल्पोंका मनन और स्वप्नोंका आश्रय लेकर भोग भोगनेकी इच्छासे पीड़ित हुआ प्राणी विषयोंकी ओर ही दौड़ता है ।। २७ ।।

अगारमद्वारमिव प्रविश्य
संकल्पभोगान् विषये निबद्धान् ।
प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं
दारुक्षयेऽग्निर्ज्वलितो यथैव ।। २८ ।।

विषय-वासनासे अनुविद्ध संकल्पजनित भोगोंका उपभोग करके प्राणशक्तिके क्षीण होनेपर मनुष्य बिना दरवाजेके घरमें घुसे हुए मनुष्यकी भाँति उसी तरह शान्त हो जाता है,

जैसे समिधाओंके जल जानेपर प्रज्वलित अग्नि स्वयं ही बुझ जाती है ।। २८ ।।

कामं तु नः स्वेषु गुणेषु सङ्गः
कामं च नान्योन्यगुणोपलब्धिः ।
अस्मान् विना नास्ति तवोपलब्धि-
स्तावदृते त्वां न भजेत् प्रहर्षः ।। २९ ।।

भले ही हमलोगोंकी अपने-अपने गुणोंके प्रति आसक्ति हो और भले ही हम परस्पर एक-दूसरेके गुणोंको न जान सकें; किंतु यह बात सत्य है कि आप हमारी सहायताके बिना किसी भी विषयका अनुभव नहीं कर सकते। आपके बिना तो हमें केवल हर्षसे ही वंचित होना पड़ता है ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वाविंशोऽध्यायः ।। २२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २२ ।।

---

* इस श्लोकका सारांश इस प्रकार समझना चाहिये—पहले आत्मा मनको उच्चारण करनेके लिये प्रेरित करता है, तब मन जठराग्निको प्रज्वलित करता है। जठराग्निके प्रज्वलित होनेपर उसके प्रभावसे प्राणवायु अपानवायुसे जा मिलता है। उसके बाद वह वायु उदानवायुके प्रभावसे ऊपर चढ़कर मस्तकमें टकराता है और फिर व्यानवायुके प्रभावसे कण्ठ-तालु आदि स्थानोंमें होकर वेगसे वर्ण उत्पन्न कराता हुआ वैखरीरूपसे मनुष्योंके कानमें प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायुका वेग निवृत्त हो जाता है, तब वह फिर समानभावसे चलने लगता है।

त्रयोविंशोऽध्यायः

प्राण, अपान आदिका संवाद और ब्रह्माजीका सबकी श्रेष्ठता बतलाना

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सुभगे पञ्चहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ।। १ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! अब पञ्चहोताओंके यज्ञका जैसा विधान है, उसके विषयमें एक प्राचीन दृष्टान्त बतलाया जाता है ।। १ ।।

प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ।
पञ्चहोतॄंस्तथैतान् वै परं भावं विदुर्बुधाः ।। २ ।।

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये पाँचों प्राण पाँच होता हैं। विद्वान् पुरुष इन्हें सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ।।

ब्राह्मण्युवाच

स्वभावात् सप्तहोतार इति मे पूर्विका मतिः ।
यथा वै पञ्चहोतारः परो भावस्तदुच्यताम् ।। ३ ।।

ब्राह्मणी बोली—नाथ! पहले तो मैं समझती थी कि स्वभावतः सात होता हैं; किंतु अब आपके मुँहसे पाँच होताओंकी बात मालूम हुई। अतः ये पाँचों होता किस प्रकार हैं? आप इनकी श्रेष्ठताका वर्णन कीजिये ।। ३ ।।

ब्राह्मण उवाच

प्राणेन सम्भृतो वायुरपानो जायते ततः ।
अपाने सम्भृतो वायुस्ततो व्यानः प्रवर्तते ।। ४ ।।
व्यानेन सम्भृतो वायुस्ततोदानः प्रवर्तते ।
उदाने सम्भृतो वायुः समानो नाम जायते ।। ५ ।।
तेऽपृच्छन्त पुरा सन्तः पूर्वजातं पितामहम् ।
यो नः श्रेष्ठस्तमाचक्ष्व स नः श्रेष्ठो भविष्यति ।। ६ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! वायु प्राणके द्वारा पुष्ट होकर अपानरूप, अपानके द्वारा पुष्ट होकर व्यानरूप, व्यानसे पुष्ट होकर उदानरूप, उदानसे परिपुष्ट होकर समानरूप होता है। एक बार इन पाँचों वायुओंने सबके पूर्वज पितामह ब्रह्माजीसे प्रश्न किया—'भगवन्! हममें जो श्रेष्ठ हो उसका नाम बता दीजिये, वही हमलोगोंमें प्रधान होगा' ।। ४—६ ।।

ब्रह्मोवाच

यस्मिन् प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
यस्मिन् प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
स वै श्रेष्ठो गच्छत यत्र कामः ।। ७ ।।

ब्रह्माजीने कहा—प्राणधारियोंके शरीरमें स्थित हुए तुमलोगोंमेंसे जिसका लय हो जानेपर सभी प्राण लीन हो जायँ और जिसके संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगें, वही श्रेष्ठ है। अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ ।। ७ ।।

प्राण उवाच

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ।। ८ ।।

यह सुनकर प्राणवायुने अपान आदिसे कहा—मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं, इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा) ।। ८ ।।

ब्राह्मण उवाच

प्राणः प्रालीयत ततः पुनश्च प्रचचार ह ।
समानश्चाप्युदानश्च वचोऽब्रूतां पुनः शुभे ।। ९ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—शुभे! यों कहकर प्राणवायु थोड़ी देरके लिये छिप गया और उसके बाद फिर चलने लगा। तब समान और उदानवायु उससे पुनः बोले— ।। ९ ।।

न त्वं सर्वमिदं व्याप्य तिष्ठसीह यथा वयम् ।
न त्वं श्रेष्ठो हि नः प्राण अपानो हि वशे तव ।
प्रचचार पुनः प्राणस्तमपानोऽभ्यभाषत ।। १० ।।

'प्राण! जैसे हमलोग इस शरीरमें व्याप्त हैं, उस तरह तुम इस शरीरमें व्याप्त होकर नहीं रहते। इसलिये तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो। केवल अपान तुम्हारे वशमें है [अतः तुम्हारे लय होनेसे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती]।' तब प्राण पुनः पूर्ववत् चलने लगा। तदनन्तर अपान बोला ।। १० ।।

अपान उवाच

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति

सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ।। ११ ।।

अपानने कहा—मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा) ।। ११ ।।

ब्राह्मण उवाच

व्यानश्च तमुदानश्च भाषमाणमथोचतुः ।
अपान न त्वं श्रेष्ठोऽसि प्राणो हि वशगस्तव ।। १२ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—तब व्यान और उदानने पूर्वोक्त बात कहनेवाले अपानसे कहा—'अपान! केवल प्राण तुम्हारे अधीन है, इसलिये तुम हमसे श्रेष्ठ नहीं हो सकते' ।। १२ ।।

अपानः प्रचचाराथ व्यानस्तं पुनरब्रवीत् ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ।। १३ ।।

यह सुनकर अपान भी पूर्ववत् चलने लगा। तब व्यानने उससे फिर कहा—'मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। मेरी श्रेष्ठताका कारण क्या है। वह सुनो ।। १३ ।।

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ।। १४ ।।

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ।। १४ ।।

ब्राह्मण उवाच

प्रालीयत ततो व्यानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानावुदानश्च समानश्च तमब्रुवन् ।
न त्वं श्रेष्ठोऽसि नो व्यान समानस्तु वशे तव ।। १५ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—तब व्यान कुछ देरके लिये लीन हो गया, फिर चलने लगा। उस समय प्राण, अपान, उदान और समानने उससे कहा—'व्यान! तुम हमसे श्रेष्ठ नहीं हो, केवल समान वायु तुम्हारे वशमें है' ।। १५ ।।

प्रचचार पुनर्व्यानः समानः पुनरब्रवीत् ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ।। १६ ।।

यह सुनकर व्यान पूर्ववत् चलने लगा। तब समानने पुनः कहा—'मैं जिस कारणसे सबमें श्रेष्ठ हूँ, वह बताता हूँ सुनो ।। १६ ।।

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ।। १७ ।।

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ।। १७ ।।

(ब्राह्मण उवाच

ततः समानः प्रालिल्ये पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानाबुदानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ।।
न त्वं समान श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ।)

ब्राह्मण कहते हैं—यह कहकर समान कुछ देरके लिये लीन हो गया और पुनः पूर्ववत् चलने लगा। उस समस प्राण, अपान, व्यान और उदानने उससे कहा—'समान! तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो, केवल व्यान ही तुम्हारे वशमें है' ।।

समानः प्रचचाराथ उदानस्तमुवाच ह ।
श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ।। १८ ।।

यह सुनकर समान पूर्ववत् चलने लगा। तब उदानने उससे कहा—'मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसका क्या कारण है? यह सुनो ।। १८ ।।

मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति
सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे ।
मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति
श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ।। १९ ।।

'मेरे लीन होनेपर प्राणियोंके शरीरमें स्थित सभी प्राण लीन हो जाते हैं तथा मेरे संचरित होनेपर सब-के-सब संचार करने लगते हैं। इसलिये मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ। देखो, अब मैं लीन हो रहा हूँ (फिर तुम्हारा भी लय हो जायगा)' ।। १९ ।।

ततः प्रालीयतोदानः पुनश्च प्रचचार ह ।
प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् ।
उदान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ।। २० ।।

यह सुनकर उदान कुछ देरके लिये लीन हो गया और पुनः चलने लगा। तब प्राण, अपान, समान और व्यानने उससे कहा—'उदान! तुम हमलोगोंसे श्रेष्ठ नहीं हो। केवल

व्यान ही तुम्हारे वशमें है' ।। २० ।।

ब्राह्मण उवाच

ततस्तानब्रवीद् ब्रह्मा समवेतान् प्रजापतिः ।
सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ।। २१ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—तदनन्तर वे सभी प्राण ब्रह्माजीके पास एकत्र हुए। उस समय उन सबसे प्रजापति ब्रह्माने कहा—'वायुगण! तुम सभी श्रेष्ठ हो। अथवा तुममेंसे कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। तुम सबका धारणरूप धर्म एक-दूसरेपर अवलम्बित है ।। २१ ।।

सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योन्यधर्मिणः ।
इति तानब्रवीत् सर्वान् समवेतान् प्रजापतिः ।। २२ ।।

'सभी अपने-अपने स्थानपर श्रेष्ठ हो और सबका धर्म एक-दूसरेपर अवलम्बित है।' इस प्रकार वहाँ एकत्र हुए सब प्राणोंसे प्रजापतिने फिर कहा— ।। २२ ।।

एकः स्थिरश्चास्थिरश्च विशेषात् पञ्च वायवः ।
एक एव ममैवात्मा बहुधाप्युपचीयते ।। २३ ।।

'एक ही वायु स्थिर और अस्थिररूपसे विराजमान है। उसीके विशेष भेदसे पाँच वायु होते हैं। इस तरह एक ही मेरा आत्मा अनेक रूपोंमें वृद्धिको प्राप्त होता है ।। २३ ।।

परस्परस्य सुहृदो भावयन्तः परस्परम् ।
स्वस्ति व्रजत भद्रं वो धारयध्वं परस्परम् ।। २४ ।।

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम कुशलपूर्वक जाओ और एक-दूसरेके हितैषी रहकर परस्परकी उन्नतिमें सहायता पहुँचाते हुए एक-दूसरेको धारण किये रहो' ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयोविंशोऽध्यायः ।। २३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल २५½ श्लोक हैं)

चतुर्विंशोऽध्यायः

देवर्षि नारद और देवमतका संवाद एवं उदानके उत्कृष्ट रूपका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च ।। १ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! इस विषयमें देवर्षि नारद और देवमतके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ।। १ ।।

देवमत उवाच

जन्तोः संजायमानस्य किं नु पूर्वं प्रवर्तते ।
प्राणोऽपानः समानो वा व्यानो वोदान एव च ।। २ ।।

देवमतने पूछा—देवर्षे! जब जीव जन्म लेता है, उस समय सबसे पहले उसके शरीरमें किसकी प्रवृत्ति होती है? प्राण, अपान, समान, व्यान अथवा उदानकी? ।। २ ।।

नारद उवाच

येनायं सृज्यते जन्तुस्ततोऽन्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राणद्वन्द्वं हि विज्ञेयं तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ।। ३ ।।

नारदजीने कहा—मुने! जिस निमित्त कारणसे इस जीवकी उत्पत्ति होती है, उससे भिन्न दूसरा पदार्थ भी पहले कारण-रूपसे उपस्थित होता है। वह है प्राणोंका द्वन्द्व। जो ऊपर (देवलोक), तिर्यक् (मनुष्यलोक) और अधोलोक (पशु आदि)-में व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये ।। ३ ।।

देवमत उवाच

केनायं सृज्यते जन्तुः कश्चान्यः पूर्वमेति तम् ।
प्राणद्वन्द्वं च मे ब्रूहि तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ।। ४ ।।

देवमतने पूछा—नारदजी! किस निमित्त कारणसे इस जीवकी सृष्टि होती है? दूसरा कौन पदार्थ पहले कारणरूपसे उपस्थित होता है तथा प्राणोंका द्वन्द्व क्या है, जो ऊपर, मध्यमें और नीचे व्याप्त है? ।। ४ ।।

नारद उवाच

संकल्पाज्जायते हर्षः शब्दादपि च जायते ।
रसात् संजायते चापि रूपादपि च जायते ।। ५ ।।

नारदजीने कहा—मुने! संकल्पसे हर्ष उत्पन्न होता है, मनोनुकूल शब्दसे, रससे और रूपसे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है ।। ५ ।।

शुक्राच्छोणितसंसृष्टात् पूर्वं प्राणः प्रवर्तते ।
प्राणेन विकृते शुक्रे ततोऽपानः प्रवर्तते ।। ६ ।।

रजमें मिले हुए वीर्यसे पहले प्राण आकर उसमें कार्य आरम्भ करता है। उस प्राणसे वीर्यमें विकार उत्पन्न होनेपर फिर अपानकी प्रवृत्ति होती है ।। ६ ।।

शुक्रात् संजायते चापि रसादपि च जायते ।
एतद् रूपमुदानस्य हर्षो मिथुनमन्तरा ।। ७ ।।

शुक्रसे और रससे भी हर्षकी उत्पत्ति होती है, यह हर्ष ही उदानका रूप है। उक्त कारण और कार्यरूप जो मिथुन है, उन दोनोंके बीचमें हर्ष व्याप्त होकर स्थित है ।। ७ ।।

कामात् संजायते शुक्रं शुक्रात् संजायते रजः ।
समानव्यानजनिते सामान्ये शुक्रशोणिते ।। ८ ।।

प्रवृत्तिके मूलभूत कामसे वीर्य उत्पन्न होता है। उससे रजकी उत्पत्ति होती है। ये दोनों वीर्य और रज समान और व्यानसे उत्पन्न होते हैं। इसलिये सामान्य कहलाते हैं ।। ८ ।।

प्राणापानाविदं द्वन्द्वमवाक् चोर्ध्वं च गच्छतः ।
व्यानः समानश्चैवोभौ तिर्यग् द्वन्द्वत्वमुच्यते ।। ९ ।।

प्राण और अपान—ये दोनों भी द्वन्द्व हैं। ये नीचे और ऊपरको जाते हैं। व्यान और समान—ये दोनों मध्यगामी द्वन्द्व कहे जाते हैं ।। ९ ।।

अग्निर्वै देवताः सर्वा इति देवस्य शासनम् ।
संजायते ब्राह्मणस्य ज्ञानं बुद्धिसमन्वितम् ।। १० ।।

अग्नि अर्थात् परमात्मा ही सम्पूर्ण देवता हैं। यह वेद उन परमेश्वरकी आज्ञारूप है। उस वेदसे ही ब्राह्मणमें बुद्धियुक्त ज्ञान उत्पन्न होता है ।। १० ।।

तस्य धूमस्तमो रूपं रजो भस्मसु तेजसः ।
सर्वं संजायते तस्य यत्र प्रक्षिप्यते हविः ।। ११ ।।

उस अग्निका धुआँ तमोमय और भस्म रजोमय है। जिसके निमित्त हविष्यकी आहुति दी जाती है, उस अग्निसे (प्रकाशस्वरूप परमेश्वरसे) यह सारा जगत् उत्पन्न होता है ।। ११ ।।

सत्त्वात् समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः ।
प्राणापानावाज्यभागौ तयोर्मध्ये हुताशनः ।। १२ ।।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ।
निर्द्वन्द्वमिति यत् त्वेतत् तन्मे निगदतः शृणु ।। १३ ।।

यज्ञवेत्ता पुरुष यह जानते हैं कि सत्त्वगुणसे समान और व्यानकी उत्पत्ति होती है। प्राण और अपान आज्यभाग नामक दो आहुतियोंके समान हैं। उनके मध्यभागमें अग्निकी

स्थिति है। यही उदानका उत्कृष्ट रूप है, जिसे ब्राह्मणलोग जानते हैं। जो निर्द्वन्द्व कहा गया है, उसे भी बताता हूँ, तुम मेरे मुखसे सुनो ।। १२-१३ ।।

अहोरात्रमिदं द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ।। १४ ।।

ये दिन और रात द्वन्द्व हैं, इनके मध्यभागमें अग्नि हैं। ब्राह्मणलोग इसीको उदानका उत्कृष्ट रूप मानते हैं ।। १४ ।।

सच्चासच्चैव तद् द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः ।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ।। १५ ।।

सत् और असत्—ये दोनों द्वन्द्व हैं तथा इनके मध्यभागमें अग्नि हैं। ब्राह्मणलोग इसे उदानका परम उत्कृष्ट रूप मानते हैं ।। १५ ।।

ऊर्ध्वं समानो व्यानश्च व्यस्यते कर्म तेन तत् ।
तृतीयं तु समानेन पुनरेव व्यवस्यते ।। १६ ।।

ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्म जिस संकल्प नामक हेतुसे समान और व्यानरूप होता है, उसीसे कर्मका विस्तार होता है। अतः संकल्पको रोकना चाहिये। जाग्रत् और स्वप्नके अतिरिक्त जो तीसरी अवस्था है, उससे उपलक्षित ब्रह्मका समानके द्वारा ही निश्चय होता है ।। १६ ।।

शान्त्यर्थं व्यानमेकं च शान्तिर्ब्रह्म सनातनम् ।
एतद् रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ।। १७ ।।

एकमात्र व्यान शान्तिके लिये है। शान्ति सनातन ब्रह्म है। ब्राह्मणलोग इसीको उदानका परम उत्कृष्ट रूप मानते हैं ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुर्विंशोऽध्यायः ।। २४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मण-गीताविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २४ ।।

पञ्चविंशोऽध्यायः
चातुर्होम यज्ञका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम् ।। १ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! इसी विषयमें चार होताओंसे युक्त यज्ञका जैसा विधान है, उसको बतानेवाले इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ।। १ ।।

तस्य सर्वस्य विधिवद् विधानमुपदिश्यते ।
शृणु मे गदतो भद्रे रहस्यमिदमद्भुतम् ।। २ ।।

भद्रे! उस सबके विधि-विधानका उपदेश किया जाता है। तुम मेरे मुखसे इस अद्भुत रहस्यको सुनो ।। २ ।।

करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भाविनि ।
चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ।। ३ ।।

भाविनि! करण, कर्म, कर्ता और मोक्ष—ये चार होता हैं, जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् आवृत है ।। ३ ।।

हेतूनां साधनं चैव शृणु सर्वमशेषतः ।
घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रं च पञ्चमम् ।
मनो बुद्धिश्च सप्तैते विज्ञेया गुणहेतवः ।। ४ ।।

इनके जो हेतु हैं, उन्हें युक्तियोंद्वारा सिद्ध किया जाता है। वह सब पूर्णरूपसे सुनो। घ्राण (नासिका), जिह्वा, नेत्र, त्वचा, पाँचवाँ कान तथा मन और बुद्धि—ये सात कारणरूप हेतु गुणमय जानने चाहिये ।। ४ ।।

गन्धो रसश्च रूपं च शब्दः स्पर्शश्च पञ्चमः ।
मन्तव्यमथ बोद्धव्यं सप्तैते कर्महेतवः ।। ५ ।।

गन्ध, रस, रूप, शब्द, पाँचवाँ स्पर्श तथा मन्तव्य और बोद्धव्य—ये सात विषय कर्मरूप हेतु हैं ।। ५ ।।

घ्राता भक्षयिता द्रष्टा वक्ता श्रोता च पञ्चमः ।
मन्ता बोद्धा च सप्तैते विज्ञेयाः कर्तृहेतवः ।। ६ ।।

सूँघनेवाला, खानेवाला, देखनेवाला, बोलनेवाला, पाँचवाँ सुननेवाला तथा मनन करनेवाला और निश्चयात्मक बोध प्राप्त करनेवाला—ये सात कर्तारूप हेतु हैं ।। ६ ।।

स्वगुणं भक्षयन्त्येते गुणवन्तः शुभाशुभम् ।
अहं च निर्गुणोऽनन्तः सप्तैते मोक्षहेतवः ।। ७ ।।

ये घ्राण आदि इन्द्रियाँ गुणवान् हैं, अतः अपने शुभाशुभ विषयोंरूप गुणोंका उपभोग करती हैं। मैं निर्गुण और अनन्त हूँ, (इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, यह समझ लेनेपर) ये सातों—घ्राण आदि मोक्षके हेतु होते हैं ।। ७ ।।

विदुषां बुध्यमानानां स्वं स्वं स्थानं यथाविधि ।
गुणास्ते देवताभूताः सततं भुञ्जते हविः ।। ८ ।।

विभिन्न विषयोंका अनुभव करनेवाले विद्वानोंके घ्राण आदि अपने-अपने स्थानको विधिपूर्वक जानते हैं और देवता-रूप होकर सदा हविष्यका भोग करते हैं ।। ८ ।।

अदन्नन्नान्यथोऽविद्वान् ममत्वेनोपपद्यते ।
आत्मार्थे पाचयन्नन्नं ममत्वेनोपहन्यते ।। ९ ।।

अज्ञानी पुरुष अन्न भोजन करते समय उसके प्रति ममत्वसे युक्त हो जाता है। इसी प्रकार जो अपने लिये भोजन पकाता है, वह भी ममत्व दोषसे मारा जाता है ।। ९ ।।

अभक्ष्यभक्षणं चैव मद्यपानं च हन्ति तम् ।
स चान्नं हन्ति तं चान्नं स हत्वा हन्यते पुनः ।। १० ।।

वह अभक्ष्य-भक्षण और मद्यपान-जैसे दुर्व्यसनोंको भी अपना लेता है, जो उसके लिये घातक होते हैं। वह भक्षणके द्वारा उस अन्नकी हत्या करता है और उसकी हत्या करके वह स्वयं भी उसके द्वारा मारा जाता है ।। १० ।।

हन्ता ह्यन्नमिदं विद्वान् पुनर्जनयतीश्वरः ।
न चान्नाज्जायते तस्मिन् सूक्ष्मो नाम व्यतिक्रमः ।। ११ ।।

जो विद्वान् इस अन्नको खाता है, अर्थात् अन्नसे उपलक्षित समस्त प्रपंचको अपने-आपमें लीन कर देता है, वह ईश्वर—सर्वसमर्थ होकर पुनः अन्न आदिका जनक होता है। उस अन्नसे उस विद्वान् पुरुषमें कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म दोष भी नहीं उत्पन्न होता ।। ११ ।।

मनसा गम्यते यच्च यच्च वाचा निगद्यते ।
श्रोत्रेण श्रूयते यच्च चक्षुषा यच्च दृश्यते ।। १२ ।।
स्पर्शेन स्पृश्यते यच्च घ्राणेन घ्रायते च यत् ।
मनःषष्ठानि संयम्य हवींष्येतानि सर्वशः ।। १३ ।।
गुणवत्पावको मह्यं दीव्यतेऽन्तःशरीरगः ।

जो मनसे अवगत होता है, वाणीद्वारा जिसका कथन होता है, जिसे कानसे सुना और आँखसे देखा जाता है, जिसको त्वचासे छूआ और नासिकासे सूँघा जाता है। इन मन्तव्य आदि छहों विषयरूपी हविष्योंका मन आदि छहों इन्द्रियोंके संयमपूर्वक अपने-आपमें होम करना चाहिये। उस होमके अधिष्ठानभूत गुणवान् पावकरूप परमात्मा मेरे तन-मनके भीतर प्रकाशित हो रहे हैं ।। १२-१३½ ।।

योगयज्ञः प्रवृत्तो मे ज्ञानवह्निप्रदोद्भवः ।
प्राणस्तोत्रोऽपानशस्त्रः सर्वत्यागसुदक्षिणः ।। १४ ।।

मैंने योगरूपी यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया है। इस यज्ञका उद्भव ज्ञानरूपी अग्निको प्रकाशित करनेवाला है। इसमें प्राण ही स्तोत्र है, अपान शस्त्र है और सर्वस्वका त्याग ही उत्तम दक्षिणा है ।। १४ ।।

कर्तानुमन्ता ब्रह्मात्मा होताध्वर्युः कृतस्तुतिः ।
ऋतं प्रशास्ता तच्छस्त्रमपवर्गोऽस्य दक्षिणा ।। १५ ।।

कर्ता (अहंकार), अनुमन्ता (मन) और आत्मा (बुद्धि)—ये तीनों ब्रह्मरूप होकर क्रमशः होता, अध्वर्यु और उद्गाता हैं। सत्यभाषण ही प्रशास्ताका शस्त्र है और अपवर्ग (मोक्ष) ही उस यज्ञकी दक्षिणा है ।। १५ ।।

ऋचश्चाप्यत्र शंसन्ति नारायणविदो जनाः ।
नारायणाय देवाय यदविन्दन् पशून् पुरा ।। १६ ।।

नारायणको जाननेवाले पुरुष इस योगयज्ञके प्रमाणमें ऋचाओंका भी उल्लेख करते हैं। पूर्वकालमें भगवान् नारायणदेवकी प्राप्तिके लिये भक्त पुरुषोंने इन्द्रियरूपी पशुओंको अपने अधीन किया था ।। १६ ।।

तत्र सामानि गायन्ति तत्र चाहुर्निदर्शनम् ।
देवं नारायणं भीरु सर्वात्मानं निबोध तम् ।। १७ ।।

भगवत्प्राप्ति हो जानेपर परमानन्दसे परिपूर्ण हुए सिद्ध पुरुष जो सामगान करते हैं, उसका दृष्टान्त तैत्तिरीय-उपनिषद्के विद्वान् **‘एतत् सामगायन्नास्ते’** इत्यादि मन्त्रोंके रूपमें उपस्थित करते हैं। भीरु! तुम उस सर्वात्मा भगवान् नारायणदेवका ज्ञान प्राप्त करो ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु पञ्चविंशोऽध्यायः ।। २५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २५ ।।

षड्विंशोऽध्यायः

अन्तर्यामीकी प्रधानता

ब्राह्मण उवाच

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि ।। १ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! जगत्का शासक एक ही है, दूसरा नहीं। जो हृदयके भीतर विराजमान है, उस परमात्माको ही मैं सबका शासक बतला रहा हूँ। जैसे पानी ढालू स्थानसे नीचेकी ओर प्रवाहित होता है, वैसे ही उस—परमात्माकी प्रेरणासे मैं जिस तरहके कार्यमें नियुक्त होता हूँ, उसीका पालन करता रहता हूँ ।। १ ।।

एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
पराभूता दानवाः सर्व एव ।। २ ।।

एक ही गुरु है दूसरा नहीं। जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ। उसी गुरुके अनुशासनसे समस्त दानव हार गये हैं ।। २ ।।

एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा बान्धवा बन्धुमन्तः
सप्तर्षयश्चैव दिवि प्रभान्ति ।। ३ ।।

एक ही बन्धु है, उससे भिन्न दूसरा कोई बन्धु नहीं है। जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं बन्धु कहता हूँ। उसीके उपदेशसे बान्धवगण बन्धुमान् होते हैं और सप्तर्षि लोग आकाशमें प्रकाशित होते हैं ।। ३ ।।

एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तस्मिन् गुरौ गुरुवासं निरुष्य
शक्रो गतः सर्वलोकामरत्वम् ।। ४ ।।

एक ही श्रोता है, दूसरा नहीं। जो हृदयमें स्थित परमात्मा है, उसीको मैं श्रोता कहता हूँ। इन्द्रने उसीको गुरु मानकर गुरुकुलवासका नियम पूरा किया अर्थात् शिष्यभावसे वे उस

अन्तर्यामीकी ही शरणमें गये। इससे उन्हें सम्पूर्ण लोकोंका साम्राज्य और अमरत्व प्राप्त हुआ ।। ४ ।।

एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि ।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव
लोके द्विष्टाः पन्नगाः सर्व एव ।। ५ ।।

एक ही शत्रु है दूसरा नहीं। जो हृदयमें स्थित है, उस परमात्माको ही मैं गुरु बतला रहा हूँ। उसी गुरुकी प्रेरणासे जगत्‌के सारे साँप सदा द्वेषभावसे युक्त रहते हैं ।। ५ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम् ।। ६ ।।

पूर्वकालमें सर्पों, देवताओं और ऋषियोंकी प्रजापतिके साथ जो बातचीत हुई थी, उस प्राचीन इतिहासके जानकार लोग उस विषयमें उदाहरण दिया करते हैं ।। ६ ।।

देवर्षयश्च नागाश्चाप्यसुराश्च प्रजापतिम् ।
पर्यपृच्छन्नुपासीनाः श्रेयो नः प्रोच्यतामिति ।। ७ ।।

एक बार देवता, ऋषि, नाग और असुरोंने प्रजापतिके पास बैठकर पूछा—‘भगवन्! हमारे कल्याणका क्या उपाय है? यह बताइये’ ।। ७ ।।

तेषां प्रोवाच भगवान् श्रेयः समनुपृच्छताम् ।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन् दिशः ।। ८ ।।

कल्याणकी बात पूछनेवाले उन महानुभावोंका प्रश्न सुनकर भगवान् प्रजापति ब्रह्माजीने एकाक्षर ब्रह्म—ॐकारका उच्चारण किया। उनका प्रणवनाद सुनकर सब लोग अपनी-अपनी दिशा (अपने-अपने स्थान)-की ओर भाग चले ।। ८ ।।

तेषां प्रद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मनः ।
सर्पाणां दंशने भावः प्रवृत्तः पूर्वमेव तु ।। ९ ।।
असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः ।
दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः ।। १० ।।

फिर उन्होंने उस उपदेशके अर्थपर जब विचार किया, तब सबसे पहले सर्पोंके मनमें दूसरोंके डँसनेका भाव पैदा हुआ, असुरोंमें स्वाभाविक दम्भका आविर्भाव हुआ तथा देवताओंने दानको और महर्षियोंने दमको ही अपनानेका निश्चय किया ।। ९-१० ।।

एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः ।
नाना व्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः ।। ११ ।।

इस प्रकार सर्प, देवता, ऋषि और दानव—ये सब एक ही उपदेशक गुरुके पास गये थे और एक ही शब्दके उपदेशसे उनकी बुद्धिका संस्कार हुआ तो भी उनके मनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव उत्पन्न हो गये ।। ११ ।।

शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम् ।
पृच्छातस्तदतो भूयो गुरुरन्यो न विद्यते ।। १२ ।।

श्रोता गुरुके कहे हुए उपदेशको सुनता है और उसको जैसे-तैसे (भिन्न-भिन्न रूपमें) ग्रहण करता है। अतः प्रश्न पूछनेवाले शिष्यके लिये अपने अन्तर्यामीसे बढ़कर दूसरा कोई गुरु नहीं है ।। १२ ।।

तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात् प्रवर्तते ।
गुरुर्बोद्धा च श्रोता च द्वेष्टा च हृदि निःसृतः ।। १३ ।।

पहले वह कर्मका अनुमोदन करता है, उसके बाद जीवकी उस कर्ममें प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार हृदयमें प्रकट होनेवाला परमात्मा ही गुरु, ज्ञानी, श्रोता और द्वेष्टा है ।। १३ ।।

पापेन विचरल्लोँके पापचारी भवत्ययम् ।
शुभेन विचरल्लोँके शुभचारी भवत्युत ।। १४ ।।

संसारमें जो पाप करते हुए विचरता है, वह पापाचारी और जो शुभ कर्मोंका आचरण करता है, वह शुभाचारी कहलाता है ।। १४ ।।

कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः ।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः ।। १५ ।।

इसी तरह कामनाओंके द्वारा इन्द्रियसुखमें परायण मनुष्य कामचारी और इन्द्रियसंयममें प्रवृत्त रहनेवाला पुरुष सदा ही ब्रह्मचारी है ।। १५ ।।

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।
ब्रह्मभूतश्चरल्लोँके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ।। १६ ।।

जो व्रत और कर्मोंका त्याग करके केवल ब्रह्ममें स्थित है, वह ब्रह्मस्वरूप होकर संसारमें विचरता रहता है, वही मुख्य ब्रह्मचारी है ।। १६ ।।

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ।। १७ ।।

ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्मसे ही वह उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही उसका जल और ब्रह्म ही गुरु है। उसकी चित्तवृत्तियाँ सदा ब्रह्ममें ही लीन रहती हैं ।। १७ ।।

एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः ।
विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः ।। १८ ।।

विद्वानोंने इसीको सूक्ष्म ब्रह्मचर्य बतलाया है। तत्त्वदर्शीका उपदेश पाकर प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष इस ब्रह्मचर्यके स्वरूपको जानकर सदा उसका पालन करते रहते हैं ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु षड्विंशोऽध्यायः ।। २६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २६ ।।

सप्तविंशोऽध्यायः

अध्यात्मविषयक महान् वनका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

संकल्पदंशमशकं शोकहर्षहिमातपम् ।
मोहान्धकारतिमिरं लोभव्याधिसरीसृपम् ।। १ ।।
विषयैकात्ययाध्वानं कामक्रोधविरोधकम् ।
तदतीत्य महादुर्गं प्रविष्टोऽस्मि महद् वनम् ।। २ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! जहाँ संकल्परूपी डाँस और मच्छरोंकी अधिकता होती है। शोक और हर्षरूपी गर्मी, सर्दीका कष्ट रहता है, मोहरूपी अन्धकार फैला हुआ है, लोभ तथा व्याधिरूपी सर्प विचरा करते हैं। जहाँ विषयोंका ही मार्ग है, जिसे अकेले ही तै करना पड़ता है तथा जहाँ काम और क्रोधरूपी शत्रु डेरा डाले रहते हैं, उस संसाररूपी दुर्गम पथका उल्लंघन करके अब मैं ब्रह्मरूपी महान् वनमें प्रवेश कर चुका हूँ ।। १-२ ।।

ब्राह्मण्युवाच

क्व तद् वनं महाप्राज्ञ के वृक्षाः सरितश्च काः ।
गिरयः पर्वताश्चैव कियत्यध्वनि तद् वनम् ।। ३ ।।

ब्राह्मणीने पूछा—महाप्राज्ञ! वह वन कहाँ है? उसमें कौन-कौनसे वृक्ष, गिरि, पर्वत और नदियाँ हैं तथा वह कितनी दूरीपर है ।। ३ ।।

ब्राह्मण उवाच

नैतदस्ति पृथग्भावः किंचिदन्यत् ततः सुखम् ।
नैतदस्त्यपृथग्भावः किंचिद् दुःखतरं ततः ।। ४ ।।

ब्राह्मणने कहा—प्रिये! उस वनमें न भेद है न अभेद, वह इन दोनोंसे अतीत है। वहाँ लौकिक सुख और दुःख दोनोंका अभाव है ।। ४ ।।

तस्माद् ह्रस्वतरं नास्ति न ततोऽस्ति महत्तरम् ।
नास्ति तस्मात् सूक्ष्मतरं नास्त्यन्यत् तत्समं सुखम् ।। ५ ।।

उससे अधिक छोटी, उससे अधिक बड़ी और उससे अधिक सूक्ष्म भी दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उसके समान सुखरूप भी कोई नहीं है ।। ५ ।।

न तत्राविश्य शोचन्ति न प्रहृष्यन्ति च द्विजाः ।
न च बिभ्यति केषांचित् तेभ्यो बिभ्यति केचन ।। ६ ।।

उस वनमें प्रवष्टि हो जानेपर द्विजातियोंको न हर्ष होता है, न शोक। न तो वे स्वयं किन्हीं प्राणियोंसे डरते हैं और न उन्हींसे दूसरे कोई प्राणी भय मानते हैं ।। ६ ।।

तस्मिन् वने सप्त महाद्रुमाश्च
फलानि सप्तातिथयश्च सप्त ।
सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च
दीक्षाश्च सप्तैतदरण्यरूपम् ।। ७ ।।

वहाँ सात बड़े-बड़े वृक्ष हैं, सात उन वृक्षोंके फल हैं तथा सात ही उन फलोंके भोक्ता अतिथि हैं। सात आश्रम हैं। वहाँ सात प्रकारकी समाधि और सात प्रकारकी दीक्षाएँ हैं। यही उस वनका स्वरूप है ।। ७ ।।

पञ्चवर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ।। ८ ।।

वहाँके वृक्ष पाँच प्रकारके रंगोंके दिव्य पुष्पों और फलोंकी सृष्टि करते हुए सब ओरसे वनको व्याप्त करके स्थित हैं ।। ८ ।।

सुवर्णानि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ।। ९ ।।

वहाँ दूसरे वृक्षोंने सुन्दर दो रंगवाले पुष्प और फल उत्पन्न करते हुए उस वनको सब ओरसे व्याप्त कर रखा है ।। ९ ।।

सुरभीणि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ।। १० ।।

तीसरे वृक्ष वहाँ सुगन्धयुक्त दो रंगवाले पुष्प और फल प्रदान करते हुए उस वनको व्याप्त करके स्थित हैं ।। १० ।।

सुरभीण्येकवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद् वनम् ।। ११ ।।

चौथे वृक्ष सुगन्धयुक्त केवल एक रंगवाले पुष्प और फलोंकी सृष्टि करते हुए उस वनके सब ओर फैले हैं ।। ११ ।।

बहून्यव्यक्तवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च ।
विसृजन्तौ महावृक्षौ तद् वनं व्याप्य तिष्ठतः ।। १२ ।।

वहाँ दो महावृक्ष बहुत-से अव्यक्त रंगवाले पुष्प और फलोंकी रचना करते हुए उस वनको व्याप्त करके स्थित हैं ।। १२ ।।

एको वह्निः सुमना ब्राह्मणोऽत्र
पञ्चेन्द्रियाणि समिधश्चात्र सन्ति ।
तेभ्यो मोक्षाः सप्त फलन्ति दीक्षा
गुणाः फलान्यतिथयः फलाशाः ।। १३ ।।

उस वनमें एक ही अग्नि है, जीव शुद्धचेता ब्राह्मण है, पाँच इन्द्रियाँ समिधाएँ हैं। उनसे जो मोक्ष प्राप्त होता है, वह सात प्रकारका है। इस यज्ञकी दीक्षाका फल अवश्य होता है।

गुण ही फल है। सात अतिथि ही फलोंके भोक्ता हैं ।। १३ ।।

आतिथ्यं प्रतिगृह्णन्ति तत्र तत्र महर्षयः ।
अचितेषु प्रलीनेषु तेष्वन्यद् रोचते वनम् ।। १४ ।।

वे महर्षिगण इस यज्ञमें आतिथ्य ग्रहण करते हैं और पूजा स्वीकार करते ही उनका लय हो जाता है। तत्पश्चात् वह ब्रह्मरूप वन विलक्षणरूपसे प्रकाशित होता है ।। १४ ।।

प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम् ।
ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ।। १५ ।।

उसमें प्रज्ञारूपी वृक्ष शोभा पाते हैं, मोक्षरूपी फल लगते हैं और शान्तिमयी छाया फैली रहती है। ज्ञान वहाँका आश्रयस्थान और तृप्ति जल है। उस वनके भीतर आत्मारूपी सूर्यका प्रकाश छाया रहता है ।। १५ ।।

येऽधिगच्छन्ति तं सन्तस्तेषां नास्ति भयं पुनः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च तस्य नान्तोऽधिगम्यते ।। १६ ।।

जो श्रेष्ठ पुरुष उस वनका आश्रय लेते हैं, उन्हें फिर कभी भय नहीं होता। वह वन ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर सब ओर व्याप्त है। उसका कहीं भी अन्त नहीं है ।। १६ ।।

सप्त स्त्रियस्तत्र वसन्ति सद्य-
स्त्ववाङ्मुखा भानुमत्यो जनित्र्यः ।
ऊर्ध्वं रसानाददते प्रजाभ्यः
सर्वान् यथा सत्यमनित्यता च ।। १७ ।।

वहाँ सात स्त्रियाँ निवास करती हैं, जो लज्जाके मारे अपना मुँह नीचेकी ओर किये रहती हैं। वे चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशित होती हैं। वे सबकी जननी हैं और वे उस वनमें रहनेवाली प्रजासे सब प्रकारके उत्तम रस उसी प्रकार ग्रहण करती हैं, जैसे अनित्यता सत्यको ग्रहण करती है ।। १७ ।।

तत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनस्तत्रोपयन्ति च ।
सप्त सप्तर्षयः सिद्धा वसिष्ठप्रमुखैः सह ।। १८ ।।

सात सिद्ध सप्तर्षि वसिष्ठ आदिके साथ उसी वनमें लीन होते और उसीसे उत्पन्न होते हैं ।। १८ ।।

यशो वर्चो भगश्चैव विजयः सिद्धतेजसः ।
एवमेवानुवर्तन्ते सप्त ज्योतींषि भास्करम् ।। १९ ।।

यश, प्रभा, भग (ऐश्वर्य), विजय, सिद्धि (ओज) और तेज—ये सात ज्योतियाँ उपर्युक्त आत्मारूपी सूर्यका ही अनुसरण करती हैं ।। १९ ।।

गिरयः पर्वताश्चैव सन्ति तत्र समासतः ।
नद्यश्च सरितो वारि वहन्त्यो ब्रह्मसम्भवम् ।। २० ।।

उस ब्रह्मतत्त्वमें ही गिरि, पर्वत, झरनें, नदी और सरिताएँ स्थित हैं, जो ब्रह्मजनित जल बहाया करती हैं ।। २० ।।

नदीनां सङ्गमश्चैव वैताने समुपह्वरे ।
स्वात्मतृप्ता यतो यान्ति साक्षादेव पितामहम् ।। २१ ।।

नदियोंका संगम भी उसीके अत्यन्त गूढ़ हृदयाकाशमें संक्षेपसे होता है। जहाँ योगरूपी यज्ञका विस्तार होता रहता है। वही साक्षात् पितामहका स्वरूप है। आत्मज्ञानसे तृप्त पुरुष उसीको प्राप्त होते हैं ।। २१ ।।

कृशाशाः सुव्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः ।
आत्मन्यात्मानमाविश्य ब्रह्माणं समुपासते ।। २२ ।।

जिनकी आशा क्षीण हो गयी है, जो उत्तम व्रतके पालनकी इच्छा रखते हैं। तपस्यासे जिनके सारे पाप दग्ध हो गये हैं। वे ही पुरुष अपनी बुद्धिको आत्मनिष्ठ करके परब्रह्मकी उपासना करते हैं ।। २२ ।।

शममप्यत्र शंसन्ति विद्यारण्यविदो जनाः ।
तदारण्यमभिप्रेत्य यथाधीरभिजायत ।। २३ ।।

विद्या (ज्ञान)-के ही प्रभावसे ब्रह्मरूपी वनका स्वरूप समझमें आता है। इस बातको जाननेवाले मनुष्य इस वनमें प्रवेश करनेके उद्देश्यसे शम (मनोनिग्रह)-की ही प्रशंसा करते हैं, जिससे बुद्धि स्थिर होती है ।। २३ ।।

एतदेवेदृशं पुण्यमरण्यं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिता ।। २४ ।।

ब्राह्मण ऐसे गुणवाले इस पवित्र वनको जानते हैं और तत्त्वदर्शीके उपदेशसे प्रबुद्ध हुए आत्मज्ञानी पुरुष उस ब्रह्मवनको शास्त्रतः जानकर शम आदि साधनोंके अनुष्ठानमें लग जाते हैं ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु सप्तविंशोऽध्यायः ।। २७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीतासम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २७ ।।

अष्टाविंशोऽध्यायः

ज्ञानी पुरुषकी स्थिति तथा अध्वर्यु और यतिका संवाद*

ब्राह्मण उवाच

गन्धान् न जिघ्रामि रसान् न वेद्मि
रूपं न पश्यामि न च स्पृशामि ।
न चापि शब्दान् विविधान् शृणोमि
न चापि संकल्पमुपैमि कंचित् ।। १ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—मैं न तो गन्धोंको सूँघता हूँ, न रसोंका आस्वादन करता हूँ, न रूपको देखता हूँ, न किसी वस्तुका स्पर्श करता हूँ, न नाना प्रकारके शब्दोंको सुनता हूँ और न कोई संकल्प ही करता हूँ ।। १ ।।

अर्थानिष्टान् कामयते स्वभावः
सर्वान् द्वेष्यान् प्रद्विषते स्वभावः ।
कामद्वेषायुद्भवतः स्वभावात्
प्राणापानौ जन्तुदेहान्निवेश्य ।। २ ।।

स्वभाव ही अभीष्ट पदार्थोंकी कामना रखता है, स्वभाव ही सम्पूर्ण द्वेष्य वस्तुओंके प्रति द्वेष करता है। जैसे प्राण और अपान स्वभावसे ही प्राणियोंके शरीरोंमें प्रविष्ट होकर अन्न-पाचन आदिका कार्य करते रहते हैं, उसी प्रकार स्वभावसे ही राग और द्वेषकी उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि बुद्धि आदि इन्द्रियाँ स्वभावसे ही पदार्थोंमें बर्त रही हैं ।। २ ।।

तेभ्यश्चान्यांस्तेषु नित्यांश्च भावान्
भूतात्मानं लक्षयेरन् शरीरे ।
तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि सक्तः कथंचित्
कामक्रोधाभ्यां जरया मृत्युना च ।। ३ ।।

इन बाह्य इन्द्रियों और विषयोंसे भिन्न जो स्वप्न और सुषुप्तिके वासनामय विषय एवं इन्द्रियाँ हैं तथा उनमें भी जो नित्यभाव हैं, उनसे भी विलक्षण जो भूतात्मा है, उसको शरीरके भीतर योगीजन देख पाते हैं। उसी भूतात्मामें स्थित हुआ मैं कहीं किसी तरह भी काम, क्रोध, जरा और मृत्युसे ग्रस्त नहीं होता ।। ३ ।।

अकामयानस्य च सर्वकामा-
नविद्विषाणस्य च सर्वदोषान् ।
न मे स्वभावेषु भवन्ति लेपा-
स्तोयस्य बिन्दोरिव पुष्करेषु ।। ४ ।।

मैं सम्पूर्ण कामनाओंमेंसे किसीकी कामना नहीं करता। समस्त दोषोंसे भी कभी द्वेष नहीं करता। जैसे कमलके पत्तोंपर जल-बिन्दुका लेप नहीं होता, उसी प्रकार मेरे स्वभावमें राग और द्वेषका स्पर्श नहीं है ।। ४ ।।

नित्यस्य चैतस्य भवन्त्यनित्या
निरीक्ष्यमाणस्य बहुस्वभावान् ।
न सज्जते कर्मसु भोगजालं
दिवीव सूर्यस्य मयूखजालम् ।। ५ ।।

जिनका स्वभाव बहुत प्रकारका है, उन इन्द्रिय आदिको देखनेवाले इस नित्यस्वरूप आत्माके लिये सब भोग अनित्य हो जाते हैं। अतः वे भोगसमुदाय उस विद्वान्‌को उसी प्रकार कर्मोंमें लिप्त नहीं कर सकते, जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंका समुदाय सूर्यको लिप्त नहीं कर सकता ।। ५ ।।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि ।। ६ ।।

यशस्विनि! इस विषयमें अध्वर्यु और यतिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, तुम उसे सुनो ।। ६ ।।

प्रोक्ष्यमाणं पशुं दृष्ट्वा यज्ञकर्मण्यथाब्रवीत् ।
यतिरध्वर्युमासीनो हिंसेयमिति कुत्सयन् ।। ७ ।।

किसी यज्ञ-कर्ममें पशुका प्रोक्षण होता देख वहीं बैठे हुए एक यतिने अध्वर्युसे उसकी निन्दा करते हुए कहा—‘यह हिंसा है (अतः इससे पाप होगा)’ ।। ७ ।।

तमध्वर्युः प्रत्युवाच नायं छागो विनश्यति ।
श्रेयसा योक्ष्यते जन्तुर्यदि श्रुतिरियं तथा ।। ८ ।।

अध्वर्युने यतिको इस प्रकार उत्तर दिया—‘यह बकरा नष्ट नहीं होगा। यदि **‘पशुर्वै नीयमानः’** इत्यादि श्रुति सत्य है तो यह जीव कल्याणका ही भागी होगा ।। ८ ।।

यो ह्यस्य पार्थिवो भागः पृथिवीं स गमिष्यति ।
यदस्य वारिजं किंचिदपस्तत् सम्प्रवेक्ष्यति ।। ९ ।।

‘इसके शरीरका जो पार्थिव भाग है, वह पृथ्वीमें विलीन हो जायगा। इसका जो कुछ भी जलीय भाग है, वह जलमें प्रविष्ट हो जायगा ।। ९ ।।

सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रं प्राणोऽस्य दिवमेव च ।
आगमे वर्तमानस्य न मे दोषोऽस्ति कश्चन ।। १० ।।

‘नेत्र सूर्यमें, कान दिशाओंमें और प्राण आकाशमें ही लयको प्राप्त होगा। शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करनेवाले मुझको कोई दोष नहीं लगेगा’ ।। १० ।।

यतिरुवाच

प्राणैर्वियोगे च्छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि ।
छागार्थे वर्तते यज्ञो भवतः किं प्रयोजनम् ।। ११ ।।

यतिने कहा—यदि तुम बकरेके प्राणोंका वियोग हो जानेपर भी उसका कल्याण ही देखते हो, तब तो यह यज्ञ उस बकरेके लिये ही हो रहा है। तुम्हारा इस यज्ञसे क्या प्रयोजन है? ।। ११ ।।

अत्र त्वां मन्यतां भ्राता पिता माता सखेति च ।
मन्त्रयस्वैनमुन्नीय परवन्तं विशेषतः ।। १२ ।।

श्रुति कहती है 'पशो! इस विषयमें तुझे तेरे भाई, पिता, माता और सखाकी अनुमति प्राप्त होनी चाहिये।' इस श्रुतिके अनुसार विशेषतः पराधीन हुए इस पशुको ले जाकर इसके पिता माता आदिसे अनुमति लो (अन्यथा तुझे हिंसाका दोष अवश्य प्राप्त होगा) ।। १२ ।।

एवमेवानुमन्येरंस्तान् भवान् द्रष्टुमर्हति ।
तेषामनुमतं श्रुत्वा शक्या कर्तुं विचारणा ।। १३ ।।

पहले तुम्हें इस पशुके उन सम्बन्धियोंसे मिलना चाहिये। यदि वे भी ऐसा ही करनेकी अनुमति दे दें, तब उनका अनुमोदन सुनकर तदनुसार विचार कर सकते हो ।। १३ ।।

प्राणा अप्यस्य छागस्य प्रापितास्ते स्वयोनिषु ।
शरीरं केवलं शिष्टं निश्चेष्टमिति मे मतिः ।। १४ ।।

तुमने इस छागकी इन्द्रियोंको उनके कारणोंमें विलीन कर दिया है। मेरे विचारसे अब तो केवल इसका निश्चेष्ट शरीर ही अवशिष्ट रह गया है ।। १४ ।।

इन्धनस्य तु तुल्येन शरीरेण विचेतसा ।
हिंसानिर्वेष्टुकामानामिन्धनं पशुसंज्ञितम् ।। १५ ।।

यह चेतनाशून्य जड शरीर ईंधनके ही समान है, उससे हिंसाके प्रायश्चित्तकी इच्छासे यज्ञ करनेवालोंके लिये ईंधन ही पशु है (अतः जो काम ईंधनसे होता है, उसके लिये पशु-हिंसा क्यों की जाय?) ।। १५ ।।

अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम् ।
यदहिंस्रं भवेत् कर्म तत् कार्यमिति विद्महे ।। १६ ।।

वृद्ध पुरुषोंका यह उपदेश है कि अहिंसा सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, जो कार्य हिंसासे रहित हो वही करने योग्य है, यही हमारा मत है ।। १६ ।।

अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतः परम् ।
शक्यं बहुविधं कर्तुं भवता कार्यदूषणम् ।। १७ ।।

इसके बाद भी यदि मैं कुछ कहूँ तो यही कह सकता हूँ कि सबको यह प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि 'मैं अहिंसा-धर्मका पालन करूँगा।' अन्यथा आपके द्वारा नाना प्रकारके कार्य-दोष सम्पादित हो सकते हैं ।। १७ ।।

अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते ।
प्रत्यक्षतः साधयामो न परोक्षमुपास्महे ।। १८ ।।

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना ही हमें सदा अच्छा लगता है। हम प्रत्यक्ष फलके साधक हैं, परोक्षकी उपासना नहीं करते हैं ।। १८ ।।

अध्वर्युरुवाच

भूमेर्गन्धगुणान् भुङ्क्षे पिबस्यापोमयान् रसान् ।
ज्योतिषां पश्यसे रूपं स्पृशस्यनिलजान् गुणान् ।। १९ ।।
शृणोष्याकाशजान् शब्दान् मनसा मन्यसे मतिम् ।
सर्वाण्येतानि भूतानि प्राणा इति च मन्यसे ।। २० ।।

अध्वर्युने कहा—यते! यह तो तुम मानते ही हो कि सभी भूतोंमें प्राण है, तो भी तुम पृथ्वीके गन्ध गुणोंका उपभोग करते हो, जलमय रसोंको पीते हो, तेजके गुण? रूपका दर्शन करते हो और वायुके गुण स्पर्शको छूते हो, आकाशजनित शब्दोंको सुनते हो और मनसे मतिका मनन करते हो ।। १९-२० ।।

प्राणादाने निवृत्तोऽसि हिंसायां वर्तते भवान् ।
नास्ति चेष्टा विना हिंसां किं वा त्वं मन्यसे द्विज ।। २१ ।।

एक ओर तो तुम किसी प्राणीके प्राण लेनेके कार्यसे निवृत्त हो और दूसरी ओर हिंसामें लगे हुए हो। द्विजवर! कोई भी चेष्टा हिंसाके बिना नहीं होती। फिर तुम कैसे समझते हो कि तुम्हारे द्वारा अहिंसाका ही पालन हो रहा है? ।। २१ ।।

यतिरुवाच

अक्षरं च क्षरं चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः ।
अक्षरं तत्र सद्भावः स्वभावः क्षर उच्यते ।। २२ ।।

यतिने कहा—आत्माके दो रूप हैं—एक अक्षर और दूसरा क्षर। जिसकी सत्ता तीनों कालोंमें कभी नहीं मिटती वह सत्स्वरूप अक्षर (अविनाशी) कहा गया है तथा जिसका सर्वथा और सभी कालोंमें अभाव है, वह क्षर कहलाता है ।। २२ ।।

प्राणो जिह्वा मनः सत्त्वं सद्भावो रजसा सह ।
भावैरेतैर्विमुक्तस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ।। २३ ।।
समस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः ।
समन्तात् परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ।। २४ ।।

प्राण, जिह्वा, मन और रजोगुणसहित सत्त्वगुण—ये रज अर्थात् मायासहित सद्भाव हैं। इन भावोंसे मुक्त निर्द्वन्द्व, निष्काम, समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रखनेवाले, ममतारहित, जितात्मा तथा सब ओरसे बन्धनशून्य पुरुषको कभी और कहीं भी भय नहीं होता ।। २३-२४ ।।

अध्वर्युरुवाच

सद्भिरेवेह संवासः कार्यो मतिमतां वर ।
भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम ।। २५ ।।
भगवन् भगवद्बुद्ध्या प्रतिपन्नो ब्रवीम्यहम् ।
व्रतं मन्त्रकृतं कर्तुर्नापराधोऽस्ति मे द्विज ।। २६ ।।

अध्वर्युने कहा—बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ यते! इस जगत्में आप-जैसे साधुपुरुषोंके साथ ही निवास करना उचित है। आपका यह मत सुनकर मेरी बुद्धिमें भी ऐसी ही प्रतीति हो रही है। भगवन्! विप्रवर! मैं आपकी बुद्धिसे ज्ञानसम्पन्न होकर यह बात कह रहा हूँ कि वेदमन्त्रोंद्वारा निश्चित किये हुए व्रतका ही मैं पालन कर रहा हूँ। अतः इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है ।। २५-२६ ।।

ब्राह्मण उवाच

उपपत्त्या यतिस्तूष्णीं वर्तमानस्ततः परम् ।
अध्वर्युरपि निर्मोहः प्रचचार महामखे ।। २७ ।।

ब्राह्मण कहते हैं—प्रिये! अध्वर्युकी दी हुई युक्तिसे वह यति चुप हो गया और फिर कुछ नहीं बोला। फिर अध्वर्यु भी मोहरहित होकर उस महायज्ञमें अग्रसर हुआ ।। २७ ।।

एवमेतादृशं मोक्षं सुसूक्ष्मं ब्राह्मणा विदुः ।
विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनार्थदर्शिना ।। २८ ।।

इस प्रकार ब्राह्मण मोक्षका ऐसा ही अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप बताते हैं और तत्त्वदर्शी पुरुषके उपदेशके अनुसार उस मोक्ष-धर्मको जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु अष्टाविंशोऽध्यायः ।। २८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २८ ।।

---

* यह अध्याय क्षेपक हो तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि इसमें यह बात कही गयी है कि बुद्धि और इन्द्रियोंमें राग-द्वेषके रहते हुए भी विद्वान् कर्मोंमें लिप्त नहीं होता और यज्ञमें पशु-हिंसाका दोष नहीं लगता। किंतु यह कथन युक्तिविरुद्ध है।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

परशुरामजीके द्वारा क्षत्रिय-कुलका संहार

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भाविनि ।। १ ।।

ब्राह्मणने कहा—भामिनि! इस विषयमें भी कार्तवीर्य और समुद्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ।। १ ।।

कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रवान् ।
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ।। २ ।।

पूर्वकालमें कार्तवीर्य अर्जुनके नामसे प्रसिद्ध एक राजा था, जिसकी एक हजार भुजाएँ थीं। उसने केवल धनुष-बाणकी सहायतासे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको अपने अधिकारमें कर लिया था ।। २ ।।

स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन् बलदर्पितः ।
अवाकिरन् शरशतैः समुद्रमिति नः श्रुतम् ।। ३ ।।

सुना जाता है, एक दिन राजा कार्तवीर्य समुद्रके किनारे विचर रहा था। वहाँ उसने अपने बलके घमण्डमें आकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षासे समुद्रको आच्छादित कर दिया ।। ३ ।।

तं समुद्रो नमस्कृत्य कृताञ्जलिरुवाच ह ।
मा मुञ्च वीर नाराचान् ब्रूहि किं करवाणि ते ।। ४ ।।
मदाश्रयाणि भूतानि त्वद्विसृष्टैर्महेषुभिः ।
वध्यन्ते राजशार्दूल तेभ्यो देह्यभयं विभो ।। ५ ।।

तब समुद्रने प्रकट होकर उसके आगे मस्तक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा—'वीरवर! राजसिंह! मुझपर बाणोंकी वर्षा न करो। बोलो, तुम्हारी किस आज्ञाका पालन करूँ? शक्तिशाली नरेश्वर! तुम्हारे छोड़े हुए इन महान् बाणोंसे मेरे अन्दर रहनेवाले प्राणियोंकी हत्या हो रही है। उन्हें अभय दान करो' ।। ४-५ ।।

अर्जुन उवाच

मत्समो यदि संग्रामे शरासनधरः क्वचित् ।
विद्यते तं समाचक्ष्व यः समासीत मां मृधे ।। ६ ।।

कार्तवीर्य अर्जुन बोला—समुद्र! यदि कहीं मेरे समान धनुर्धर वीर मौजूद हो, जो युद्धमें मेरा मुकाबला कर सके तो उसका पता बता दो। फिर मैं तुम्हें छोड़कर चला जाऊँगा ।। ६ ।।

समुद्र उवाच

महर्षिर्जमदग्निस्ते यदि राजन् परिश्रुतः ।
तस्य पुत्रस्तवातिथ्यं यथावत् कर्तुमर्हति ।। ७ ।।

समुद्रने कहा—राजन्! यदि तुमने महर्षि जमदग्निका नाम सुना हो तो उन्हींके आश्रमपर चले जाओ। उनके पुत्र परशुरामजी तुम्हारा अच्छी तरह सत्कार कर सकते हैं ।। ७ ।।

ततः स राजा प्रययौ क्रोधेन महता वृतः ।
स तमाश्रममागम्य राममेवान्वपद्यत ।। ८ ।।
स रामप्रतिकूलानि चकार सह बन्धुभिः ।
आयासं जनयामास रामस्य च महात्मनः ।। ९ ।।
ततस्तेजः प्रजज्वाल रामस्यामिततेजसः ।
प्रदहन् रिपुसैन्यानि तदा कमललोचने ।। १० ।।

ततः परशुमादाय स तं बाहुसहस्रिणम् ।
चिच्छेद सहसा रामो बहुशाखमिव द्रुमम् ।। ११ ।।

(ब्राह्मणने कहा—) कमलके समान नेत्रोंवाली देवि! तदनन्तर राजा कार्तवीर्य बड़े क्रोधमें भरकर महर्षि जमदग्निके आश्रमपर परशुरामजीके पास जा पहुँचा और अपने भाई-बन्धुओंके साथ उनके प्रतिकूल बर्ताव करने लगा। उसने अपने अपराधोंसे महात्मा परशुरामजीको उद्विग्न कर दिया। फिर तो शत्रु-सेनाको भस्म करनेवाला अमित तेजस्वी परशुरामजीका तेज प्रज्वलित हो उठा। उन्होंने अपना फरसा उठाया और हजार भुजाओंवाले उस राजाको अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्षकी भाँति सहसा काट डाला ।। ८—११ ।।

तं हतं पतितं दृष्ट्वा समेताः सर्वबान्धवाः ।
असीनादाय शक्तीश्च भार्गवं पर्यधावयन् ।। १२ ।।

उसे मरकर जमीनपर पड़ा देख उसके सभी बन्धु-बान्धव एकत्र हो गये तथा हाथोंमें तलवार और शक्तियाँ लेकर परशुरामजीपर चारों ओरसे टूट पड़े ।। १२ ।।

रामोऽपि धनुरादाय रथमारुह्य सत्वरः ।
विसृजन् शरवर्षाणि व्यधमत् पार्थिवं बलम् ।। १३ ।।

इधर परशुरामजी भी धनुष लेकर तुरंत रथपर सवार हो गये और बाणोंकी वर्षा करते हुए राजाकी सेनाका संहार करने लगे ।। १३ ।।

ततस्तु क्षत्रियाः केचिज्जामदग्न्यभयार्दिताः ।
विविशुर्गिरिदुर्गाणि मृगाः सिंहार्दिता इव ।। १४ ।।

उस समय बहुत-से क्षत्रिय परशुरामजीके भयसे पीड़ित हो सिंहके सताये हुए मृगोंकी भाँति पर्वतोंकी गुफाओंमें घुस गये ।। १४ ।।

तेषां स्वविहितं कर्म तद्भयान्नानुतिष्ठताम् ।
प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ।। १५ ।।

उन्होंने उनके डरसे अपने क्षत्रियोचित कर्मोंका भी त्याग कर दिया। बहुत दिनोंतक ब्राह्मणोंका दर्शन न कर सकनेके कारण वे धीरे-धीरे अपने कर्म भूलकर शूद्र हो गये ।। १५ ।।

एवं ते द्रविडाऽऽभीराः पुण्ड्राश्च शबरैः सह ।
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिणः ।। १६ ।।

इस प्रकार द्रविड, आभीर, पुण्ड्र और शबरोंके सहवासमें रहकर वे क्षत्रिय होते हुए भी धर्म-त्यागके कारण शूद्रकी अवस्थामें पहुँच गये ।। १६ ।।

ततश्च हतवीरासु क्षत्रियासु पुनः पुनः ।
द्विजैरुत्पादितं क्षत्रं जामदग्न्यो न्यकृन्तत ।। १७ ।।

तत्पश्चात् क्षत्रियवीरोंके मारे जानेपर ब्राह्मणोंने उनकी स्त्रियोंसे नियोगकी विधिके अनुसार पुत्र उत्पन्न किये, किंतु उन्हें भी बड़े होनेपर परशुरामजीने फरसेसे काट डाला ।। १७ ।।

एकविंशतिमेधान्ते रामं वागशरीरिणी ।
दिव्या प्रोवाच मधुरा सर्वलोकपरिश्रुता ।। १८ ।।

इस प्रकार एक-एक करके जब इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार हो गया, तब परशुरामजीको दिव्य आकाशवाणीने मधुर स्वरमें सब लोगोंके सुनते हुए यह कहा — ।। १८ ।।

राम राम निवर्तस्व कं गुणं तात पश्यसि ।
क्षत्रबन्धूनिमान् प्राणैर्विप्रयोज्य पुनः पुनः ।। १९ ।।

‘बेटा! परशुराम! इस हत्याके कामसे निवृत्त हो जाओ। परशुराम! भला बारंबार इन बेचारे क्षत्रियोंके प्राण लेनेमें तुम्हें कौन-सा लाभ दिखायी देता है?’ ।। १९ ।।

तथैव तं महात्मानमृचीकप्रमुखास्तदा ।
पितामहा महाभाग निवर्तस्वेत्यथाब्रुवन् ।। २० ।।

उस समय महात्मा परशुरामजीको उनके पितामह ऋचीक आदिने भी इसी प्रकार समझाते हुए कहा—‘महाभाग! यह काम छोड़ दो, क्षत्रियोंको न मारो’ ।। २० ।।

पितुर्वधममृष्यंस्तु रामः प्रोवाच तानृषीन् ।
नार्हन्तीह भवन्तो मां निवारयितुमित्युत ।। २१ ।।

पिताके वधको सहन न करते हुए परशुरामजीने उन ऋषियोंसे इस प्रकार कहा —‘आपलोगोंको मुझे इस कामसे निवारण नहीं करना चाहिये’ ।। २१ ।।

पितर ऊचुः

नार्हसे क्षत्रबन्धूंस्त्वं निहन्तुं जयतां वर ।
नेह युक्तं त्वया हन्तुं ब्राह्मणेन सता नृपान् ।। २२ ।।

पितर बोले—विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ परशुराम! बेचारे क्षत्रियोंको मारना तुम्हारे योग्य नहीं है; क्योंकि तुम ब्राह्मण हो, अतः तुम्हारे हाथसे राजाओंका वध होना उचित नहीं है ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।। २९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक उनतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। २९ ।।

त्रिंशोऽध्यायः

अलर्कके ध्यानयोगका उदाहरण देकर पितामहोंका परशुरामजीको समझाना और परशुरामजीका तपस्याके द्वारा सिद्धि प्राप्त करना

पितर ऊचुः

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
श्रुत्वा च तत् तथा कार्यं भवता द्विजसत्तम ।। १ ।।

पितरोंने कहा—ब्राह्मणश्रेष्ठ! इसी विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, उसे सुनकर तुम्हें वैसा ही आचरण करना चाहिये ।। १ ।।

अलर्को नाम राजर्षिरभवत् सुमहातपाः ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च महात्मा सुदृढव्रतः ।। २ ।।

पहलेकी बात है, अलर्क नामसे प्रसिद्ध एक राजर्षि थे, जो बड़े ही तपस्वी, धर्मज्ञ, सत्यवादी, महात्मा और दृढ़प्रतिज्ञ थे ।। २ ।।

ससागरान्तां धनुषा विनिर्जित्य महीमिमाम् ।
कृत्वा सुदुष्करं कर्म मनः सूक्ष्मे समादधे ।। ३ ।।

उन्होंने अपने धनुषकी सहायतासे समुद्रपर्यन्त इस पृथ्वीको जीतकर अत्यन्त दुष्कर पराक्रम कर दिखाया था। इसके पश्चात् उनका मन सूक्ष्मतत्त्वकी खोजमें लगा ।। ३ ।।

स्थितस्य वृक्षमूलेषु तस्य चिन्ता बभूव ह ।
उत्सृज्य सुमहत्कर्म सूक्ष्मं प्रति महामते ।। ४ ।।

महामते! वे बड़े-बड़े कर्मोंका आरम्भ त्यागकर एक वृक्षके नीचे जा बैठे और सूक्ष्मतत्त्वकी खोजके लिये इस प्रकार चिन्ता करने लगे ।। ४ ।।

अलर्क उवाच

मनसो मे बलं जातं मनो जित्वा ध्रुवो जयः ।
अन्यत्र बाणान् धास्यामि शत्रुभिः परिवारितः ।। ५ ।।

अलर्क कहने लगे—मुझे मनसे ही बल प्राप्त हुआ है, अतः वही सबसे प्रबल है। मनको जीत लेनेपर ही मुझे स्थायी विजय प्राप्त हो सकती है। मैं इन्द्रियरूपी शत्रुओंसे घिरा हुआ हूँ, इसलिये बाहरके शत्रुओंपर हमला न करके इन भीतरी शत्रुओंको ही अपने बाणोंका निशाना बनाऊँगा ।। ५ ।।

यदिदं चापलात् कर्म सर्वान् मर्त्यांश्चिकीर्षति ।
मनः प्रति सुतीक्ष्णाग्रानहं मोक्ष्यामि सायकान् ।। ६ ।।

यह मन चंचलताके कारण सभी मनुष्योंसे तरह-तरहके कर्म कराता है, अतः अब मैं मनपर ही तीखे बाणोंका प्रहार करूँगा ।। ६ ।।

मन उवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।। ७ ।।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।

मन बोला—अलर्क! तुम्हारे ये बाण मुझे किसी तरह नहीं बींध सकते। यदि इन्हें चलाओगे तो ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको चीर डालेंगे और मर्मस्थानोंके चीरे जानेपर तुम्हारी ही मृत्यु होगी; अतः तुम अन्य प्रकारके बाणोंका विचार करो, जिनसे तुम मुझे मार सकोगे ।। ७½ ।।

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ।। ८ ।।

यह सुनकर अलर्कने थोड़ी देरतक विचार किया, इसके बाद वे (नासिकाको लक्ष्य करके) बोले ।। ८ ।।

अलर्क उवाच

आघ्राय सुबहून् गन्धांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माद् घ्राणं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ।। ९ ।।

अलर्कने कहा—मेरी यह नासिका अनेक प्रकारकी सुगन्धियोंका अनुभव करके भी फिर उन्हींकी इच्छा करती है, इसलिये इन तीखे बाणोंको मैं इस नासिकापर ही छोड़ूँगा ।। ९ ।।

घ्राण उवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।। १० ।।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।

नासिका बोली—अलर्क! ये बाण मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इनसे तो तुम्हारे ही मर्म विदीर्ण होंगे और मर्मस्थानोंका भेदन हो जानेपर तुम्हीं मरोगे; अतः तुम दूसरे प्रकारके बाणोंका अनुसंधान करो, जिससे तुम मुझे मार सकोगे ।। १०½ ।।

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ।। ११ ।।

नासिकाका यह कथन सुनकर अलर्क कुछ देर विचार करनेके पश्चात् (जिह्वाको लक्ष्य करके) कहने लगे ।। ११ ।।

अलर्क उवाच

इयं स्वादून् रसान् भुक्त्वा तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माज्जिह्वां प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ।। १२ ।।

अलर्कने कहा—यह रसना स्वादिष्ट रसोंका उपभोग करके फिर उन्हें ही पाना चाहती है। इसलिये अब इसीके ऊपर अपने तीखे सायकोंका प्रहार करूँगा ।। १२ ।।

जिह्वोवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।। १३ ।।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।

जिह्वा बोली—अलर्क! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तो तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको बींधेंगे। मर्मस्थानोंके बिंध जानेपर तुम्हीं मरोगे। अतः दूसरे प्रकारके बाणोंका प्रबन्ध सोचो, जिनकी सहायतासे तुम मुझे मार सकोगे ।। १३½ ।।

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ।। १४ ।।

यह सुनकर अलर्क कुछ देरतक सोचते-विचारते रहे, फिर (त्वचापर कुपित होकर) बोले ।। १४ ।।

अलर्क उवाच

स्पृष्ट्वा त्वग्विविधान् स्पर्शांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्मात् त्वचं पाटयिष्ये विविधैः कङ्कपत्रिभिः ।। १५ ।।

अलर्कने कहा—यह त्वचा नाना प्रकारके स्पर्शोंका अनुभव करके फिर उन्हींकी अभिलाषा किया करती है, अतः नाना प्रकारके बाणोंसे मारकर इस त्वचाको ही विदीर्ण कर डालूँगा ।। १५ ।।

त्वगुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।। १६ ।।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।

त्वचा बोली—अलर्क! ये बाण किसी प्रकार मुझे अपना निशाना नहीं बना सकते। ये तो तुम्हारा ही मर्म विदीर्ण करेंगे और मर्म विदीर्ण होनेपर तुम्हीं मौतके मुखमें पड़ोगे। मुझे मारनेके लिये तो दूसरी तरहके बाणोंकी व्यवस्था सोचो, जिनसे तुम मुझे मार सकोगे ।। १६ १/२ ।।

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ।। १७ ।।

त्वचाकी बात सुनकर अलर्कने थोड़ी देरतक विचार किया, फिर (श्रोत्रको सुनाते हुए) कहा— ।। १७ ।।

अलर्क उवाच

श्रुत्वा तु विविधान् शब्दांस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माच्छ्रोत्रं प्रति शरान् प्रतिमुञ्चाम्यहं शितान् ।। १८ ।।

अलर्क बोले—यह श्रोत्र बारंबार नाना प्रकारके शब्दोंको सुनकर उन्हींकी अभिलाषा करता है, इसलिये मैं इन तीखे बाणोंको श्रोत्र-इन्द्रियके ऊपर चलाऊँगा ।। १८ ।।

श्रोत्रमुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति ततो हास्यसि जीवितम् ।। १९ ।।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।

श्रोत्रने कहा—अलर्क! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको विदीर्ण करेंगे। तब तुम जीवनसे हाथ धो बैठोगे। अतः तुम अन्य प्रकारके बाणोंकी खोज करो, जिनसे मुझे मार सकोगे ।। १९ १/२ ।।

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ।। २० ।।

यह सुनकर अलर्कने कुछ सोच-विचारकर (नेत्रको सुनाते हुए) कहा ।। २० ।।

अलर्क उवाच

दृष्ट्वा रूपाणि बहुशस्तानेव प्रतिगृध्यति ।
तस्माच्चक्षुर्हनिष्यामि निशितैः सायकैरहम् ।। २१ ।।

अलर्क बोले—यह आँख भी अनेकों बार विभिन्न रूपोंका दर्शन करके पुनः उन्हींको देखना चाहती है। अतः मैं इसे अपने तीखे तीरोंसे मार डालूँगा ।। २१ ।।

चक्षुरुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।। २२ ।।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।

आँखने कहा—अलर्क! ये बाण मुझे किसी प्रकार नहीं छेद सकते। ये तुम्हारे ही मर्मस्थानोंको बींध डालेंगे और मर्म विदीर्ण हो जानेपर तुम्हें ही जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा। अतः दूसरे प्रकारके सायकोंका प्रबन्ध सोचो, जिनकी सहायतासे तुम मुझे मार सकोगे ।। २२½ ।।

तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ।। २३ ।।

यह सुनकर अलर्कने कुछ देर विचार करनेके बाद (बुद्धिको लक्ष्य करके) यह बात कही ।। २३ ।।

अलर्क उवाच

इयं निष्ठा बहुविधा प्रज्ञया त्वध्यवस्यति ।
तस्माद् बुद्धिं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ।। २४ ।।

अलर्कने कहा—यह बुद्धि अपनी ज्ञानशक्तिसे अनेक प्रकारका निश्चय करती है, अतः इस बुद्धिपर ही अपने तीक्ष्ण सायकोंका प्रहार करूँगा ।। २४ ।।

बुद्धिरुवाच

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथंचन ।
तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ।
अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ।। २५ ।।

बुद्धि बोली—अलर्क! ये बाण मेरा किसी प्रकार भी स्पर्श नहीं कर सकते। इनसे तुम्हारा ही मर्म विदीर्ण होगा और मर्म विदीर्ण होनेपर तुम्हीं मरोगे। जिनकी सहायतासे मुझे मार सकोगे, वे बाण तो कोई और ही हैं। उनके विषयमें विचार करो ।। २५ ।।

ब्राह्मण उवाच

ततोऽलर्कस्तपो घोरं तत्रैवास्थाय दुष्करम् ।
नाध्यगच्छत् परं शक्त्या बाणमेतेषु सप्तसु ।। २६ ।।

ब्राह्मणने कहा—देवि! तदनन्तर अलर्कने उसी पेड़के नीचे बैठकर घोर तपस्या की, किंतु उससे मन-बुद्धिसहित पाँचों इन्द्रियोंको मारनेयोग्य किसी उत्तम बाणका पता न चला ।। २६ ।।

सुसमाहितचेतास्तु स ततोऽचिन्तयत् प्रभुः ।
स विचिन्त्य चिरं कालमलर्को द्विजसत्तम ।। २७ ।।
नाध्यगच्छत् परं श्रेयो योगान्मतिमतां वरः ।

तब वे सामर्थ्यशाली राजा एकाग्रचित्त होकर विचार करने लगे। विप्रवर! बहुत दिनोंतक निरन्तर सोचने-विचारनेके बाद बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राजा अलर्कको योगसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं प्रतीत हुआ ।। २७½ ।।

स एकाग्रं मनः कृत्वा निश्चलो योगमास्थितः ।। २८ ।।
इन्द्रियाणि जघानाशु बाणेनैकेन वीर्यवान् ।
योगेनात्मानमाविश्य सिद्धिं परमिकां गतः ।। २९ ।।

वे मनको एकाग्र करके स्थिर आसनसे बैठ गये और ध्यानयोगका साधन करने लगे। इस ध्यानयोगरूप एक ही बाणसे मारकर उन बलशाली नरेशने समस्त इन्द्रियोंको सहसा परास्त कर दिया। वे ध्यानयोगके द्वारा आत्मामें प्रवेश करके परम सिद्धि (मोक्ष)-को प्राप्त हो गये ।। २८-२९ ।।

विस्मितश्चापि राजर्षिरिमां गाथां जगाद ह ।
अहो कष्टं यदस्माभिः सर्वं बाह्यमनुष्ठितम् ।। ३० ।।
भोगतृष्णासमायुक्तैः पूर्वं राज्यमुपासितम् ।
इति पश्चान्मया ज्ञातं योगान्नास्ति परं सुखम् ।। ३१ ।।

इस सफलतासे राजर्षि अलर्कको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने इस गाथाका गान किया—'अहो! बड़े कष्टकी बात है कि अबतक मैं बाहरी कामोंमें ही लगा रहा और भोगोंकी तृष्णासे आबद्ध होकर राज्यकी ही उपासना करता रहा। ध्यानयोगसे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम सुखका साधन नहीं है, यह बात तो मुझे बहुत पीछे मालूम हुई है' ।। ३०-३१ ।।

इति त्वमनुजानीहि राम मा क्षत्रियान् जहि ।
तपो घोरमुपातिष्ठ ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ।। ३२ ।।

(पितामहोंने कहा—) बेटा परशुराम! इन सब बातोंको अच्छी तरह समझकर तुम क्षत्रियोंका नाश न करो। घोर तपस्यामें लग जाओ, उसीसे तुम्हें कल्याण प्राप्त होगा ।। ३२ ।।

इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः ।
आस्थितः सुमहाभागो ययौ सिद्धिं च दुर्गमाम् ।। ३३ ।।

अपने पितामहोंके इस प्रकार कहनेपर महान् सौभाग्यशाली जमदग्निनन्दन परशुरामजीने कठोर तपस्या की और इससे उन्हें परम दुर्लभ सिद्धि प्राप्त हुई ।। ३३ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रिंशोऽध्यायः ।। ३० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३० ।।

एकत्रिंशोऽध्यायः

राजा अम्बरीषकी गायी हुई आध्यात्मिक स्वराज्यविषयक गाथा

ब्राह्मण उवाच

त्रयो वै रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः ।
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ।। १ ।।
तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः ।
श्रमस्तन्द्रा च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ।। २ ।।

ब्राह्मणने कहा—देवि! इस संसारमें सत्त्व, रज और तम—ये तीन मेरे शत्रु हैं। ये वृत्तियोंके भेदसे नौ प्रकारके माने गये हैं। हर्ष, प्रीति और आनन्द—ये तीन सात्त्विक गुण हैं; तृष्णा, क्रोध और द्वेषभाव—से तीन राजस गुण हैं और थकावट, तन्द्रा तथा मोह—ये तीन तामस गुण हैं ।। १-२ ।।

एतान् निकृत्य धृतिमान् बाणसंघैरतन्द्रितः ।
जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ।। ३ ।।

शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, आलस्यहीन और धैर्यवान् पुरुष शम-दम आदि बाण-समूहोंके द्वारा इन पूर्वोक्त गुणोंका उच्छेद करके दूसरोंको जीतनेका उत्साह करते हैं ।। ३ ।।

अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः ।
अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशाम्यता ।। ४ ।।

इस विषयमें पूर्वकालकी बातोंके जानकार लोग एक गाथा सुनाया करते हैं। पहले कभी शान्तिपरायण महाराज अम्बरीषने इस गाथाका गान किया था ।। ४ ।।

समुदीर्णेषु दोषेषु बाध्यमानेषु साधुषु ।
जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः ।। ५ ।।

कहते हैं—जब दोषोंका बल बढ़ा और अच्छे गुण दबने लगे, उस समय महायशस्वी महाराज अम्बरीषने बलपूर्वक राज्यकी बागडोर अपने हाथमें ली ।। ५ ।।

स निगृह्यात्मनो दोषान् साधून् समभिपूज्य च ।
जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमा जगाद ह ।। ६ ।।

उन्होंने अपने दोषोंको दबाया और उत्तम गुणोंका आदर किया। इससे उन्हें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई और उन्होंने यह गाथा गायी— ।। ६ ।।

भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ।। ७ ।।

'मैंने बहुत-से दोषोंपर विजय पायी और समस्त शत्रुओंका नाश कर डाला; किंतु एक सबसे बड़ा दोष रह गया है। यद्यपि वह नष्ट कर देने योग्य है तो भी अबतक मैं नाश न कर सका ।। ७ ।।

यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते ।। ८ ।।

'उसीकी प्रेरणासे इस प्राणीको वैराग्य नहीं होता। तृष्णाके वशमें पड़ा हुआ मनुष्य संसारमें नीच कर्मोंकी ओर दौड़ता है, सचेत नहीं होता ।। ८ ।।

अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृत्य सुखमेधते ।। ९ ।।

'उससे प्रेरित होकर वह यहाँ नहीं करने-योग्य काम भी कर डालता है। उस दोषका नाम है लोभ। उसे ज्ञानरूपी तलवारसे काटकर मनुष्य सुखी होता है ।। ९ ।।

लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
स लिप्स्यमानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान् ।
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तमसान् गुणान् ।। १० ।।

'लोभसे तृष्णा और तृष्णासे चिन्ता पैदा होती है। लोभी मनुष्य पहले बहुत-से राजस गुणोंको पाता है और उनकी प्राप्ति हो जानेपर उसमें तामसिक गुण भी अधिक मात्रामें आ जाते हैं ।। १० ।।

स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः
पुनः पुनर्जायति कर्म चेहते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो
मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ।। ११ ।।

'उन गुणोंके द्वारा देह-बन्धनमें जकड़कर वह बारंबार जन्म लेता और तरह-तरहके कर्म करता रहता है। फिर जीवनका अन्त समय आनेपर उसके देहके तत्त्व विलग-विलग होकर बिखर जाते हैं और वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इसके बाद फिर जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़ता है ।। ११ ।।

तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं
निगृह्य धृत्याऽऽत्मनि राज्यमिच्छेत् ।
एतद् राज्यं नान्यदस्तीह राज्य-
मात्मैव राजा विदितो यथावत् ।। १२ ।।

'इसलिये इस लोभके स्वरूपको अच्छी तरह समझकर इसे धैर्यपूर्वक दबाने और आत्मराज्यपर अधिकार पानेकी इच्छा करनी चाहिये। यही वास्तविक स्वराज्य है। यहाँ दूसरा कोई राज्य नहीं है। आत्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वही राजा है' ।। १२ ।।

इति राज्ञाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना ।

अधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ।। १३ ।।

इस प्रकार यशस्वी अम्बरीषने आत्मराज्यको आगे रखकर एकमात्र प्रबल शत्रु लोभका उच्छेद करते हुए उपर्युक्त गाथाका गान किया था ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु एकत्रिंशोऽध्यायः ।। ३१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३१ ।।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणरूपधारी धर्म और जनकका ममत्वत्यागविषयक संवाद

ब्राह्मण उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनि ।। १ ।।

ब्राह्मणने कहा—भामिनि! इसी प्रसंगमें एक ब्राह्मण और राजा जनकके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ।। १ ।।

ब्राह्मणं जनको राजा सन्नं कस्मिंश्चिदागसि ।
विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ।। २ ।।

एक समय राजा जनकने किसी अपराधमें पकड़े हुए ब्राह्मणको दण्ड देते हुए कहा—'ब्रह्मन्! आप मेरे देशसे बाहर चले जाइये' ।। २ ।।

इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् ।
आचक्ष्व विषयं राजन् यावांस्तव वशे स्थितः ।। ३ ।।

यह सुनकर ब्राह्मणने उस श्रेष्ठ राजाको उत्तर दिया—'महाराज! आपके अधिकारमें जितना देश है, उसकी सीमा बताइये ।। ३ ।।

सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो ।
वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ।। ४ ।।

'सामर्थ्यशाली नरेश! इस बातको जानकर मैं दूसरे राजाके राज्यमें निवास करना चाहता हूँ और शास्त्रके अनुसार आपकी आज्ञाका पालन करना चाहता हूँ' ।। ४ ।।

इत्युक्तस्तु तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य न किंचित् प्रत्यभाषत ।। ५ ।।

उस यशस्वी ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर राजा जनक बार-बार गरम उच्छ्वास लेने लगे, कुछ जवाब न दे सके ।। ५ ।।

तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् ।
कश्मलं सहसागच्छद् भानुमन्तमिव ग्रहः ।। ६ ।।

वे अमित तेजस्वी राजा जनक बैठे हुए विचार कर रहे थे, उस समय उनको उसी प्रकार मोहने सहसा घेर लिया जैसे राहु ग्रह सूर्यको घेर लेता है ।। ६ ।।

समाश्वास्य ततो राजा विगते कश्मले तदा ।

ततो मुहूर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ।। ७ ।।

जब राजा जनक विश्राम कर चुके और उनके मोहका नाश हो गया, तब थोड़ी देर चुप रहनेके बाद वे ब्राह्मणसे बोले ।। ७ ।।

जनक उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन् पृथिवीमहम् ।। ८ ।।

जनकने कहा—ब्रह्मन्! यद्यपि बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्तके राज्यपर मेरा अधिकार है, तथापि जब मैं विचारदृष्टिसे देखता हूँ तो सारी पृथ्वीमें खोजनेपर भी कहीं मुझे अपना देश नहीं दिखायी देता ।। ८ ।।

नाधिगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया ।
नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ।। ९ ।।
नाध्यगच्छं तदा तस्यां तदा मे कश्मलोऽभवत् ।

जब पृथ्वीपर अपने राज्यका पता न पा सका तो मैंने मिथिलामें खोज की। जब वहाँसे भी निराशा हुई तो अपनी प्रजापर अपने अधिकारका पता लगाया, किंतु उनपर भी अपने अधिकारका निश्चय न हुआ, तब मुझे मोह हो गया ।। ९½ ।।

ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ।। १० ।।
तदा न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम ।
आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम ।। ११ ।।

फिर विचारके द्वारा उस मोहका नाश होनेपर मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि कहीं भी मेरा राज्य नहीं है अथवा सर्वत्र मेरा ही राज्य है। एक दृष्टिसे यह शरीर भी मेरा नहीं है और दूसरी दृष्टिसे यह सारी पृथ्वी ही मेरी है ।। १०-११ ।।

यथा मम तथान्येषामिति मन्ये द्विजोत्तम ।
उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदुष्यते ।। १२ ।।

यह जिस तरह मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है—ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिये द्विजोत्तम! अब आपकी जहाँ इच्छा हो, रहिये एवं जहाँ रहें, उसी स्थानका उपभोग कीजिये ।। १२ ।।

ब्राह्मण उवाच

पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति ।
ब्रूहि कां मतिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ।। १३ ।।

ब्राह्मणने कहा—राजन्! जब बाप-दादोंके समयसे ही मिथिला-प्रान्कके राज्यपर आपका अधिकार है, तब बताइये, किस बुद्धिका आश्रय लेकर आपने इसके प्रति अपनी ममताको त्याग दिया है? ।। १३ ।।

कां वै बुद्धिं समाश्रित्य सर्वो वै विषयस्तव ।
नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ।। १४ ।।

किस बुद्धिका आश्रय लेकर आप सर्वत्र अपना ही राज्य मानते हैं और किस तरह कहीं भी अपना राज्य नहीं समझते एवं किस तरह सारी पृथ्वीको ही अपना देश समझते हैं? ।। १४ ।।

जनक उवाच

अन्तवन्त इहावस्था विदिताः सर्वकर्मसु ।
नाध्यगच्छमहं तस्मान्ममेदमिति यद् भवेत् ।। १५ ।।

जनकने कहा—ब्रह्मन्! इस संसारमें कर्मोंके अनुसार प्राप्त होनेवाली सभी अवस्थाएँ आदि-अन्तवाली हैं, यह बात मुझे अच्छी तरह मालूम है। इसलिये मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं प्रतीत होती जो मेरी हो सके ।। १५ ।।

कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा ।
नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद् भवेत् ।। १६ ।।

वेद भी कहता है—'यह वस्तु किसकी है? यह किसका धन है?* (अर्थात् किसीका नहीं है)' इसलिये जब मैं अपनी बुद्धिसे विचार करता हूँ, तब कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जान पड़ती, जिसे अपनी कह सकें ।। १६ ।।

एतां बुद्धिं समाश्रित्य ममत्वं वर्जितं मया ।
शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा सर्वत्र विषयो मम ।। १७ ।।

इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मैंने मिथिलाके राज्यसे अपना ममत्व हटा लिया है। अब जिस बुद्धिका आश्रय लेकर मैं सर्वत्र अपना ही राज्य समझता हूँ, उसको सुनो ।। १७ ।।

नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ।। १८ ।।

मैं अपनी नासिकामें पहुँची हुई सुगन्धको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता। इसलिये मैंने पृथ्वीको जीत लिया है और वह सदा ही मेरे वशमें रहती है ।। १८ ।।

नाहमात्मार्थमिच्छामि रसानास्येऽपि वर्ततः ।
आपो मे निर्जितास्तस्माद् वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ।। १९ ।।

मुखमें पड़े हुए रसोंका भी मैं अपनी तृप्तिके लिये नहीं आस्वादन करना चाहता, इसलिये जलतत्त्वपर भी मैं विजय पा चुका हूँ और वह सदा मेरे अधीन रहता है ।। १९ ।।

नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः ।
तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ।। २० ।।

मैं नेत्रके विषयभूत रूप और ज्योतिका अपने सुखके लिये अनुभव नहीं करना चाहता, इसलिये मैंने तेजको जीत लिया है और वह सदा मेरे अधीन रहता है ।। २० ।।

नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शांस्त्वचि गताश्च ये ।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा ।। २१ ।।

तथा मैं त्वचाके संसर्गसे प्राप्त हुए स्पर्शजनित सुखोंको अपने लिये नहीं चाहता, अतः मेरे द्वारा जीता हुआ वायु सदा मेरे वशमें रहता है ।। २१ ।।

नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दान् श्रोत्रगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ।। २२ ।।

मैं कानोंमें पड़े हुए शब्दोंको भी अपने सुखके लिये नहीं ग्रहण करना चाहता, इसलिये वे मेरे द्वारा जीते हुए शब्द सदा मेरे अधीन रहते हैं ।। २२ ।।

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं मनोऽन्तरे ।
मनो मे निर्जितं तस्माद् वशे तिष्ठति नित्यदा ।। २३ ।।

मैं मनमें आये हुए मन्तव्य विषयोंका भी अपने सुखके लिये अनुभव करना नहीं चाहता, इसलिये मेरे द्वारा जीता हुआ मन सदा मेरे वशमें रहता है ।। २३ ।।

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह ।
इत्यर्थं सर्व एवेति समारम्भा भवन्ति वै ।। २४ ।।

मेरे समस्त कार्योंका आरम्भ देवता, पितर, भूत और अतिथियोंके निमित्त होता है ।। २४ ।।

ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् ।
त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम् ।। २५ ।।

जनककी ये बातें सुनकर वह ब्राह्मण हँसा और फिर कहने लगा—'महाराज! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं धर्म हूँ और आपकी परीक्षा लेनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारण करके यहाँ आया हूँ ।। २५ ।।

त्वमस्य ब्रह्मलाभस्य दुर्वारस्यानिवर्तिनः ।
सत्त्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः ।। २६ ।।

'अब मुझे निश्चय हो गया कि संसारमें सत्त्वगुणरूप नेमिसे घिरे हुए और कभी पीछेकी ओर न लौटनेवाले इस ब्रह्मप्राप्तिरूप दुर्निवार चक्रका संचालन करनेवाले एकमात्र आप ही हैं' ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु द्वात्रिंशोऽध्यायः ।। ३२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३२ ।।

* मा गृधः कस्य स्विद्धनम् । (ईशावास्योपनिषद् १)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

ब्राह्मणका पत्नीके प्रति अपने ज्ञाननिष्ठ स्वरूपका परिचय देना

ब्राह्मण उवाच

नाहं तथा भीरु चरामि लोके
यथा त्वं मां तर्जयसे स्वबुद्ध्या ।
विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेचरोऽस्मि
गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथास्मि ।। १ ।।
नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे च शुभाशुभे ।
मया व्याप्तमिदं सर्वं यत् किंचिज्जगतीगतम् ।। २ ।।

ब्राह्मणने कहा—भीरु! तुम अपनी बुद्धिसे मुझे जैसा समझकर फटकार रही हो, मैं वैसा नहीं हूँ। मैं इस लोकमें देहाभिमानियोंकी तरह आचरण नहीं करता। तुम मुझे पाप-पुण्यमें आसक्त देखती हो; किंतु वास्तवमें मैं ऐसा नहीं हूँ। मैं ब्राह्मण, जीवन्मुक्त महात्मा, वानप्रस्थ, गृहस्थ और ब्रह्मचारी सब कुछ हूँ। इस भूतलपर जो कुछ दिखायी देता है, वह सब मेरेद्वारा व्याप्त है ।। १-२ ।।

ये केचिज्जन्तवो लोके जङ्गमाः स्थावराश्च ह ।
तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ।। ३ ।।

संसारमें जो कोई भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उन सबका विनाश करनेवाला मृत्यु उसी प्रकार मुझे समझो, जिस प्रकार कि लकड़ियोंका विनाश करनेवाला अग्नि है ।। ३ ।।

राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथवापि त्रिविष्टपे ।
तथा बुद्धिरियं वेत्ति बुद्धिरेव धनं मम ।। ४ ।।

सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्गपर जो राज्य है, उसे यह बुद्धि जानती है; अतः बुद्धि ही मेरा धन है ।। ४ ।।

एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः ।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ।। ५ ।।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रममें स्थित ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जिस मार्गसे चलते हैं, उन ब्राह्मणोंका वह मार्ग एक ही है ।। ५ ।।

लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका बुद्धिरुपास्यते ।
नानालिङ्गाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ।। ६ ।।
ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा ।

क्योंकि वे लोग बहुत-से व्याकुलतारहित चिह्नोंको धारण करके भी एक बुद्धिका ही आश्रय लेते हैं। भिन्न-भिन्न आश्रमोंमें रहते हुए भी जिनकी बुद्धि शान्तिके साधनमें लगी हुई है, वे अन्तमें एकमात्र सत्स्वरूप ब्रह्मको उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्रको प्राप्त होती हैं ।। ६½ ।।

बुद्ध्यायं गम्यते मार्गः शरीरेण न गम्यते ।
आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ।। ७ ।।

यह मार्ग बुद्धिगम्य है, शरीरके द्वारा इसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। सभी कर्म आदि और अन्तवाले हैं तथा शरीर कर्मका हेतु है ।। ७ ।।

तस्मात् ते सुभगे नास्ति परलोककृतं भयम् ।
तद्भावभावनिरता ममैवात्मानमेष्यसि ।। ८ ।।

इसलिये देवि! तुम्हें परलोकके लिये तनिक भी भय नहीं करना चाहिये। तुम परमात्मभावकी भावनामें रत रहकर अन्तमें मेरे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाओगी ।। ८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३३ ।।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ब्राह्मण, ब्राह्मणी और क्षेत्रज्ञका रहस्य बतलाते हुए ब्राह्मणगीताका उपसंहार

ब्राह्मण्युवाच

नेदमल्पात्मना शक्यं वेदितुं नाकृतात्मना ।
बहु चाल्पं च संक्षिप्तं विप्लुतं च मतं मम ।। १ ।।

ब्राह्मणी बोली—नाथ! मेरी बुद्धि थोड़ी और अन्तःकरण अशुद्ध है, अतः आपने संक्षेपमें जिस महान् ज्ञानका उपदेश किया है, उस बिखरे हुए उपदेशको समझना मेरे लिये कठिन है। मैं तो उसे सुनकर भी धारण न कर सकी ।। १ ।।

उपायं तं मम ब्रूहि येनैषा लभ्यते मतिः ।
तन्मन्ये कारणं त्वत्तो यत एषा प्रवर्तते ।। २ ।।

अतः आप कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मुझे भी यह बुद्धि प्राप्त हो। मेरा विश्वास है कि वह उपाय आपहीसे ज्ञात हो सकता है ।। २ ।।

ब्राह्मण उवाच

अरणीं ब्राह्मणीं विद्धि गुरुरस्योत्तरारणिः ।
तपःश्रुतेऽभिमथ्नीतो ज्ञानाग्निर्जायते ततः ।। ३ ।।

ब्राह्मणने कहा—देवि! तुम बुद्धिको नीचेकी अरणी और गुरुको ऊपरकी अरणी समझो। तपस्या और वेद-वेदान्तके श्रवण-मननद्वारा मन्थन करनेपर उन अरणियोंसे ज्ञानरूप अग्नि प्रकट होती है ।। ३ ।।

ब्राह्मण्युवाच

यदिदं ब्राह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितम् ।
ग्रहीतुं येन यच्छक्यं लक्षणं तस्य तत् क्व नु ।। ४ ।।

ब्राह्मणीने पूछा—नाथ! क्षेत्रज्ञ नामसे प्रसिद्ध शरीरान्तर्वर्ती जीवात्माको जो ब्रह्मका स्वरूप बताया जाता है, यह बात कैसे सम्भव है? क्योंकि जीवात्मा ब्रह्मके नियन्त्रणमें रहता है और जो जिसके नियन्त्रणमें रहता है, वह उसका स्वरूप हो, ऐसा कभी नहीं देखा गया ।। ४ ।।

ब्राह्मण उवाच

अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य लक्ष्यते ।
उपायमेव वक्ष्यामि येन गृह्येत वा न वा ।। ५ ।।

ब्राह्मणने कहा—देवि! क्षेत्रज्ञ वास्तवमें देह-सम्बन्धसे रहित और निर्गुण है; क्योंकि उसके सगुण और साकार होनेका कोई कारण नहीं दिखायी देता। अतः मैं वह उपाय बताता हूँ जिससे वह ग्रहण किया जा सकता है अथवा नहीं भी किया जा सकता ।। ५ ।।

सम्यगुपायो दृष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते ।
कर्मबुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिङ्गैरिवाश्रितम् ।। ६ ।।

उस क्षेत्रका साक्षात्कार करनेके लिये पूर्ण उपाय देखा गया है। वह यह है कि उसे देखनेकी क्रियाका त्याग कर देनेसे भौंरोंके द्वारा गन्धकी भाँति वह अपने-आप जाना जाता है। किंतु कर्मविषयक बुद्धि वास्तवमें बुद्धि न होनेके कारण ज्ञानके सदृश प्रतीत होती है तो भी वह ज्ञान नहीं है। (अतः क्रियाद्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता) ।। ६ ।।

इदं कार्यमिदं नेति न मोक्षेषूपदिश्यते ।
पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते ।। ७ ।।

यह कर्तव्य है, यह कर्तव्य नहीं है—यह बात मोक्षके साधनोंमें नहीं कही जाती। जिन साधनोंमें देखने और सुननेवालेकी बुद्धि आत्माके स्वरूपमें निश्चित होती है, वही यथार्थ साधन है ।। ७ ।।

यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोंऽशान् प्रकल्पयेत् ।
अव्यक्तान् व्यक्तरूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ।। ८ ।।

यहाँ जितनी कल्पनाएँ की जा सकती हैं, उतने ही सैकड़ों और हजारों अव्यक्त और व्यक्तरूप अंशोंकी कल्पना कर लें ।। ८ ।।

सर्वान्ननार्थयुक्तांश्च सर्वान् प्रत्यक्षहेतुकान् ।
यतः परं न विद्येत ततोऽभ्यासे भविष्यति ।। ९ ।।

वे सभी प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाले पदार्थ वास्तविक अर्थयुक्त नहीं हो सकते। जिससे पर कुछ भी नहीं है, उसका साक्षात्कार तो 'नेति-नेति' अर्थात् यह भी नहीं, यह भी नहीं—इस अभ्यासके अन्तमें ही होगा ।। ९ ।।

श्रीभगवानुवाच

ततस्तु तस्या ब्राह्मण्या मतिः क्षेत्रज्ञसंक्षये ।
क्षेत्रज्ञानेन परतः क्षेत्रज्ञेभ्यः प्रवर्तते ।। १० ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—पार्थ! उसके बाद उस ब्राह्मणीकी बुद्धि, जो क्षेत्रज्ञके संशयसे युक्त थी, क्षेत्रके ज्ञानसे अतीत क्षेत्रज्ञोंसे युक्त हुई ।। १० ।।

अर्जुन उवाच

क्व नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क्व चासौ ब्राह्मणर्षभः ।
याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत ।। ११ ।।

अर्जुनने पूछा—श्रीकृष्ण! वह ब्राह्मणी कौन थी और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन था? अच्युत! जिन दोनोंके द्वारा यह सिद्धि प्राप्त की गयी, उन दोनोंका परिचय मुझे बताइये ।। ११ ।।

श्रीभगवानुवाच

मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम् ।
क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनंजय ।। १२ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! मेरे मनको तो तुम ब्राह्मण समझो और मेरी बुद्धिको ब्राह्मणी समझो एवं जिसको क्षेत्रज्ञ—ऐसा कहा गया है, वह मैं ही हूँ ।। १२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें ब्राह्मणगीताविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३४ ।।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनसे मोक्ष-धर्मका वर्णन—गुरु और शिष्यके संवादमें ब्रह्मा और महर्षियोंके प्रश्नोत्तर

अर्जुन उवाच

ब्रह्म यत्परमं ज्ञेयं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे रमते मतिः ।। १ ।।

अर्जुन बोले—भगवन्! इस समय आपकी कृपासे सूक्ष्म विषयके श्रवणमें मेरी बुद्धि लग रही है, अतः जाननेयोग्य परब्रह्मके स्वरूपकी व्याख्या कीजिये ।। १ ।।

वासुदेव उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ।। २ ।।
कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्यं संशितव्रतम् ।
शिष्यः पप्रच्छ मेधावी किंस्विच्छ्रेयः परंतप ।। ३ ।।
भगवन्तं प्रपन्नोऽहं निःश्रेयसपरायणः ।
याचे त्वां शिरसा विप्र यद् ब्रूयां ब्रूहि तन्मम ।। ४ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! इस विषयको लेकर गुरु और शिष्यमें जो मोक्षविषयक संवाद हुआ था, वह प्राचीन इतिहास बतलाया जा रहा है। एक दिन उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्रह्मवेत्ता आचार्य अपने आसनपर विराजमान थे। परंतप! उस समय किसी बुद्धिमान् शिष्यने उनके पास जाकर निवेदन किया—‘भगवन्! मैं कल्याणमार्गमें प्रवृत्त होकर आपकी शरणमें आया हूँ और आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर याचना करता हूँ कि मैं जो कुछ पूछूँ; उसका उत्तर दीजिये। मैं जानना चाहता हूँ कि श्रेय क्या है?’ ।। २-४ ।।

तमेवंवादिनं पार्थ शिष्यं गुरुरुवाच ह ।
सर्वं तु ते प्रवक्ष्यामि यत्र वै संशयो द्विज ॥ ५ ॥

पार्थ! इस प्रकार कहनेवाले उस शिष्यसे गुरु बोले—'विप्र! तुम्हारा जिस विषयमें संशय है, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा' ॥ ५ ॥

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठ गुरुणा गुरुवत्सलः ।
प्राञ्जलिः परिपप्रच्छ यत्तच्छृणु महामते ॥ ६ ॥

महाबुद्धिमान् कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! गुरुके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस गुरुके प्यारे शिष्यने हाथ जोड़कर जो कुछ पूछा, उसे सुनो ॥ ६ ॥

शिष्य उवाच

कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत्सत्यं ब्रूहि यत्परम् ।
कुतो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ ७ ॥

शिष्य बोला—विप्रवर! मैं कहाँसे आया हूँ और आप कहाँसे आये हैं? जगत्के चराचर जीव कहाँसे उत्पन्न हुए हैं? जो परमतत्त्व है, उसे आप यथार्थरूपसे बताइये ॥ ७ ॥

केन जीवन्ति भूतानि तेषामायुश्च किं परम् ।

किं सत्यं किं तपो विप्र के गुणाः सद्भिरीरिताः ।। ८ ।।

विप्रवर! सम्पूर्ण जीव किससे जीवन धारण करते हैं? उनकी अधिक-से-अधिक आयु कितनी है? सत्य और तप क्या है? सत्पुरुषोंने किन गुणोंकी प्रशंसा की है? ।। ८ ।।

के पन्थानः शिवाश्च स्युः किं सुखं किं च दुष्कृतम् ।
एतान् मे भगवन् प्रश्नान् याथातथ्येन सुव्रत ।। ९ ।।
वक्तुमर्हसि विप्रर्षे यथावदिह तत्त्वतः ।
त्वदन्यः कश्चन प्रश्नानेतान् वक्तुमिहार्हति ।। १० ।।
ब्रूहि धर्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं मम ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो भवाँल्लोकेषु गीयते ।। ११ ।।

कौन-कौन-से मार्ग कल्याण करनेवाले हैं? सर्वोत्तम सुख क्या है? और पाप किसे कहते हैं? श्रेष्ठ व्रतका आचरण करनेवाले गुरुदेव! मेरे इन प्रश्नोंका आप यथार्थरूपसे उत्तर देनेमें समर्थ हैं। धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ विप्रर्षे! यह सब जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है। इस विषयमें इन प्रश्नोंका तत्त्वतः यथार्थ उत्तर देनेमें आपसे अतिरिक्त दूसरा कोई समर्थ नहीं है। अतः आप ही बतलाइये; क्योंकि संसारमें मोक्षधर्मोंके तत्त्वके ज्ञानमें आप कुशल बताये गये हैं ।। ९—११ ।।

सर्वसंशयरांच्छेत्ता त्वदन्यो न च विद्यते ।
संसारभीरवश्चैव मोक्षकामास्तथा वयम् ।। १२ ।।

हम संसारसे भयभीत और मोक्षके इच्छुक हैं। आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं, जो सब प्रकारकी शंकाओंका निवारण कर सके ।। १२ ।।

वासुदेव उवाच

तस्मै सम्प्रतिपन्नाय यथावत् परिपृच्छते ।
शिष्याय गुणयुक्ताय शान्ताय प्रियवर्तिने ।। १३ ।।
छायाभूताय दान्ताय यतते ब्रह्मचारिणे ।
तान् प्रश्नानब्रवीत् पार्थ मेधावी स धृतव्रतः ।
गुरुः कुरुकुलश्रेष्ठ सम्यक् सर्वानरिंदम ।। १४ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुकुलश्रेष्ठ शत्रुदमन अर्जुन! वह शिष्य सब प्रकारसे गुरुकी शरणमें आया था। यथोचित रीतिसे प्रश्न करता था। गुणवान् और शान्त था। छायाकी भाँति साथ रहकर गुरुका प्रिय करता था तथा जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी था। उसके पूछनेपर मेधावी एवं व्रतधारी गुरुने पूर्वोक्त सभी प्रश्नोंका ठीक-ठीक उत्तर दिया ।। १३-१४ ।।

गुरुरुवाच

ब्रह्मणोक्तमिदं सर्वमृषिप्रवरसेवितम् ।

वेदविद्यां समाश्रित्य तत्त्वभूतार्थभावनम् ।। १५ ।।

गुरु बोले—बेटा! ब्रह्माजीने वेद-विद्याका आश्रय लेकर तुम्हारे पूछे हुए इन सभी प्रश्नोंका उत्तर पहलेसे ही दे रखा है तथा प्रधान-प्रधान ऋषियोंने उसका सदा ही सेवन किया है। उन प्रश्नोंके उत्तरमें परमार्थविषयक विचार किया गया है ।। १५ ।।

ज्ञानं त्वेव परं विद्मः संन्यासं तप उत्तमम् ।
यस्तु वेद निराबाधं ज्ञानतत्त्वं विनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ।। १६ ।।

हम ज्ञानको ही परब्रह्म और संन्यासको उत्तम तप जानते हैं। जो अबाधित ज्ञानतत्त्वको निश्चयपूर्वक जानकर अपनेको सब प्राणियोंके भीतर स्थित देखता है, वह सर्वगति (सर्वव्यापक) माना जाता है ।। १६ ।।

यो विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते ।। १७ ।।

जो विद्वान् संयोग और वियोगको तथा वैसे ही एकत्व और नानात्वको एक साथ तत्त्वतः जानता है, वह दुःखसे मुक्त हो जाता है ।। १७ ।।

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदभिमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। १८ ।।

जो किसी वस्तुकी कामना नहीं करता तथा जिसके मनमें किसी बातका अभिमान नहीं होता, वह इस लोकमें रहता हुआ ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।। १८ ।।

प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतविधानवित् ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ।। १९ ।।

जो माया और सत्त्वादि गुणोंके तत्त्वको जानता है, जिसे सब भूतोंके विधानका ज्ञान है और जो ममता तथा अहंकारसे रहित हो गया है, वह मुक्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं है ।। १९ ।।

अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहङ्कारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ।। २० ।।
महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
सदापर्णः सदापुष्पः सदा शुभफलोदयः ।। २१ ।।
अजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः ।
एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना ।। २२ ।।
छित्त्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी ।

यह देह एक वृक्षके समान है। अज्ञान इसका मूल अंकुर (जड़) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ खोखले हैं, पञ्च महाभूत उसके विशेष अवयव हैं और उन भूतोंके विशेष भेद उसकी टहनियाँ हैं। इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं। शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही उसमें सदा लगे रहनेवाले फल हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाहरूपसे सदा मौजूद रहनेवाला देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है। जो इसके तत्त्वको भलीभाँति जानकर ज्ञानरूपी उत्तम तलवारसे इसे काट डालता है, वह अमरत्वको प्राप्त होकर जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ।। २०—२२½ ।।

भूतभव्यभविष्यादि धर्मकामार्थनिश्चयम् ।
सिद्धसंघपरिज्ञातं पुराकल्पं सनातनम् ।। २३ ।।
प्रवक्ष्येऽहं महाप्राज्ञ पदमुत्तममद्य ते ।
बुद्ध्वा यदिह संसिद्धा भवन्तीह मनीषिणः ।। २४ ।।

महाप्राज्ञ! जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य आदिके तथा धर्म, अर्थ और कामके स्वरूपका निश्चय किया गया है, जिसको सिद्धोंके समुदायने भलीभाँति जाना है, जिसका पूर्वकालमें निर्णय किया गया था और बुद्धिमान् पुरुष जिसे जानकर सिद्ध हो जाते हैं, उस परम उत्तम सनातन ज्ञानका अब मैं तुमसे वर्णन करता हूँ ।। २३-२४ ।।

उपगम्यर्षयः पूर्वं जिज्ञासन्तः परस्परम् ।
प्रजापतिभरद्वाजौ गौतमो भार्गवस्तथा ।। २५ ।।
वसिष्ठः कश्यपश्चैव विश्वामित्रोऽत्रिरेव च ।
मार्गान् सर्वान् परिक्रम्य परिश्रान्ताः स्वकर्मभिः ।। २६ ।।
ऋषिमाङ्गिरसं वृद्धं पुरस्कृत्य तु ते द्विजाः ।
ददृशुर्ब्रह्मभवने ब्रह्माणं वीतकल्मषम् ।। २७ ।।
तं प्रणम्य महात्मानं सुखासीनं महर्षयः ।
पप्रच्छुर्विनयोपेता नैःश्रेयसमिदं परम् ।। २८ ।।

पहलेकी बात है, प्रजापति दक्ष, भरद्वाज, गौतम, भृगुनन्दन शुक्र, वसिष्ठ, कश्यप, विश्वामित्र और अत्रि आदि महर्षि अपने कर्मोंद्वारा समस्त मार्गोंमें भटकते-भटकते जब बहुत थक गये, तब एकत्रित हो आपसमें जिज्ञासा करते हुए परम वृद्ध अंगिरा मुनिको आगे करके ब्रह्मलोकमें गये और वहाँ सुखपूर्वक बैठे हुए पापरहित महात्मा ब्रह्माजीका दर्शन करके उन महर्षि ब्राह्मणोंने विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। फिर तुम्हारी ही तरह अपने परम कल्याणके विषयमें पूछा— ।। २५—२८ ।।

कथं कर्म क्रियात् साधु कथं मुच्येत किल्बिषात् ।
के नो मार्गाः शिवाश्च स्युः किं सत्यं किं च दुष्कृतम् ।। २९ ।।

‘श्रेष्ठ कर्म किस प्रकार करना चाहिये? मनुष्य पापसे किस प्रकार छूटता है? कौन-से मार्ग हमारे लिये कल्याणकारक हैं? सत्य क्या है? और पाप क्या है? ।। २९ ।।

कौ चोभौ कर्मणां मार्गौ प्राप्नुयुर्दक्षिणोत्तरौ ।
प्रलयं चापवर्गं च भूतानां प्रभवाप्ययौ ।। ३० ।।

‘तथा कर्मोंके वे दो मार्ग कौन-से हैं, जिनसे मनुष्य दक्षिणायन और उत्तरायण गतिको प्राप्त होते हैं? प्रलय और मोक्ष क्या हैं? एवं प्राणियोंके जन्म और मरण क्या हैं?’ ।। ३० ।।

इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठैर्यदाह प्रपितामहः ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणु शिष्य यथागमम् ।। ३१ ।।

शिष्य! उन मुनिश्रेष्ठ महर्षियोंके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उन प्रपितामह ब्रह्माजीने जो कुछ कहा, वह मैं तुम्हें शास्त्रानुसार पूर्णतया बताऊँगा, उसे सुनो ।। ३१ ।।

ब्रह्मोवाच

सत्याद् भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च ।
तपसा तानि जीवन्ति इति तद् वित्त सुव्रताः ।
स्वां योनिं समतिक्रम्य वर्तन्ते स्वेन कर्मणा ।। ३२ ।।

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षियो! ऐसा जानो कि चराचर जीव सत्यस्वरूप परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं और तपरूप कर्मसे जीवन धारण करते हैं। वे अपने कारणस्वरूप ब्रह्मको भूलकर अपने कर्मोंके अनुसार आवागमनके चक्रमें घूमते हैं ।। ३२ ।।

सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम् ।। ३३ ।।

क्योंकि गुणोंसे युक्त हुआ सत्य ही पाँच लक्षणोंवाला निश्चित किया गया है ।। ३३ ।।

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ।। ३४ ।।

ब्रह्म सत्य है, तप सत्य है और प्रजापति भी सत्य है। सत्यसे ही सम्पूर्ण भूतोंका जन्म हुआ है। यह भौतिक जगत् सत्यरूप ही है ।। ३४ ।।

तस्मात् सत्यमया विप्रा नित्यं योगपरायणाः ।
अतीतक्रोधसंतापा नियता धर्मसेविनः ।। ३५ ।।

इसलिये सदा योगमें लगे रहनेवाले, क्रोध और संतापसे दूर रहनेवाले तथा नियमोंका पालन करनेवाले धर्मसेवी ब्राह्मण सत्यका आश्रय लेते हैं ।। ३५ ।।

अन्योन्यनियतान् वैद्यान् धर्मसेतुप्रवर्तकान् ।
तानहं सम्प्रवक्ष्यामि शाश्वताल्लोँकभावनान् ।। ३६ ।।

जो परस्पर एक-दूसरेको नियमके अंदर रखनेवाले, धर्म-मर्यादाके प्रवर्तक और विद्वान् हैं, उन ब्राह्मणोंके प्रति मैं लोक-कल्याणकारी सनातन धर्मोंका उपदेश करूँगा ।। ३६ ।।

चातुर्विद्यं तथा वर्णाश्चातुराश्रमिकान् पृथक् ।
धर्ममेकं चतुष्पादं नित्यमाहुर्मनीषिणः ।। ३७ ।।

वैसे ही प्रत्येक वर्ण और आश्रमके लिये पृथक्-पृथक् चार विद्याओंका वर्णन करूँगा। मनीषी विद्वान् चार चरणोंवाले एक धर्मको नित्य बतलाते हैं ।। ३७ ।।

पन्थानं वः प्रवक्ष्यामि शिवं क्षेमकरं द्विजाः ।
नियतं ब्रह्मभावाय गतं पूर्वं मनीषिभिः ।। ३८ ।।

द्विजवरो! पूर्व कालमें मनीषी पुरुष जिसका सहारा ले चुके हैं और जो ब्रह्मभावकी प्राप्तिका सुनिश्चित साधन है, उस परम मंगलकारी कल्याणमय मार्गका तुमलोगोंके प्रति उपदेश करता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ।। ३८ ।।

गदन्तस्तं मयाद्येह पन्थानं दुर्विदं परम् ।
निबोधत महाभागा निखिलेन परं पदम् ।। ३९ ।।

सौभाग्यशाली प्रवक्तागण! उस अत्यन्त दुर्विज्ञेय मार्गको, जो कि पूर्णतया परमपदस्वरूप है, यहाँ अब मुझसे सुनो ।। ३९ ।।

ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम् ।
गार्हस्थ्यं तु द्वितीयं स्याद् वानप्रस्थमतः परम् ।
ततः परं तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम् ।। ४० ।।

आश्रमोंमें ब्रह्मचर्यको प्रथम आश्रम बताया गया है। गार्हस्थ्य दूसरा और वानप्रस्थ तीसरा आश्रम है, उसके बाद संन्यास आश्रम है। इसमें आत्मज्ञानकी प्रधानता होती है, अतः इसे परमपदस्वरूप समझना चाहिये ।। ४० ।।

ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः ।
नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान् न पश्यति ।। ४१ ।।

जबतक अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य इन ज्योति, आकाश, वायु, सूर्य, इन्द्र और प्रजापति आदिके यथार्थ तत्त्वको नहीं जानता (आत्मज्ञान होनेपर इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है) ।। ४१ ।।

तस्योपायं प्रवक्ष्यामि पुरस्तात् तं निबोधत ।
फलमूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने ।। ४२ ।।
वानप्रस्थं द्विजातीनां त्रयाणामुपदिश्यते ।
सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद् विधीयते ।। ४३ ।।

अतः पहले उस आत्मज्ञानका उपाय बतलाता हूँ, सब लोग सुनिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीन द्विजातियोंके लिये वानप्रस्थ आश्रमका विधान है। वनमें रहकर मुनिवृत्तिका सेवन करते हुए फल-मूल और वायुके आहारपर जीवन-निर्वाह करनेसे वानप्रस्थ-धर्मका पालन होता है। गृहस्थ-आश्रमका विधान सभी वर्णोंके लिये है ।। ४२-४३ ।।

श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्मं धीराः प्रचक्षते ।
इत्येवं देवयाना वः पन्थानः परिकीर्तिताः ।
सद्भिरध्यासिता धीरैः कर्मभिर्धर्मसेतवः ।। ४४ ।।

विद्वानोंने श्रद्धाको ही धर्मका मुख्य लक्षण बतलाया है। इस प्रकार आपलोगोंके प्रति देवयान मार्गोंका वर्णन किया गया है। धैर्यवान् संत-महात्मा अपने कर्मोंसे धर्म-मर्यादाका पालन करते हैं ।। ४४ ।।

एतेषां पृथगध्यास्ते यो धर्मं संशितव्रतः ।
कालात् पश्यति भूतानां सदैव प्रभवाप्ययौ ।। ४५ ।।

जो मनुष्य उत्तम व्रतका आश्रय लेकर उपर्युक्त धर्मोंमेंसे किसीका भी दृढ़तापूर्वक पालन करते हैं, वे कालक्रमसे सम्पूर्ण प्राणियोंके जन्म और मरणको सदा ही प्रत्यक्ष देखते हैं ।। ४५ ।।

अतस्तत्त्वानि वक्ष्यामि याथातथ्येन हेतुना ।
विषयस्थानि सर्वाणि वर्तमानानि भागशः ।। ४६ ।।

अब मैं यथार्थ युक्तिके द्वारा पदार्थोंमें विभागपूर्वक रहनेवाले सम्पूर्ण तत्त्वोंका वर्णन करता हूँ ।। ४६ ।।

महानात्मा तथाव्यक्तमहंकारस्तथैव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पञ्च च ।। ४७ ।।
विशेषाः पञ्चभूतानामिति सर्गः सनातनः ।
चतुर्विंशतिरेका च तत्त्वसंख्या प्रकीर्तिता ।। ४८ ।।

अव्यक्त प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पञ्च महाभूत और उनके शब्द आदि विशेष गुण—यह चौबीस तत्त्वोंका सनातन सर्ग है। तथा एक जीवात्मा-इस प्रकार तत्त्वोंकी संख्या पचीस बतलायी गयी है ।। ४७-४८ ।।

तत्त्वानामथ यो वेद सर्वेषां प्रभवाप्ययौ ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ।। ४९ ।।

जो इन सब तत्त्वोंकी उत्पत्ति और लयको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें धीर है और वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ।। ४९ ।।

तत्त्वानि यो वेदयते यथातथं
गुणांश्च सर्वानखिलांश्च देवताः ।
विधूतपाप्मा प्रविमुच्य बन्धनं
स सर्वलोकानमलान् समश्नुते ।। ५० ।।

जो सम्पूर्ण तत्त्वों, गुणों तथा समस्त देवताओंको यथार्थरूपसे जानता है, उसके पाप धुल जाते हैं और वह बन्धनसे मुक्त होकर सम्पूर्ण दिव्यलोकोंके सुखका अनुभव करता है ।। ५० ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।। ३५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३५ ।।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

ब्रह्माजीके द्वारा तमोगुणका, उसके कार्यका और फलका वर्णन

ब्रह्मोवाच

तदव्यक्तमनुद्रिक्तं सर्वव्यापि ध्रुवं स्थिरम् ।
नवद्वारं पुरं विद्यात् त्रिगुणं पञ्चधातुकम् ।। १ ।।
एकादशपरिक्षेपं मनोव्याकरणात्मकम् ।
बुद्धिस्वामिकमित्येतत् परमेकादशं भवेत् ।। २ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जब तीनों गुणोंकी साम्यावस्था होती है, उस समय उसका नाम अव्यक्त प्रकृति होता है। अव्यक्त समस्त प्राकृत कार्योंमें व्यापक, अविनाशी और स्थिर है। उपर्युक्त तीन गुणोंमें जब विषमता आती है, तब वे पञ्चभूतका रूप धारण करते हैं और उनसे नौ द्वारवाले नगर (शरीर)-का निर्माण होता है, ऐसा जानो। इस पुरमें जीवात्माको विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाली मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इनकी अभिव्यक्ति मनके द्वारा हुई है। बुद्धि इस नगरकी स्वामिनी है, ग्यारहवाँ मन दस इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है ।। १-२ ।।

त्रीणि स्रोतांसि यान्यस्मिन्नाप्यायन्ते पुनः पुनः ।
प्रनाड्यस्तिस्र एवैताः प्रवर्तन्ते गुणात्मिकाः ।। ३ ।।

इसमें जो तीन स्रोत (चित्तरूपी नदीके प्रवाह) हैं, वे उन तीन गुणमयी नाडियोंके द्वारा बार-बार भरे जाते एवं प्रवाहित होते हैं ।। ३ ।।

तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते ।
अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः ।। ४ ।।
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्तिनः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ।। ५ ।।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनोंको गुण कहते हैं। ये परस्पर एक-दूसरेके प्रतिद्वन्द्वी, एक-दूसरेके आश्रित, एक-दूसरेके सहारे टिकनेवाले, एक-दूसरेका अनुसरण करनेवाले और परस्पर मिश्रित रहनेवाले हैं। पाँचों महाभूत त्रिगुणात्मक हैं ।। ४-५ ।।

तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ।
रजसश्चापि सत्त्वं स्यात् सत्त्वस्य मिथुनं तमः ।। ६ ।।

तमोगुणका प्रतिद्वन्द्वी है सत्त्वगुण और सत्त्व-गुणका प्रतिद्वन्द्वी रजोगुण है। इसी प्रकार रजोगुणका प्रतिद्वन्द्वी सत्त्वगुण है और सत्त्वगुणका प्रतिद्वन्द्वी तमोगुण है ।। ६ ।।

नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते ।
नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते ।। ७ ।।

जहाँ तमोगुणको रोका जाता है, वहाँ रजोगुण बढ़ता है और जहाँ रजोगुणको दबाया जाता है, वहाँ सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है ।। ७ ।।

नैशात्मकं तमो विद्यात् त्रिगुणं मोहसंज्ञितम् ।
अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु ।
तामसं रूपमेतत् तु दृश्यते चापि सङ्गतम् ।। ८ ।।

तमको अन्धकाररूप और त्रिगुणमय समझना चाहिये। उसका दूसरा नाम मोह है। वह अधर्मको लक्षित करानेवाला और पाप करनेवाले लोगोंमें निश्चित रूपसे विद्यमान रहनेवाला है। तमोगुणका यह स्वरूप दूसरे गुणोंसे मिश्रित भी दिखायी देता है ।। ८ ।।

प्रकृत्यात्मकमेवाहू रजः पर्यायकारकम् ।
प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम् ।। ९ ।।

रजोगुणको प्रकृतिरूप बतलाया गया है, यह सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण है। सम्पूर्ण भूतोंमें इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। यह दृश्य जगत् उसीका स्वरूप है, उत्पत्ति या प्रवृत्ति ही उसका लक्षण है ।। ९ ।।

प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता ।
सात्त्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसम्मितम् ।। १० ।।

सब भूतोंमें प्रकाश, लघुता (गर्वहीनता) और श्रद्धा—यह सत्तवगुणका रूप है। गर्वहीनताकी श्रेष्ठ पुरुषोंने प्रशंसा की है ।। १० ।।

एतेषां गुणतत्त्वानि वक्ष्यन्ते तत्त्वहेतुभिः ।
समासव्यासयुक्तानि तत्त्वतस्तानि बोधत ।। ११ ।।

अब मैं तात्त्विक युक्तियोंद्वारा संक्षेप और विस्तारके साथ इन तीनों गुणोंके कार्योंका यथार्थ वर्णन करता हूँ, इन्हें ध्यान देकर सुनो ।। ११ ।।

सम्मोहोऽज्ञानमत्यागः कर्मणामविनिर्णयः ।
स्वप्नः स्तम्भो भयं लोभः स्वतः सुकृतदूषणम् ।। १२ ।।
अस्मृतिश्चाविपाकश्च नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
निर्विशेषत्वमन्धत्वं जघन्यगुणवृत्तिता ।। १३ ।।
अकृते कृतमानित्वमज्ञाने ज्ञानमानिता ।
अमैत्री विकृताभावो ह्यश्रद्धा मूढभावना ।। १४ ।।
अनार्जवमसंज्ञत्वं कर्म पापमचेतना ।
गुरुत्वं सन्नभावत्वमवशित्वमवाग्गतिः ।। १५ ।।
सर्व एते गुणा वृत्तास्तामसाः सम्प्रकीर्तिताः ।
ये चान्ये विहिता भावा लोकेऽस्मिन् भावसंज्ञिताः ।। १६ ।।

तत्र तत्र नियम्यन्ते सर्वे ते तामसा गुणाः ।

मोह, अज्ञान, त्यागका अभाव, कर्मोंका निर्णय न कर सकना, निद्रा, गर्व, भय, लोभ, स्वयं शुभ कर्मोंमें दोष देखना, स्मरणशक्तिका अभाव, परिणाम न सोचना, नास्तिकता, दुश्चरित्रता, निर्विशेषता (अच्छे-बुरेके विवेकका अभाव), इन्द्रियोंकी शिथिलता, हिंसा आदि निन्दनीय दोषोंमें प्रवृत्त होना, अकार्यको कार्य और अज्ञानको ज्ञान समझना, शत्रुता, काममें मन न लगाना, अश्रद्धा, मूर्खतापूर्ण विचार, कुटिलता, नासमझी, पाप करना, अज्ञान, आलस्य आदिके कारण देहका भारी होना, भाव-भक्तिका न होना, अजितेन्द्रियता और नीच कर्मोंमें अनुराग—ये सभी दुर्गुण तमोगुणके कार्य बतलाये गये हैं। इनके सिवा और भी जो-जो बातें इस लोकमें निषिद्ध मानी गयी हैं, वे सब तमोगुणी ही हैं ।। १२—१६½ ।।

परिवादकथा नित्यं देवब्राह्मणवैदिकी ।। १७ ।।
अत्यागश्चाभिमानश्च मोहो मन्युस्तथाक्षमा ।
मत्सरश्चैव भूतेषु तामसं वृत्तमिष्यते ।। १८ ।।

देवता, ब्राह्मण और वेदकी सदा निन्दा करना, दान न देना, अभिमान, मोह, क्रोध, असहनशीलता और प्राणियोंके प्रति मात्सर्य—ये सब तामस बर्ताव हैं ।। १७-१८ ।।

वृथारम्भा हि ये केचिद् वृथा दानानि यानि च ।
वृथा भक्षणमित्येतत् तामसं वृत्तमिष्यते ।। १९ ।।

(विधि और श्रद्धासे रहित) व्यर्थ कार्योंका आरम्भ करना, (देश-काल-पात्रका विचार न करके अश्रद्धा और अवहेलनापूर्वक) व्यर्थ दान देना तथा (देवता और अतिथिको दिये बिना) व्यर्थ भोजन करना भी तामसिक कार्य है ।। १९ ।।

अतिवादोऽतितिक्षा च मात्सर्यमभिमानिता ।
अश्रद्दधानता चैव तामसं वृत्तमिष्यते ।। २० ।।

अतिवाद, अक्षमा, मत्सरता, अभिमान और अश्रद्धाको भी तमोगुणका बर्ताव माना गया है ।। २० ।।

एवंविधाश्च ये केचिल्लोकेऽस्मित् पापकर्मिणः ।
मनुष्या भिन्नमर्यादास्ते सर्वे तामसाः स्मृताः ।। २१ ।।

संसारमें ऐसे बर्ताववाले और धर्मकी मर्यादा भंग करनेवाले जो भी पापी मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणी माने गये हैं ।। २१ ।।

तेषां योनीः प्रवक्ष्यामि नियताः पापकर्मिणाम् ।
अवाङ्निरयभावा ये तिर्यङ्निरयगामिनः ।। २२ ।।

ऐसे पापी मनुष्योंके लिये दूसरे जन्ममें जो योनियाँ निश्चित की हुई हैं, उनका परिचय दे रहा हूँ। उनमेंसे कुछ तो नीचे नरकोंमें ढकेले जाते हैं और कुछ तिर्यग्योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं ।। २२ ।।

स्थावराणि च भूतानि पशवो वाहनानि च ।

क्रव्यादा दन्दशूकाश्च कृमिकीटविहंगमाः ।। २३ ।।
अण्डजा जन्तवश्चैव सर्वे चापि चतुष्पदाः ।
उन्मत्ता बधिरा मूका ये चान्ये पापरोगिणः ।। २४ ।।
मग्नास्तमसि दुर्वृत्ताः स्वकर्मकृतलक्षणाः ।
अवाक्स्रोतस इत्येते मग्नास्तमसि तामसाः ।। २५ ।।

स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) जीव, पशु, वाहन, राक्षस, सर्प, कीड़े-मकोड़े, पक्षी, अण्डज प्राणी, चौपाये, पागल, बहरे, गूँगे तथा अन्य जितने पापमय रोगवाले (कोढ़ी आदि) मनुष्य हैं, वे सब तमोगुणमें डूबे हुए हैं। अपने कर्मोंके अनुसार लक्षणोंवाले ये दुराचारी जीव सदा दु:खमें निमग्न रहते हैं। उनकी चित्तवृत्तियोंका प्रवाह निम्न दशाकी ओर होता है, इसलिये उन्हें अर्वाक् स्रोता कहते हैं। वे तमोगुणमें निमग्न रहनेवाले सभी प्राणी तामसी हैं ।। २३—२५ ।।

तेषामुत्कर्षमुद्रेकं वक्ष्याम्यहमतः परम् ।
यथा ते सुकृताँल्लोकाँल्लभन्ते पुण्यकर्मिणः ।। २६ ।।

इसके पश्चात् मैं यह वर्णन करूँगा कि उन तामसी योनियोंमें गये हुए प्राणियोंका उत्थान और समृद्धि किस प्रकार होती है तथा वे पुण्यकर्मा होकर किस प्रकार श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होते हैं ।। २६ ।।

अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धा ये च कर्मणः ।
स्वकर्मनिरतानां च ब्राह्मणानां शुभैषिणाम् ।। २७ ।।
संस्कारेणोर्ध्वमायान्ति यतमानाः सलोकताम् ।
स्वर्गं गच्छन्ति देवानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।। २८ ।।

जो विपरीत योनियोंको प्राप्त प्राणी हैं, उनके पापकर्मोंका भोग पूरा हो जानेपर) जब पूर्वकृत पुण्य-कर्मोंका उदय होता है, तब वे शुभकर्मोंके संस्कारोंके प्रभावसे स्वकर्मनिष्ठ कल्याणकामी ब्राह्मणोंकी समानताको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनके कुलमें उत्पन्न होते हैं और वहाँ पुनः यत्नशील होकर ऊपर उठते हैं एवं देवताओंके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं—यह वेदकी श्रुति है ।। २७-२८ ।।

अन्यथा प्रतिपन्नास्ते विबुद्धाः स्वेषु कर्मसु ।
पुनरावृत्तिधर्माणस्ते भवन्तीह मानुषाः ।। २९ ।।

वे पुनरावृतिशील सकाम धर्मका आचरण करनेवाले मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जानेके अनन्तर जब वहाँसे दूसरी योनिमें जाते हैं तब यहाँ (मृत्युलोकमें) मनुष्य होते हैं ।। २९ ।।

पापयोनिं समापन्नाश्चाण्डाला मूकचूचुकाः ।
वर्णान् पर्यायशश्चापि प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम् ।। ३० ।।

उनमेंसे कोई-कोई (बचे हुए पापकर्मका फल भोगनेके लिये) पुनः पापयोनिसे युक्त चाण्डाल, गूँगे और अटककर बोलनेवाले होते हैं और प्रायः जन्म-जन्मान्तरमें उत्तरोत्तर उच्च वर्णको प्राप्त होते हैं ।। ३० ।।

शूद्रयोनिमतिक्रम्य ये चान्ये तामसा गुणाः ।
स्रोतोमध्ये समागम्य वर्तन्ते तामसे गुणे ।। ३१ ।।

कोई शूद्रयोनिसे आगे बढ़कर भी तामस गुणोंसे युक्त हो जाते हैं और उसके प्रवाहमें पड़कर तमोगुणमें ही प्रवृत्त रहते हैं ।। ३१ ।।

अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः ।
ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः ।। ३२ ।।

यह जो भोगोंमें आसक्त हो जाना है, यही महामोह बताया गया है। इस मोहमें पड़कर भोगोंका सुख चाहनेवाले ऋषि, मुनि और देवगण भी मोहित हो जाते हैं (फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?) ।। ३२ ।।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः ।
मरणं त्वन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते ।। ३३ ।।

तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), क्रोध नामवाला तामिस्र और मृत्युरूप अन्धतामिस्र—यह पाँच प्रकारकी तामसी प्रकृति बतलायी गयी है। क्रोधको ही तामिस्र कहते हैं ।। ३३ ।।

वर्णतो गुणतश्चैव योनितश्चैव तत्त्वतः ।
सर्वमेतत्तमो विप्राः कीर्तितं वो यथाविधि ।। ३४ ।।

विप्रवरो! वर्ण, गुण, योनि और तत्त्वके अनुसार मैंने आपसे तमोगुणका पूरा-पूरा यथावत् वर्णन किया ।। ३४ ।।

कोन्वेतद् बुध्यते साधु कोन्वेतत् साधु पश्यति ।
अतत्त्वे तत्त्वदर्शी यस्तमसस्तत्त्वलक्षणम् ।। ३५ ।।

जो अतत्त्वमें तत्त्व-दृष्टि रखनेवाला है, ऐसा कौन-सा मनुष्य इस विषयको अच्छी तरह देख और समझ सकता है? यह विपरीत दृष्टि ही तमोगुणकी यथार्थ पहचान है ।। ३५ ।।

तमोगुणा बहुविधाः प्रकीर्तिता
यथावदुक्तं च तमः परावरम् ।
नरो हि यो वेद गुणानिमान् सदा
स तामसैः सर्वगुणैः प्रमुच्यते ।। ३६ ।।

इस प्रकार तमोगुणके स्वरूप और उसके कार्यभूत नाना प्रकारके गुणोंका यथावत् वर्णन किया गया तथा तमोगुणसे प्राप्त होनेवाली ऊँची-नीची योनियाँ भी बतला दी गयीं। जो मनुष्य इन गुणोंको ठीक-ठीक जानता है, वह सम्पूर्ण तामसिक गुणोंसे सदा मुक्त रहता है ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३६ ।।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

रजोगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

ब्रह्मोवाच

रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तमाः ।
निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च राजसम् ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महाभाग्यशाली श्रेष्ठ महर्षियो! अब मैं तुम लोगोंसे रजोगुणके स्वरूप और उसके कार्यभूत गुणोंका यथार्थ वर्णन करूँगा। ध्यान देकर सुनो ।। १ ।।

सन्तापो रूपमायासः सुखदुःखे हिमातपौ ।
ऐश्वर्यं विग्रहः संधिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ।। २ ।।
बलं शौर्यं मदो रोषो व्यायामकलहावपि ।
ईर्ष्येप्सा पिशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ।। ३ ।।
वधबन्धपरिक्लेशाः क्रयो विक्रय एव च ।
निकृन्त छिन्धि भिन्धीति परमर्मावकर्तनम् ।। ४ ।।
उग्रं दारुणमाक्रोशः परच्छिद्रानुशासनम् ।
लोकचिन्तानुचिन्ता च मत्सरः परिभावनः ।। ५ ।।
मृषा वादो मृषा दानं विकल्पः परिभाषणम् ।
निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रस्तावः पारधर्षणम् ।। ६ ।।
परिचर्यानुशुश्रूषा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः ।
व्यूहो नयः प्रमादश्च परिवादः परिग्रहः ।। ७ ।।

संताप, रूप, आयास, सुख-दुःख, सर्दी, गर्मी, ऐश्वर्य, विग्रह, सन्धि, हेतुवाद, मनका प्रसन्न न रहना, सहनशक्ति, बल, शूरता, मद, रोष, व्यायाम, कलह, ईर्ष्या, इच्छा, चुगली खाना, युद्ध करना, ममता, कुटुम्बका पालन, वध, बन्धन, क्लेश, क्रय-विक्रय, छेदन, भेदन और विदारणका प्रयत्न, दूसरोंके मर्मको विदीर्ण कर डालनेकी चेष्टा, उग्रता, निष्ठुरता, चिल्लाना, दूसरोंके छिद्र बताना, लौकिक बातोंकी चिन्ता करना, पश्चात्ताप, मत्सरता, नाना प्रकारके सांसारिक भावोंसे भावित होना, असत्य भाषण, मिथ्या दान, संशयपूर्ण विचार, तिरस्कारपूर्वक बोलना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रताप, बलात्कार, स्वार्थबुद्धिसे रोगीकी परिचर्या और बड़ोंकी शुश्रूषा एवं सेवावृत्ति, तृष्णा, दूसरोंके आश्रित रहना, व्यवहार-कुशलता, नीति, प्रमाद (अपव्यय), परिवाद और परिग्रह—ये सभी रजोगुणके कार्य हैं ।। २—७ ।।

संस्कारा ये च लोकेषु प्रवर्तन्ते पृथक्पृथक् ।
नृषु नारीषु भूतेषु द्रव्येषु शरणेषु च ।। ८ ।।

संसारमें जो स्त्री, पुरुष, भूत, द्रव्य और गृह आदिमें पृथक्-पृथक् संस्कार होते हैं, वे भी रजोगुणकी ही प्रेरणाके फल हैं ।। ८ ।।

संतापोऽप्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये ।
आशीर्युक्तानि कर्माणि पौर्तानि विविधानि च ।। ९ ।।
स्वाहाकारो नमस्कारः स्वधाकारो वषट्क्रिया ।
याजनाध्यापने चोभे यजनाध्ययने अपि ।। १० ।।
दानं प्रतिग्रहश्चैव प्रायश्चित्तानि मङ्गलम् ।

संताप, अविश्वास, सकाम भावसे व्रत-नियमोंका पालन, काम्य कर्म, नाना प्रकारके पूर्त (वापी, कूप-तडाग आदि पुण्य) कर्म, स्वाहाकार, नमस्कार, स्वधाकार, वषट्कार, याजन, अध्यापन, यजन, अध्ययन, दान, प्रतिग्रह, प्रायश्चित्त और मंगलजनक कर्म भी राजस माने गये हैं ।। ९-१०½ ।।

इदं मे स्यादिदं मे स्यात्स्नेहो गुणसमुद्भवः ।। ११ ।।

'मुझे यह वस्तु मिल जाय, वह मिल जाय' इस प्रकार जो विषयोंको पानेके लिये आसक्तिमूलक उत्कण्ठा होती है, उसका कारण रजोगुण ही है ।। ११ ।।

अभिद्रोहस्तथा माया निकृतिर्मान एव च ।
स्तैन्यं हिंसा जुगुप्सा च परितापः प्रजागरः ।। १२ ।।
दम्भो दर्पोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम् ।
द्यूतं च जनवादश्च सम्बन्धाः स्त्रीकृताश्च ये ।। १३ ।।
नृत्यवादित्रगीतानां प्रसङ्गा ये च केचन ।
सर्व एते गुणा विप्रा राजसाः सम्प्रकीर्तिताः ।। १४ ।।

विप्रगण! द्रोह, माया, शठता, मान, चोरी, हिंसा, घृणा, परिताप, जागरण, दम्भ, दर्प, राग, सकाम भक्ति, विषय-प्रेम, प्रमोद, द्यूतक्रीड़ा, लोगोंके साथ विवाद करना, स्त्रियोंके लिये सम्बन्ध बढ़ाना, नाच-बाजे और गानमें आसक्त होना—से सब राजस गुण कहे गये हैं ।। १२—१४ ।।

भूतभव्यभविष्याणां भावानां भुवि भावनाः ।
त्रिवर्गनिरता नित्यं धर्मोऽर्थः काम इत्यपि ।। १५ ।।
कामवृत्ताः प्रमोदन्ते सर्वकामसमृद्धिभिः ।
अर्वाक्स्रोतस इत्येते मनुष्या रजसा वृताः ।। १६ ।।

जो इस पृथ्वीपर भूत, वर्तमान और भविष्य पदार्थोंकी चिन्ता करते हैं, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गके सेवनमें लगे रहते हैं, मनमाना बर्ताव करते हैं और सब प्रकारके भोगोंकी समृद्धिसे आनन्द मानते हैं, वे मनुष्य रजोगुणसे आवृत हैं, उन्हें अर्वाक्स्रोता कहते हैं ।। १५-१६ ।।

अस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ।

प्रेत्य भाविकमीहन्ते ऐहलौकिकमेव च ।
ददति प्रतिगृह्णन्ति तर्पयन्त्यथ जुह्वति ।। १७ ।।

ऐसे लोग इस लोकमें बार-बार जन्म लेकर विषयजनित आनन्दमें मग्न रहते हैं और इहलोक तथा परलोकमें सुख पानेका प्रयत्न किया करते हैं। अतः वे सकाम भावसे दान देते हैं, प्रतिग्रह लेते हैं तथा तर्पण और यज्ञ करते हैं ।। १७ ।।

रजोगुणा वो बहुधानुकीर्तिता
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च ।
नरोऽपि यो वेद गुणानिमान् सदा
स राजसैः सर्वगुणैर्विमुच्यते ।। १८ ।।

मुनिवरो! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे नाना प्रकारके राजस गुणों और तदनुकूल बर्तावोंका यथावत् वर्णन किया। जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा इन समस्त राजस गुणोंके बन्धनोंसे दूर रहता है ।। १८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।। ३७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३७ ।।

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

सत्त्वगुणके कार्यका वर्णन और उसके जाननेका फल

ब्रह्मोवाच

अतः परं प्रवक्ष्यामि तृतीयं गुणमुत्तमम् ।
सर्वभूतहितं लोके सतां धर्ममनिन्दितम् ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! अब मैं तीसरे उत्तम गुण (सत्त्वगुण)-का वर्णन करूँगा, जो जगत्‌में सम्पूर्ण प्राणियोंका हितकारी और श्रेष्ठ पुरुषोंका प्रशंसनीय धर्म है ।। १ ।।

आनन्दः प्रीतिरुद्रेकः प्राकाश्यं सुखमेव च ।
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्दधानता ।। २ ।।
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
अक्रोधश्चानसूया च शौचं दाक्ष्यं पराक्रमः ।। ३ ।।

आनन्द, प्रसन्नता, उन्नति, प्रकाश, सुख, कृपणताका अभाव, निर्भयता, संतोष, श्रद्धा, क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, किसीके दोष न देखना, पवित्रता, चतुरता और पराक्रम—ये सत्त्वगुणके कार्य हैं ।। २-३ ।।

मुधा ज्ञानं मुधा वृत्तं मुधा सेवा मुधा श्रमः ।
एवं यो युक्तधर्मः स्यात् सोऽमुत्रात्यन्तमश्नुते ।। ४ ।।

नाना प्रकारकी सांसारिक जानकारी, सकाम व्यवहार, सेवा और श्रम व्यर्थ है—ऐसा समझकर जो कल्याणके साधनमें लग जाता है, वह परलोकमें अक्षय सुखका भागी होता है ।। ४ ।।

निर्ममो निरहङ्कारो निराशीः सर्वतः समः ।
अकामभूत इत्येव सतां धर्मः सनातनः ।। ५ ।।

ममता, अहंकार और आशासे रहित होकर सर्वत्र समदृष्टि रखना और सर्वथा निष्काम हो जाना ही श्रेष्ठ पुरुषोंका सनातन धर्म है ।। ५ ।।

विश्रम्भो ह्रीस्तितिक्षा च त्याग शौचमतन्द्रिता ।
आनृशंस्यमसम्मोहो दया भूतेष्वपैशुनम् ।। ६ ।।
हर्षस्तुष्टिर्विस्मयश्च विनयः साधुवृत्तिता ।
शान्तिकर्मणि शुद्धिश्च शुभा बुद्धिर्विमोचनम् ।। ७ ।।
उपेक्षा ब्रह्मचर्यं च परित्यागश्च सर्वशः ।
निर्ममत्वमनाशीष्ट्वमपरिक्षतधर्मता ।। ८ ।।

विश्वास, लज्जा, तितिक्षा, त्याग, पवित्रता, आलस्यरहित होना, कोमलता, मोहका अभाव, प्राणियोंपर दया करना, चुगली न खाना, हर्ष, संतोष, गर्वहीनता, विनय, सद्‌बर्ताव,

शान्तिकर्ममें शुद्धभावसे प्रवृत्ति, उत्तम बुद्धि, आसक्तिसे छूटना, जगत्के भोगोंसे उदासीनता, ब्रह्मचर्य, सब प्रकारका त्याग, निर्ममता, फलकी कामना न करना तथा धर्मका निरन्तर पालन करते रहना—ये सब सत्त्वगुणके कार्य हैं ।। ६—८ ।।

मुधा दानं मुधा यज्ञो मुधाऽधीतं मुधा व्रतम् ।
मुधा प्रतिग्रहश्चैव मुधा धर्मो मुधा तपः ।। ९ ।।
एवंवृत्तास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन् सत्त्वसंश्रयाः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते धीराः साधुदर्शिनः ।। १० ।।

सकाम दान, यज्ञ, अध्ययन, व्रत, परिग्रह, धर्म और तप—ये सब व्यर्थ हैं—ऐसा समझकर जो उपर्युक्त बर्तावका पालन करते हुए इस जगत्में सत्यका आश्रय लेते हैं और वेदकी उत्पत्तिके स्थानभूत परब्रह्म परमात्मामें निष्ठा रखते हैं, वे ब्राह्मण ही धीर और साधुदर्शी माने गये हैं ।। ९-१० ।।

हित्वा सर्वाणि पापानि निःशोका ह्यथ मानवाः ।
दिवं प्राप्य तु ते धीराः कुर्वते वै ततस्तनूः ।। ११ ।।

वे धीर मनुष्य सब पापोंका त्याग करके शोकसे रहित हो जाते हैं और स्वर्गलोकमें जाकर वहाँके भोग भोगनेके लिये अनेक शरीर धारण कर लेते हैं ।। ११ ।।

ईशित्वं च वशित्वं च लघुत्वं मनसश्च ते ।
विकुर्वते महात्मानो देवास्त्रिदिवगा इव ।। १२ ।।
ऊर्ध्वस्रोतस इत्येते देवा वैकारिकाः स्मृताः ।

सत्त्वगुणसम्पन्न महात्मा स्वर्गवासी देवताओंकी भाँति ईशित्व, वशित्व और लघिमा आदि मानसिक सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं। वे ऊर्ध्वस्रोता और वैकारिक देवता माने गये हैं ।। १२½ ।।

विकुर्वन्तः प्रकृत्या वै दिवं प्राप्तास्ततस्ततः ।। १३ ।।
यद् यदिच्छन्ति तत् सर्वं भजन्ते विभजन्ति च ।

(योगबलसे) स्वर्गको प्राप्त होनेपर उनका चित्त उन-उन भोगजनित संस्कारोंसे विकृत होता है। उस समय वे जो-जो चाहते हैं, उस-उस वस्तुको पाते और बाँटते हैं ।। १३½ ।।

इत्येतत् सात्त्विकं वृत्तं कथितं वो द्विजर्षभाः ।
एतद् विज्ञाय लभते विधिवद् यद् यदिच्छति ।। १४ ।।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! इस प्रकार मैंने तुमलोगोंसे सत्त्वगुणके कार्योंका वर्णन किया। जो इस विषयको अच्छी तरह जानता है, वह जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीको पा लेता है ।। १४ ।।

प्रकीर्तिताः सत्त्वगुणा विशेषतो
यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च ।
नरस्तु यो वेद गुणानिमान् सदा

गुणान् स भुङ्क्ते न गुणैः स युज्यते ।। १५ ।।

यह सत्त्वगुणका विशेषरूपसे वर्णन किया गया तथा सत्त्वगुणका कार्य भी बताया गया। जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा गुणोंको भोगता है, किंतु उनसे बँधता नहीं ।। १५ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादेऽष्टत्रिंशोऽध्यायः ।। ३८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३८ ।।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सत्त्व आदि गुणोंका और प्रकृतिके नामोंका वर्णन

ब्रह्मोवाच

नैव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनैव सर्वशः ।
अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंका सर्वथा पृथक्‌रूपसे वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि ये तीनों गुण अविच्छिन्न (मिले हुए) देखे जाते हैं ।। १ ।।

अन्योन्यमथ रज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः ।
अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे तथान्योन्यानुवर्तिनः ।। २ ।।

ये सभी परस्पर रँगे हुए, एक-दूसरेसे अनुप्राणित, अन्योन्याश्रित तथा एक-दूसरेका अनुसरण करनेवाले हैं ।। २ ।।

यावत्सत्त्वं रजस्तावद् वर्तते नात्र संशयः ।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ।। ३ ।।

इसमें संदेह नहीं कि इस जगत्‌में जबतक सत्त्वगुण रहता है, तबतक रजोगुण भी रहता है एवं जबतक तमोगुण रहता है, तबतक सत्त्वगुण और रजोगुणकी भी सत्ता रहती है, ऐसा कहते हैं ।। ३ ।।

संहत्य कुर्वते यात्रां सहिताः संघचारिणः ।
संघातवृत्तयो ह्येते वर्तन्ते हेत्वहेतुभिः ।। ४ ।।

ये गुण किसी निमित्तसे अथवा बिना निमित्तके भी सदा साथ रहते हैं, साथ-ही-साथ विचरते हैं, समूह बनाकर यात्रा करते हैं और संघात (शरीर)-में मौजूद रहते हैं ।। ४ ।।

उद्रेकव्यतिरिक्तानां तेषामन्योन्यवर्तिनाम् ।
वक्ष्यते तद् यथा न्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः ।। ५ ।।

ऐसा होनेपर भी कहीं तो इन उन्नति और अवनतिके स्वभाववाले तथा एक-दूसरेका अनुसरण करनेवाले गुणोंमेंसे किसीकी न्यूनता देखी जाती है और कहीं अधिकता। सो किस प्रकार? यह बताया जाता है ।। ५ ।।

व्यतिरिक्तं तमो यत्र तिर्यग् भावगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ।। ६ ।।

तिर्यग् योनियोंमें जहाँ तमोगुणकी अधिकता होती है, वहाँ थोड़ा रजोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये ।। ६ ।।

उद्रिक्तं च रजो यत्र मध्यस्रोतोगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ।। ७ ।।

मध्यस्रोता अर्थात् मनुष्ययोनिमें, जहाँ रजोगुणकी मात्रा अधिक होती है, वहाँ थोड़ा तमोगुण और बहुत थोड़ा सत्त्वगुण समझना चाहिये ।। ७ ।।

उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्ध्वस्रोतोगतं भवेत् ।
अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं रजश्चाल्पतरं तथा ।। ८ ।।

इसी प्रकार ऊर्ध्वस्रोता यानी देवयोनियोंमें जहाँ सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, वहाँ तमोगुण अल्प और रजोगुण अल्पतर जानना चाहिये ।। ८ ।।

सत्त्वं वैकारिकी योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका ।
न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते ।। ९ ।।

सत्त्वगुण इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका कारण है, उसे वैकारिक हेतु मानते हैं। वह इन्द्रियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है। सत्त्वगुणसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं बताया गया है ।। ९ ।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणसंयुक्ता यान्त्यधस्तामसा जनाः ।। १० ।।

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद एवं आलस्य आदिमें स्थित हुए तामस मनुष्य अधोगतिको प्राप्त होते—नीच योनियों अथवा नरकोंमें पड़ते हैं ।। १० ।।

तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम् ।
इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः ।। ११ ।।

शूद्रमें तमोगुणकी, क्षत्रियमें रजोगुणकी और ब्राह्मणमें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है। इस प्रकार इन तीन वर्णोंमें मुख्यतासे ये तीन गुण रहते हैं ।। ११ ।।

दूरादपि हि दृश्यन्ते सहिताः संघचारिणः ।
तमः सत्त्वं रजश्चैव पृथक्त्वे नानुशुश्रुम ।। १२ ।।

एक साथ चलनेवाले ये गुण दूरसे भी मिले हुए ही दिखायी पड़ते हैं। तमोगुण, सत्त्वगुण और रजोगुण—ये सर्वथा पृथक्-पृथक् हों, ऐसा कभी नहीं सुना ।। १२ ।।

दृष्ट्वा त्वादित्यमुद्यन्तं कुचराणां भयं भवेत् ।
अध्वगाः परितप्येयुरुष्णतो दुःखभागिनः ।। १३ ।।

सूर्यको उदित हुआ देखकर दुराचारी मनुष्योंको भय होता है और धूपसे दुःखित राहगीर संतप्त होते हैं ।। १३ ।।

आदित्यः सत्त्वमुद्रिक्तं कुचरास्तु तथा तमः ।
परितापोऽध्वगानां च रजसो गुण उच्यते ।। १४ ।।

क्योंकि सूर्य सत्त्वगुण प्रधान हैं, दुराचारी मनुष्य तमोगुण प्रधान हैं एवं राहगीरोंको होनेवाला संताप रजोगुण प्रधान कहा गया है ।। १४ ।।

प्राकाश्यं सत्त्वमादित्यः संतापो रजसो गुणः ।
उपप्लवस्तु विज्ञेयस्तामसस्तस्य पर्वसु ।। १५ ।।

सूर्यका प्रकाश सत्त्वगुण है, उनका ताप रजोगुण है और अमावास्याके दिन जो उनपर ग्रहण लगता है, वह तमोगुणका कार्य है ।। १५ ।।

एवं ज्योतिष्षु सर्वेषु निवर्तन्ते गुणास्त्रयः ।
पर्यायेण च वर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ।। १६ ।।

इस प्रकार सभी ज्योतियोंमें तीनों गुण क्रमशः वहाँ-वहाँ उस-उस प्रकारसे प्रकट होते और विलीन होते रहते हैं ।। १६ ।।

स्थावरेषु तु भावेषु तिर्यग्भावगतं तमः ।
राजसास्तु विवर्तन्ते स्नेहभावस्तु सात्त्विकः ।। १७ ।।

स्थावर प्राणियोंमें तमोगुण अधिक होता है, उनमें जो बढ़नेकी क्रिया है वह राजस है और जो चिकनापन है, वह सात्त्विक है ।। १७ ।।

अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते ।
मासार्धमासवर्षाणि ऋतवः संधयस्तथा ।। १८ ।।

गुणोंके भेदसे दिनको भी तीन प्रकारका समझना चाहिये। रात भी तीन प्रकारकी होती है तथा मास, पक्ष, वर्ष, ऋतु और संध्याके भी तीन-तीन भेद होते हैं ।। १८ ।।

त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्तते ।
त्रिधा लोकास्त्रिधा देवास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ।। १९ ।।

गुणोंके भेदसे तीन प्रकारसे दान दिये जाते हैं। तीन प्रकारका यज्ञानुष्ठान होता है। लोक, देव, विद्या और गति भी तीन-तीन प्रकारकी होती है ।। १९ ।।

भूतं भव्यं भविष्यं च धर्मोऽर्थः काम एव च ।
प्राणापानावुदानश्चाप्येत एव त्रयो गुणाः ।। २० ।।

भूत, वर्तमान, भविष्य, धर्म, अर्थ, काम, प्राण, अपान और उदान—ये सब त्रिगुणात्मक ही हैं ।। २० ।।

पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ।
यत्किंचिदिह लोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः ।। २१ ।।

इस जगत्में जो कोई भी वस्तु भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे उपलब्ध होती है, वह सब त्रिगुणमय है ।। २१ ।।

त्रयो गुणाः प्रवर्तन्ते ह्यव्यक्ता नित्यमेव तु ।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणसर्गः सनातनः ।। २२ ।।

सर्वत्र तीनों गुणोंकी ही सत्ता है। ये तीनों अव्यक्त और प्रवाहरूपसे नित्य भी हैं। सत्त्व, रज और तम—इन गुणोंकी सृष्टि सनातन है ।। २२ ।।

तमो व्यक्तं शिवं धाम रजो योनिः सनातनः ।

प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ ।। २३ ।।
अनुद्रिक्तमनूनं वाप्यकम्पमचलं ध्रुवम् ।
सदसच्चैव तत् सर्वमव्यक्तं त्रिगुणा स्मृतम् ।
ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः ।। २४ ।।

प्रकृतिको तम, व्यकत, शिव, धाम, रज, योनि, सनातन, प्रकृति, विकार, प्रलय, प्रधान प्रभव, अप्यय, अनुद्रिक्त, अनून, अकम्प, अचल, ध्रुव, सत्, असत्, अव्यक्त और त्रिगुणात्मक कहते हैं। अध्यात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले लोगोंको इन नामोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।। २३-२४ ।।

अव्यक्तनामानि गुणांश्च तत्त्वतो
यो वेद सर्वाणि गतीश्च केवलाः ।
विमुक्तदेहः प्रविभागतत्त्ववित्
स मुच्यते सर्वगुणैर्निरामयः ।। २५ ।।

जो मनुष्य प्रकृतिके इन नामों, सत्त्वादि गुणों और सम्पूर्ण विशुद्ध गतियोंको ठीक-ठीक जानता है, वह गुण-विभागके तत्त्वका ज्ञाता है। उसके ऊपर सांसारिक दुःखोंका प्रभाव नहीं पड़ता। वह देह-त्यागके पश्चात् सम्पूर्ण गुणोंके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ।। २५ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ३९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ३९ ।।

चत्वारिंशोऽध्यायः

महत्तत्त्वके नाम और परमात्मतत्त्वको जाननेकी महिमा

ब्रह्मोवाच

अव्यक्तात् पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः ।
आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते ।। १ ।।

ब्रह्माजी बोले—महर्षिगण! पहले अव्यक्त प्रकृतिसे महान् आत्मस्वरूप महाबुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ। यही सब गुणोंका आदि तत्त्व और प्रथम सर्ग कहा जाता है ।। १ ।।

महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ।। २ ।।
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते ।
तं जानन् ब्राह्मणो विद्वान् प्रमोहं नाधिगच्छति ।। ३ ।।

महान् आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शम्भु, वीर्यवान्, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति, स्मृति—इन पर्यायवाची नामोंसे महान् आत्माकी पहचान होती है। उसके तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण कभी मोहमें नहीं पड़ता ।। २-३ ।।

सर्वतःपाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः ।
सर्वतःश्रुतिमाँल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति ।। ४ ।।

परमात्मा सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है ।। ४ ।।

महाप्रभावः पुरुषः सर्वस्य हृदि निश्रितः ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ।। ५ ।।

सबके हृदयमें विराजमान परम पुरुष परमात्माका प्रभाव बहुत बड़ा है। अणिमा, लघिमा और प्राप्ति आदि सिद्धियाँ उसीके स्वरूप हैं। वह सबका शासन करनेवाला, ज्योतिर्मय और अविनाशी है ।। ५ ।।

तत्र बुद्धिविदो लोकाः सद्भावनिरताश्च ये ।
ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसंधा जितेन्द्रियाः ।। ६ ।।
ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः ।
प्रसन्नमनसो धीरा निर्ममा निरहंकृताः ।। ७ ।।
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत ।
आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गतिमुत्तमाम् ।। ८ ।।

संसारमें जो कोई भी मनुष्य बुद्धिमान्, सद्भाव-परायण, ध्यानी, नित्य योगी, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, ज्ञानवान् लोभहीन, क्रोधको जीतनेवाले, प्रसन्नचित्त, धीर तथा ममता और अहंकारसे रहित हैं, वे सब मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं। जो सर्वश्रेष्ठ परमात्माकी महिमाको जानता है, उसे पुण्यदायक उत्तम गति मिलती है ।। ६—८ ।।

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।। ९ ।।

पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ तेज—ये पाँचों महाभूत अहंकारसे उत्पन्न होते हैं ।। ९ ।।

तेषु भूतानि युज्यन्ते महाभूतेषु पञ्चसु ।
ते शब्दस्पर्शरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ।। १० ।।

उन पाँचों महाभूतों तथा उनके कार्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिसे सम्पूर्ण प्राणी युक्त हैं ।। १० ।।

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदुत्पद्यते भयम् ।। ११ ।।
स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति ।

धैर्यशाली महर्षियो! जब पञ्चमहाभूतोंके विनाशके समय प्रलयकाल उपस्थित होता है, उस समय समस्त प्राणियोंको महान् भयका सामना करना पड़ता है। किंतु सम्पूर्ण लोगोंमें जो आत्मज्ञानी धीर पुरुष है, वह उस समय भी मोहित नहीं होता ।। ११½ ।।

विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयम्भूर्भवति प्रभुः ।। १२ ।।
एवं हि यो वेद गुहाशयं प्रभुं
परं पुराणं पुरुषं विश्वरूपम् ।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं
स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ।। १३ ।।

आदिसर्गमें सर्वसमर्थ स्वयम्भू विष्णु ही स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट होते है। जो इस प्रकार बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, विश्वरूप, पुराणपुरुष, हिरण्मय देव और ज्ञानियोंकी परम गतिरूप परम प्रभुको जानता है, वह बुद्धिमान् बुद्धिकी सीमाके पार पहुँच जाता है ।। १२-१३ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४० ।।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अहंकारकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका वर्णन

ब्रह्मोवाच

य उत्पन्नो महान् पूर्वमहंकारः स उच्यते ।
अहमित्येव सम्भूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जो पहले महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ था, वही अहंकार कहा जाता है। जब वह अहंरूपमें प्रादुर्भूत होता है, तब वह दूसरा सर्ग कहलाता है ।। १ ।।

अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः ।
तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः ।। २ ।।

यह अहंकार भूतादि विकारोंका कारण है, इसलिये वैकारिक माना गया है। यह रजोगुणका स्वरूप है, इसलिये तैजस् है। इसका आधार चेतन आत्मा है। सारी प्रजाकी सृष्टि इसीसे होती है, इसलिये इसको प्रजापति कहते हैं ।।

देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत् ।
अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते ।। ३ ।।

यह श्रोत्रादि इन्द्रियरूप देवोंका और मनका उत्पत्ति-स्थान एवं स्वयं भी देवस्वरूप है, इसलिये इसे त्रिलोकीका कर्त्ता माना गया है। यह सम्पूर्ण जगत् अहंकारस्वरूप है, इसलिये यह अभिमन्ता कहा जाता है ।।

अध्यात्मज्ञानतृप्तानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
स्वाध्यायक्रतुसिद्धानामेष लोकः सनातनः ।। ४ ।।

जो अध्यात्मज्ञानमें तृप्त, आत्माका चिन्तन करनेवाले और स्वाध्यायरूपी यज्ञमें सिद्ध हैं, उन मुनिजनोंको यह सनातन लोक प्राप्त होता है ।। ४ ।।

अहंकारेणाहरतो गुणानिमान्
भूतादिरेवं सृजते स भूतकृत् ।
वैकारिकः सर्वमिदं विचेष्टते
स्वतेजसा रञ्जयते जगत् तथा ।। ५ ।।

समस्त भूतोंका आदि और सबको उत्पन्न करनेवाला वह अहंकारका आधारभूत जीवात्मा अहंकारके द्वारा सम्पूर्ण गुणोंकी रचना करता है और उनका उपभोग करता है। यह जो कुछ भी चेष्टाशील जगत् है, वह विकारोंके कारणरूप अहंकारका ही स्वरूप है। वह अहंकार ही अपने तेजसे सारे जगत्को रजोमय (भोगोंका इच्छुक) बनाता है ।। ५ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकचत्वारिंशोऽध्याय: ।। ४१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४१ ।।

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

अहंकारसे पञ्च महाभूतों और इन्द्रियोंकी सृष्टि, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवतका वर्णन तथा निवृत्तिमार्गका उपदेश

ब्रह्मोवाच

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै ।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! अहंकारसे पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ तेज—ये पञ्च महाभूत उत्पन्न हुए हैं ।। १ ।।

तेषु भूतानि मुह्यन्ति महाभूतेषु पञ्चसु ।
शब्दस्पर्शनरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ।। २ ।।

इन्हीं पञ्च महाभूतोंमें अर्थात् इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक विषयोंमें समस्त प्राणी मोहित रहते हैं ।। २ ।।

महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते ।
सर्वप्राणभृतां धीरा महदभ्युद्यते भयम् ।। ३ ।।

धैर्यशाली महर्षियो! महाभूतोंका नाश होते समय जब प्रलयका अवसर आता है, उस समय समस्त प्राणियोंको महान् भय प्राप्त होता है ।। ३ ।।

यद् यस्माज्जायते भूतं तत्र तत् प्रविलीयते ।
लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम् ।। ४ ।।

जो भूत जिससे उत्पन्न होता है, उसका उसीमें लय हो जाता है। ये भूत अनुलोमक्रमसे एकके बाद एक प्रकट होते हैं और विलोमक्रमसे इनका अपने-अपने कारणमें लय होता है ।। ४ ।।

ततः प्रलीने सर्वस्मिन् भूते स्थावरजङ्गमे ।
स्मृतिमन्तस्तदा धीरा न लीयन्ते कदाचन ।। ५ ।।

इस प्रकार सम्पूर्ण चराचर भूतोंका लय हो जानेपर भी स्मरणशक्तिसे सम्पन्न धीर-हृदय योगी पुरुष कभी नहीं लीन होते ।। ५ ।।

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
क्रियाः करणनित्याः स्युरनित्या मोहसंज्ञिताः ।। ६ ।।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध तथा इनको ग्रहण करनेकी क्रियाएँ—ये कारणरूपसे (अर्थात् सूक्ष्म मनःस्वरूप होनेके कारण) नित्य हैं; अतः इनका भी

प्रलयकालमें लय नहीं होता। जो (स्थूल पदार्थ) अनित्य हैं उनको मोहके नामसे पुकारा जाता है ।। ६ ।।

लोभप्रजनसम्भूता निर्विशेषा ह्यकिंचनाः ।
मांसशोणितसंघाता अन्योन्यस्योपजीविनः ।। ७ ।।
बहिरात्मान इत्येते दीनाः कृपणजीविनः ।

लोभ, लोभपूर्वक किये जानेवाले कर्म और उन कर्मोंसे उत्पन्न समस्त फल समानभावसे वास्तवमें कुछ भी नहीं है। शरीरके बाह्य अंग रक्त-मांसके संघात आदि एक-दूसरेके सहारे रखनेवाले हैं। इसीलिये ये दीन और कृपण माने गये हैं ।। ७१/२ ।।

प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ।। ८ ।।
अन्तरात्मनि चाप्येते नियताः पञ्च वायवः ।
वाङ्मनोबुद्धिभिः सार्द्धमिदमष्टात्मकं जगत् ।। ९ ।।

प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—ये पाँच वायु नियतरूपसे शरीरके भीतर निवास करते हैं; अतः ये सूक्ष्म हैं। मन, वाणी और बुद्धिके साथ गिननेसे इनकी संख्या आठ होती है। ये आठ इस जगत्के उपादान कारण हैं ।। ८-९ ।।

त्वग्घ्राणश्रोत्रचक्षूंषि रसना वाक् च संयताः ।
विशुद्धं च मनो यस्य बुद्धिश्चाव्यभिचारिणी ।। १० ।।
अष्टौ यस्याग्नयो ह्येते न दहने मनः सदा ।
स तद् ब्रह्म शुभं याति तस्माद् भूयो न विद्यते ।। ११ ।।

जिसकी त्वचा, नासिका, कान, आँख, रसना और वाक्—ये इन्द्रियाँ वशमें हों, मन शुद्ध हो और बुद्धि एक निश्चयपर स्थिर रहनेवाली हो तथा जिसके मनको उपर्युक्त इन्द्रियादिरूप आठ अग्नियाँ संतप्त न करती हों, वह पुरुष उस कल्याणमय ब्रह्मको प्राप्त होता है, जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ।। १०-११ ।।

एकादश च यान्याहुरिन्द्रियाणि विशेषतः ।
अहंकारात् प्रसूतानि तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः ।। १२ ।।

द्विजवरो! अहंकारसे उत्पन्न हुई जो मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ बतलायी जाती हैं, उनका अब विशेषरूपसे वर्णन करूँगा, सुनो ।। १२ ।।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पादौ पायुरुपस्थश्च हस्तौ वाग् दशमी भवेत् ।। १३ ।।
इन्द्रियग्राम इत्येष मन एकादशं भवेत् ।
एतं ग्रामं जयेत् पूर्वं ततो ब्रह्म प्रकाशते ।। १४ ।।

कान, त्वचा, आँख, रसना, पाँचवीं नासिका तथा हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और वाक्—यह दस इन्द्रियोंका समूह है। मन ग्यारहवाँ है। मनुष्यको पहले इस समुदायपर विजय प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् उसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है ।। १३-१४ ।।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
श्रोत्रादीन्यपि पञ्चाहुर्बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ।। १५ ।।
अविशेषाणि चान्यानि कर्मयुक्तानि यानि तु ।
उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिस्तु द्वादशी भवेत् ।। १६ ।।

इन इन्द्रियोंमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय। वस्तुतः कान आदि पाँच इन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं और उनसे भिन्न शेष जो पाँच इन्द्रियाँ हैं, वे कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं। मनका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—दोनोंसे है और बुद्धि बारहवीं है ।। १५-१६ ।।

इत्युक्तानीन्द्रियाण्येतान्येकादश यथाक्रमम् ।
मन्यन्ते कृतमित्येवं विदित्वा तानि पण्डिताः ।। १७ ।।

इस प्रकार क्रमशः ग्यारह इन्द्रियोंका वर्णन किया गया। इनके तत्त्वको अच्छी तरह जाननेवाले विद्वान् अपनेको कृतार्थ मानते हैं ।। १७ ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।
आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ।। १८ ।।
अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् ।

अब समस्त ज्ञानेन्द्रियोंके भूत, अधिभूत आदि विविध विषयोंका वर्णन किया जाता है। आकाश पहला भूत है। कान उसका अध्यात्म (इन्द्रिय), शब्द उसका अधिभूत (विषय) और दिशाएँ उसकी अधिदैवत (अधिष्ठातृ देवता) हैं ।। १८½ ।।

द्वितीयं मारुतो भूत त्वगध्यात्मं च विश्रुता ।। १९ ।।
स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत् तत्राधिदैवतम् ।

वायु दूसरा भूत है। त्वचा उसका अध्यात्म तथा स्पर्श उसका अधिभूत सुना गया है और विद्युत् उसका अधिदैवत है ।। १९½ ।।

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ।। २० ।।
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम् ।

तीसरे भूतका नाम है तेज। नेत्र उसका अध्यात्म, रूप उसका अधिभूत और सूर्य उसका अधिदैवत कहा जाता है ।। २०½ ।।

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ।। २१ ।।
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् ।

जलको चौथा भूत समझना चाहिये। रसना उसका अध्यात्म, रस उसका अधिभूत और चन्द्रमा उसका अधिदैवत कहा जाता है ।। २१½ ।।

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते ।। २२ ।।
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् ।

पृथ्वी पाँचवाँ भूत है। नासिका उसका अध्यात्म, गन्ध उसका अधिभूत और वायु उसका अधिदैवत कहा जाता है ।। २२½ ।।

एषु पञ्चसु भूतेषु त्रिषु यश्च विधिः स्मृताः ।। २३ ।।

इन पाँच भूतोंमें अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवरूप तीन भेद माने गये हैं ।। २३ ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् ।

पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ।। २४ ।।

अधिभूतं तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ।

अब कर्मेन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विविध विषयोंका निरूपण किया जाता है। तत्त्वदर्शी ब्राह्मण दोनों पैरोंको अध्यात्म कहते हैं और गन्तव्य स्थानको उनके अधिभूत तथा विष्णुको उनके अधिदैवत बतलाते हैं ।। २४½ ।।

अवाग्गतिरपानश्च पायुरध्यात्ममुच्यते ।। २५ ।।

अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ।

निम्न गतिवाला अपान एवं गुदा अध्यात्म कहा गया है और मलत्याग उसका अधिभूत तथा मित्र उसके अधिदेवता हैं ।। २५½ ।।

प्रजनः सर्वभूतानामुपस्थोऽध्यात्ममुच्यते ।। २६ ।।

अधिभूतं तथा शुक्रं दैवतं च प्रजापतिः ।

सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला उपस्थ अध्यात्म है और वीर्य उसका अधिभूत तथा प्रजापति उसके अधिष्ठाता देवता कहे गये हैं ।। २६½ ।।

हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मविदुषो जनाः ।। २७ ।।

अधिभूतं च कर्माणि शक्रस्तत्राधिदैवतम् ।

अध्यात्मतत्त्वको जाननेवाले पुरुष दोनों हाथोंको अध्यात्म बतलाते हैं। कर्म उनके अधिभूत और इन्द्र उनके अधिदेवता हैं ।। २७½ ।।

वैश्वदेवी ततः पूर्वा वागध्यात्ममिहोच्यते ।। २८ ।।

वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतम् ।

विश्वकी देवी पहली वाणी यहाँ अध्यात्म कही गयी है। वक्तव्य उसका अधिभूत तथा अग्नि उसका अधिदैवत है ।। २८½ ।।

अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मचारकम् ।। २९ ।।

अधिभूतं च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ।

पञ्चभूतोंका संचालन करनेवाला मन अध्यात्म कहा गया है। संकल्प उसका अधिभूत है और चन्द्रमा उसके अधिष्ठाता देवता माने गये हैं ।। २९½ ।।

अहंकारस्तथाध्यात्मं सर्वसंसारकारकम् ।। ३० ।।

अभिमानोऽधिभूतं च रुद्रस्तत्राधिदैवतम् ।

सम्पूर्ण संसारको जन्म देनेवाला अहंकार अध्यात्म है और अभिमान उसका अधिभूत तथा रुद्र उसके अधिष्ठाता देवता हैं ।। ३०½ ।।

अध्यात्मं बुद्धिरित्याहुः षडिन्द्रियविचारिणी ।। ३१ ।।
अधिभूतं तु मन्तव्यं ब्रह्मा तत्राधिदैवतम् ।

पाँच इन्द्रियों और छठे मनको जाननेवाली बुद्धिको अध्यात्म कहते हैं। मन्तव्य उसका अधिभूत और ब्रह्मा उसके अधिदेवता हैं ।। ३१½ ।।

त्रीणि स्थानानि भूतानां चतुर्थं नोपपद्यते ।। ३२ ।।
स्थलमापस्तथाऽऽकाशं जन्म चापि चतुर्विधम् ।
अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजरायुजमथापि च ।। ३३ ।।
चतुर्धा जन्म इत्येतद् भूतग्रामस्य लक्ष्यते ।

प्राणियोंके रहनेके तीन ही स्थान हैं—जल, थल और आकाश। चौथा स्थान सम्भव नहीं है। देहधारियोंका जन्म चार प्रकारका होता है—अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज और जरायुज। समस्त भूत-समुदायका यह चार प्रकारका ही जन्म देखा जाता है ।। ३२-३३½ ।।

अपराण्यथ भूतानि खेचराणि तथैव च ।। ३४ ।।
अण्डजानि विजानीयात् सर्वांश्चैव सरीसृपान् ।

इनके अतिरिक्त जो दूसरे आकाशचारी प्राणी हैं तथा जो पेटसे चलनेवाले सर्प आदि हैं, उन सबको भी अण्डज जानना चाहिये ।। ३४½ ।।

स्वेदजाः कृमयः प्रोक्ता जन्तवश्च यथाक्रमम् ।। ३५ ।।
जन्म द्वितीयमित्येतज्जघन्यतरमुच्यते ।

पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जू आदि कीट और जन्तु स्वेदज कहे जाते हैं। यह क्रमशः दूसरा जन्म पहलेकी अपेक्षा निम्न स्तरका कहा जाता है ।। ३५½ ।।

भित्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात् ।। ३६ ।।
उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः ।

द्विजवरो! जो पृथ्वीको फोड़कर समयपर उत्पन्न होते हैं, उन प्राणियोंको उद्भिज्ज कहते हैं ।। ३६½ ।।

द्विपादबहुपादानि तिर्यग्गतिमतीनि च ।। ३७ ।।
जरायुजानि भूतानि विकृतान्यपि सत्तमाः ।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो! दो पैरवाले, बहुत पैरवाले एवं टेढ़े-मेढ़े चलनेवाले तथा विकृत रूपवाले प्राणी जरायुज हैं ।। ३७½ ।।

द्विविधा खलु विज्ञेया ब्रह्मयोनिः सनातनी ।। ३८ ।।
तपः कर्म च यत्पुण्यमित्येष विदुषां नयः ।

ब्राह्मणत्वका सनातन हेतु दो प्रकारका जानना चाहिये—तपस्या और पुण्यकर्मका अनुष्ठान; यही विद्वानोंका निश्चय है ।। ३८½ ।।

विविधं कर्म विज्ञेयमिज्या दानं च तन्मखे ।। ३९ ।।
जातस्याध्ययनं पुण्यमिति वृद्धानुशासनम् ।

कर्मके अनेक भेद हैं, उनमें पूजा, दान और यज्ञमें हवन करना—ये प्रधान हैं। वृद्ध पुरुषोंका कथन है कि द्विजोंके कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषके लिये वेदोंका अध्ययन करना भी पुण्यका कार्य है ।। ३९½ ।।

एतद् यो वेत्ति विधिवद् युक्तः स स्याद् द्विजर्षभाः ।। ४० ।।
विमुक्तः सर्वपापेभ्य इति चैव निबोधत ।

द्विजवरो! जो मनुष्य इस विषयको विधिपूर्वक जानता है, वह योगी होता है तथा उसे सब पापोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसे भलीभाँति समझो ।। ४०½ ।।

यथावदध्यात्मविधिरेष वः कीर्तितो मया ।। ४१ ।।
ज्ञानमस्य हि धर्मज्ञाः प्राप्तं ज्ञानवतामिह ।

इस प्रकार मैंने तुम लोगोंसे अध्यात्मविधिका यथावत् वर्णन किया। धर्मज्ञजन! ज्ञानी पुरुषोंको इस विषयका सम्यक् ज्ञान होता है ।। ४१½ ।।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ।
सर्वाण्येतानि संधाय मनसा सम्प्रधारयेत् ।। ४२ ।।

इन्द्रियों, उनके विषयों और पञ्च महाभूतोंकी एकताका विचार करके उसे मनमें अच्छी तरह धारण कर लेना चाहिये ।। ४२ ।।

क्षीणे मनसि सर्वस्मिन् न जन्मसुखमिष्यते ।
ज्ञानसम्पन्नसत्त्वानां तत् सुखं विदुषां मतम् ।। ४३ ।।

मनके क्षीण होनेके साथ ही सब वस्तुओंका क्षय हो जानेपर मनुष्यको जन्मके सुख (लौकिक सुख-भोग आदि) की इच्छा नहीं होती। जिनका अन्तःकरण ज्ञानसे सम्पन्न होता है, उन विद्वानोंको उसीमें सुखका अनुभव होता है ।। ४३ ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि सूक्ष्मभावकरीं शिवाम् ।
निवृत्तिं सर्वभूतेषु मृदुना दारुणेन च ।। ४४ ।।

महर्षियो! अब मैं मनकी सूक्ष्म भावनाको जाग्रत् करनेवाली कल्याणमयी निवृत्तिके विषयमें उपदेश देता हूँ, जो कोमल और कठोर भावसे समस्त प्राणियोंमें रहती है ।। ४४ ।।

गुणागुणमनासङ्गमेकचर्यमनन्तरम् ।
एतद् ब्रह्ममयं वृत्तमाहुरेकपदं सुखम् ।। ४५ ।।

जहाँ गुण होते हुए भी नहींके बराबर हैं, जो अभिमानसे रहित और एकानाचर्यासे युक्त है तथा जिसमें भेद-दृष्टिका सर्वथा अभाव है, वही ब्रह्ममय बर्ताव बतलाया गया है, वही समस्त सुखोंका एकमात्र आधार है ।। ४५ ।।

विद्वान् कूर्म इवाङ्गानि कामान् संहृत्य सर्वशः ।
विरजाः सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा ।। ४६ ।।

जैसे कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार जो विद्वान् मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको सब ओरसे संकुचित करके रजोगुणसे रहित हो जाता है, वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त एवं सदाके लिये सुखी हो जाता है ।। ४६ ।।

कामानात्मनि संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः ।
सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। ४७ ।।

जो कामनाओंको अपने भीतर लीन करके तृष्णासे रहित, एकाग्रचित तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् और मित्र होता है, वह ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है ।। ४७ ।।

इन्द्रियाणां निरोधेन सर्वेषां विषयैषिणाम् ।
मुनेर्जनपदत्यागादध्यात्माग्निः समिध्यते ।। ४८ ।।

विषयोंकी अभिलाषा रखनेवाली समस्त इन्द्रियोंको रोककर जनसमुदायके स्थानका परित्याग करनेसे मुनिका अध्यात्मज्ञानरूपी तेज अधिक प्रकाशित होता है ।। ४८ ।।

यथाग्निरिन्धनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते ।
तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते ।। ४९ ।।

जैसे ईंधन डालनेसे आग प्रज्वलित होकर अत्यन्त उद्दीप्त दिखायी देती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंका निरोध करनेसे परमात्माके प्रकाशका विशेष अनुभव होने लगता है ।। ४९ ।।

यदा पश्यति भूतानि प्रसन्नात्माऽऽत्मनो हृदि ।
स्वयंज्योतिस्तदा सूक्ष्मात् सूक्ष्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ।। ५० ।।

जिस समय योगी प्रसन्नचित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने अन्तःकरणमें स्थित देखने लगता है, उस समय वह स्वयंज्योतिःस्वरूप होकर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म सर्वोत्तम परमात्माको प्राप्त होता है ।। ५० ।।

अग्नी रूपं पयः स्रोतो वायुः स्पर्शनमेव च ।
मही पङ्कधरं घोरमाकाशश्रवणं तथा ।। ५१ ।।
रोगशोकसमाविष्टं पञ्चस्रोतःसमावृतम्
पञ्चभूतसमायुक्तं नवद्वारं द्विदैवतम् ।। ५२ ।।
रजस्वलमथादृश्यं त्रिगुणं च त्रिधातुकम् ।
संसर्गाभिरतं मूढं शरीरमिति धारणा ।। ५३ ।।

अग्नि जिसका रूप है, रुधिर जिसका प्रवाह है, पवन जिसका स्पर्श है, पृथ्वी जिसमें हाड़-मासं आदि कठोर रूपमें प्रकट है, आकाश जिसका कान है, जो रोग और शोकसे चारों ओरसे घिरा हुआ है, जो पाँच प्रवाहोंसे आवृत है, जो पाँच भूतोंसे भलीभाँति युक्त है, जिसके नौ द्वार हैं, जिसके दो (जीव और ईश्वर) देवता हैं, जो रजोगुणमय, अदृश्य (नाशवान्), (सुख, दुःख और मोहरूप) तीन गुणोंसे तथा वात, पित्त और कफ—इन तीन

धातुओंसे युक्त है, जो संसर्गमें रत और जड है, उसको शरीर समझना चाहिये ।। ५१—५३ ।।

दुश्चरं सर्वलोकेऽस्मिन् सत्त्वं प्रति समाश्रितम् ।
एतदेव हि लोकेऽस्मिन् कालचक्रं प्रवर्तते ।। ५४ ।।

जिसका सम्पूर्ण लोकमें विचरण करना दुःखद है, जो बुद्धिके आश्रित है, वही इस लोकमें कालचक्र है ।। ५४ ।।

एतन्महार्णवं घोरमगाधं मोहसंज्ञितम् ।
विक्षिपेत् संक्षिपेच्चैव बोधयेत् सामरं जगत् ।। ५५ ।।

यह कालचक्र घोर अगाध और मोह नामसे कहा जानेवाला बड़ा भारी समुद्ररूप है। यह देवताओंके सहित समस्त जगत्का संक्षेप और विस्तार करता है तथा सबको जगाता है ।। ५५ ।।

कामं क्रोधं भयं लोभमभिद्रोहमथानृतम् ।
इन्द्रियाणां निरोधेन सदा त्यजति दुस्त्यजान् ।। ५६ ।।

सदा इन्द्रियोंके निरोधसे मनुष्य काम, क्रोध, भय, लोभ, द्रोह और असत्य—इन सब दुस्तयज अवगुणोंको त्याग देता है ।। ५६ ।।

यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणाः पञ्चधातवः ।
व्योम्नि तस्य परं स्थानमानन्त्यमथ लभ्यते ।। ५७ ।।

जिसने इस लोकमें तीन गुणोंवाले पाञ्चभौतिक देहका अभिमान त्याग दिया है, उसे अपने हृदयाकाशमें परब्रह्मरूप उत्तम पदकी उपलब्धि होती है—वह मोक्षको प्राप्त हो जाता है ।। ५७ ।।

पञ्चेन्द्रियमहाकूलां मनोवेगमहोदकाम् ।
नदीं मोहह्रदां तीर्त्वा कामक्रोधावुभौ जयेत् ।। ५८ ।।
स सर्वदोषनिर्मुक्तस्ततः पश्यति तत्परम् ।

जिसमें पाँच इन्द्रियरूपी बड़े कगारे हैं, जो मनोवेग-रूपी महान् जलराशिसे भरी हुई है और जिसके भीतर मोहमय कुण्ड है, उस देहरूपी नदीको लाँघकर जो काम और क्रोध—दोनोंको जीत लेता है, वही सब दोषोंसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करता है ।। ५८½ ।।

मनो मनसि संधाय पश्यन्नात्मानमात्मनि ।। ५९ ।।
सर्ववित् सर्वभूतेषु विन्दत्यात्मानमात्मनि ।

जो मनको हृदयकमलमें स्थापित करके अपने भीतर ही ध्यानके द्वारा आत्मदर्शनका प्रयत्न करता है, वह सम्पूर्ण भूतोंमें सर्वज्ञ होता है और उसे अन्तःकरणमें परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है ।। ५९½ ।।

एकधा बहुधा चैव विकुर्वाणस्ततस्ततः ।। ६० ।।

ध्रुवं पश्यति रूपाणि दीपाद् दीपशतं यथा ।

जैसे एक दीपसे सैकड़ों दीप जला लिये जाते हैं, उसी प्रकार एक ही परमात्मा यत्र-तत्र अनेक रूपोंमें उपलब्ध होता है। ऐसा निश्चय करके ज्ञानी पुरुष निःसन्देह सब रूपोंको एकसे ही उत्पन्न देखता है ।। ६०½ ।।

स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः ।। ६१ ।।
स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः ।
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ।। ६२ ।।

वास्तवमें वही परमात्मा विष्णु, मित्र, वरुण, अग्नि, प्रजापति, धाता, विधाता, प्रभु, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण प्राणियोंका हृदय तथा महान् आत्माके रूपमें प्रकाशित है ।। ६१-६२ ।।

तं विप्रसंघाश्च सुरासुराश्च
यक्षाः पिशाचाः पितरो वयांसि ।
रक्षोगणा भूतगणाश्च सर्वे
महर्षयश्चैव सदा स्तुवन्ति ।। ६३ ।।

ब्राह्मणसमुदाय, देवता, असुर, यक्ष, पिशाच, पितर, पक्षी, राक्षस, भूत और सम्पूर्ण महर्षि भी सदा उस परमात्माकी स्तुति करते हैं ।। ६३ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४२ ।।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

चराचर प्राणियोंके अधिपतियोंका, धर्म आदिके लक्षणोंका और विषयोंकी अनुभूतिके साधनोंका वर्णन तथा क्षेत्रज्ञकी विलक्षणता

ब्रह्मोवाच

मनुष्याणां तु राजन्यः क्षत्रियो मध्यमो गुणः ।
कुञ्जरो वाहनानां च सिंहश्चारण्यवासिनाम् ।। १ ।।
अविः पशूनां सर्वेषामहिस्तु बिलवासिनाम् ।
गवां गोवृषभश्चैव स्त्रीणां पुरुष एव च ।। २ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! मनुष्योंका राजा तो रजोगुणसे युक्त क्षत्रिय है। सवारियोंमें हाथी, बनवासियोंमें सिंह, समस्त पशुओंमें भेड़ और बिलमें रहनेवालोंमें सर्प, गौओंमें बैल एवं स्त्रियोंमें पुरुष प्रधान है ।। १-२ ।।

न्यग्रोधो जम्बुवृक्षश्च पिप्पलः शाल्मलिस्तथा ।
शिंशपा मेषशृङ्गश्च तथा कीचकवेणवः ।। ३ ।।
एते द्रुमाणां राजानो लोकेऽस्मिन् नात्र संशयः ।

बरगद, जामुन, पीपल, सेमल, शीशम, मेषशृंग (मेढ़ासिंगी) और पोले बाँस—ये इस लोकमें वृक्षोंके राजा हैं, इसमें संदेह नहीं है ।। ३½ ।।

हिमवान् पारियात्रश्च सह्यो विन्ध्यस्त्रिकूटवान् ।। ४ ।।
श्वेतो नीलश्च भासश्च कोष्ठवांश्चैव पर्वतः ।
गुरुस्कन्धो महेन्द्रश्च माल्यवान् पर्वतस्तथा ।। ५ ।।
एते पर्वतराजानो गणानां मरुतस्तथा ।
सूर्यो ग्रहाणामधिपो नक्षत्राणां च चन्द्रमाः ।। ६ ।।

हिमवान्, पारियात्र, सह्य, विन्ध्य, त्रिकूट, श्वेत, नील, भास, कोष्ठवान् पर्वत, गुरुस्कन्ध, महेन्द्र और माल्यवान् पर्वत—ये सब पर्वत पर्वतोंके अधिपति हैं। गणोंके मरुद्गण, ग्रहोंके सूर्य और नक्षत्रोंके चन्द्रमा अधिपति हैं ।। ४—६ ।।

यमः पितृणामधिपः सरितामथ सागरः ।
अम्भसां वरुणो राजा मरुतामिन्द्र उच्यते ।। ७ ।।

यमराज पितरोंके और समुद्र सरिताओंके स्वामी हैं। वरुण जलके और इन्द्र मरुद्गणोंके स्वामी कहे जाते हैं ।। ७ ।।

अर्कोऽधिपतिरुष्णानां ज्योतिषामिन्दुरुच्यते ।

अग्निर्भूतपतिर्नित्यं ब्राह्मणानां बृहस्पतिः ।। ८ ।।

उष्णप्रभाके अधिपति सूर्य हैं और ताराओंके स्वामी चन्द्रमा कहे गये हैं। भूतोंके नित्य अधीश्वर अग्निदेव हैं तथा ब्राह्मणोंके स्वामी बृहस्पति हैं ।। ८ ।।

ओषधीनां पतिः सोमो विष्णुर्बलवतां वरः ।
त्वष्टाधिराजो रूपाणां पशूनामीश्वरः शिवः ।। ९ ।।

ओषधियोंके स्वामी सोम हैं तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ विष्णु हैं। रूपोंके अधिपति सूर्य और पशुओंके ईश्वर भगवान् शिव हैं ।। ९ ।।

दीक्षितानां तथा यज्ञो दैवानां मघवा तथा ।
दिशामुदीची विप्राणां सोमो राजा प्रतापवान् ।। १० ।।

दीक्षा ग्रहण करनेवालोंके यज्ञ और देवताओंके इन्द्र अधिपति हैं। दिशाओंकी स्वामिनी उत्तर दिशा है एवं ब्राह्मणोंके राजा प्रतापी सोम हैं ।। १० ।।

कुबेरः सर्वरत्नानां देवतानां पुरंदरः ।
एव भूताधिपः सर्गः प्रजानां च प्रजापतिः ।। ११ ।।

सब प्रकारके रत्नोंके स्वामी कुबेर, देवताओंके स्वामी इन्द्र और प्रजाओंके स्वामी प्रजापति हैं। यह भूतोंके अधिपतियोंका सर्ग है ।। ११ ।।

सर्वेषामेव भूतानामहं ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं मत्तो विष्णोर्वापि न विद्यते ।। १२ ।।

मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका महान् अधीश्वर और ब्रह्ममय हूँ। मुझसे अथवा विष्णुसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ।। १२ ।।

राजाधिराजः सर्वेषां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
ईश्वरत्वं विजानीध्वं कर्तारमकृतं हरिम ।। १३ ।।

ब्रह्ममय महाविष्णु ही सबके राजाधिराज हैं, उन्हींको ईश्वर समझना चाहिये। वे श्रीहरि सबके कर्ता हैं, किंतु उनका कोई कर्ता नहीं है ।। १३ ।।

नरकिन्नरयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
देवदानवनागानां सर्वेषामीश्वरो हि सः ।। १४ ।।

वे विष्णु ही मनुष्य, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, देव, दानव और नाग सबके अधीश्वर हैं ।। १४ ।।

भगदेवानुयातानां सर्वासां वामलोचना ।
माहेश्वरी महादेवी प्रोच्यते पार्वती हि सा ।। १५ ।।
उमां देवीं विजानीध्वं नारीणामुत्तमां शुभाम् ।
रतीनां वसुमत्यस्तु स्त्रीणामप्सरसस्तथा ।। १६ ।।

कामी पुरुष जिनके पीछे फिरते हैं, उन सबमें सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्री प्रधान है। एवं जो माहेश्वरी, महादेवी और पार्वती नामसे कही जाती हैं, उन मंगलमयी उमादेवीको स्त्रियोंमें

सर्वोत्तम जानो तथा रमण करने योग्य स्त्रियोंमें स्वर्णविभूषित अप्सराएँ प्रधान हैं ।। १५-१६ ।।

धर्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणा धर्मसेतवः ।
तस्माद् राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे ।। १७ ।।

राजा धर्म-पालनके इच्छुक होते हैं और ब्राह्मण धर्मके सेतु हैं। अतः राजाको चाहिये कि वह सदा ब्राह्मणोंकी रक्षाका प्रयत्न करे ।। १७ ।।

राज्ञां हि विषये येषामवसीदन्ति साधवः ।
हीनास्ते स्वगुणैः सर्वैः प्रेत्य चोन्मार्गगामिनः ।। १८ ।।

जिन राजाओंके राज्यमें श्रेष्ठ पुरुषोंको कष्ट होता है, वे अपने समस्त राजोचित गुणोंसे हीन हो जाते और मरनेके बाद नीच गतिको प्राप्त होते हैं ।। १८ ।।

राज्ञां हि विषये येषां साधवः परिरक्षिताः ।
तेऽस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते सुखं प्रेत्य च भुञ्जते ।। १९ ।।
प्राप्नुवन्ति महात्मान इति वित्त द्विजर्षभाः ।

द्विजवरो! जिनके राज्यमें श्रेष्ठ पुरुषोंकी सब प्रकारसे रक्षा की जाती है, वे महामना नरेश इस लोकमें आनन्दके भागी होते हैं और परलोकमें अक्षय सुख प्राप्त करते हैं, ऐसा समझो ।। १९½ ।।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नियतं धर्मलक्षणम् ।। २० ।।
अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ।
प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ।। २१ ।।

अब मैं सबके नियत धर्मके लक्षणोंका वर्णन करता हूँ। अहिंसा सबसे श्रेष्ठ धर्म है और हिंसा अधर्मका लक्षण (स्वरूप) है। प्रकाश देवताओंका और यज्ञ आदि कर्म मनुष्योंका लक्षण है ।। २०-२१ ।।

शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणः ।
ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणाः ।। २२ ।।

शब्द आकाशका, वायु स्पर्शका, रूप तेजका और रस जलका लक्षण है ।। २२ ।।

धारिणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा ।
स्वरव्यञ्जनसंस्कारा भारती शब्दलक्षणा ।। २३ ।।

गन्ध सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथ्वीका लक्षण है तथा स्वर-व्यंजनकी शुद्धिसे युक्त वाणीका लक्षण शब्द है ।। २३ ।।

मनसो लक्षणं चिन्ता चिन्तोक्ता बुद्धिलक्षणा ।
मनसा चिन्तितानर्थान् बुद्ध्या चेह व्यवस्यति ।। २४ ।।
बुद्धिर्हि व्यवसायेन लक्ष्यते नात्र संशयः ।

चिन्तन मनका और निश्चय बुद्धिका लक्षण है; क्योंकि मनुष्य इस जगत्में मनके द्वारा चिन्तन की हुई वस्तुओंका बुद्धिसे ही निश्चय करते हैं, निश्चयके द्वारा ही बुद्धि जाननेमें आती है, इसमें संदेह नहीं है ।। २४½ ।।

लक्षणं मनसो ध्यानमव्यक्तं साधुलक्षणम् ।। २५ ।।
प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ।। २६ ।।

मनका लक्षण ध्यान है और श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण बाहरसे व्यक्त नहीं होता (वह स्वसंवेद्य हुआ करता है)। योगका लक्षण प्रवृति और संन्यासका लक्षण ज्ञान है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ज्ञानका आश्रय लेकर यहाँ संन्यास ग्रहण करे ।। २५-२६ ।।

संन्यासी ज्ञानसंयुक्तः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
अतीतो द्वन्द्वमभ्येति तमोमृत्युजरातिगः ।। २७ ।।

ज्ञानयुक्त संन्यासी मौत और बुढ़ापाको लाँघकर सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे परे हो अज्ञानान्धकारके पार पहुँचकर परमगतिको प्राप्त होता है ।। २७ ।।

धर्मलक्षणसंयुक्तमुक्तं वो विधिवन्मया ।
गुणानां ग्रहणं सम्यग् वक्ष्माम्यहमतः परम् ।। २८ ।।

महर्षियो! यह मैंने तुमलोगोंसे लक्षणोंसहित धर्मका विधिवत् वर्णन किया। अब यह बतला रहा हूँ कि किस गुणको किस इन्द्रियसे ठीक-ठीक ग्रहण किया जाता है ।। २८ ।।

पार्थिवो यस्तु गन्धो वै घ्राणेन हि स गृह्यते ।
घ्राणस्थश्च तथा वायुर्गन्धज्ञाने विधीयते ।। २९ ।।

पृथ्वीका जो गन्ध नामक गुण है, उसका नासिकाके द्वारा ग्रहण होता है और नासिकामें स्थित वायु उस गन्धका अनुभव करानेमें सहायक होती है ।। २९ ।।

अपां धातू रसो नित्यं जिह्वया स तु गृह्यते ।
जिह्वास्थश्च तथा सोमो रसज्ञाने विधीयते ।। ३० ।।

जलका स्वाभाविक गुण रस है, जिसको जिह्वाके द्वारा ग्रहण किया जाता है और जिह्वामें स्थित चन्द्रमा उस रसके आस्वादनमें सहायक होता है ।। ३० ।।

ज्योतिषश्च गुणो रूपं चक्षुषा तच्च गृह्यते ।
चक्षुःस्थश्च सदाऽऽदित्यो रूपज्ञाने विधीयते ।। ३१ ।।

तेजका गुण रूप है और वह नेत्रमें स्थित सूर्यदेवताकी सहायतासे नेत्रके द्वारा सदा देखा जाता है ।। ३१ ।।

वायव्यस्तु सदा स्पर्शस्त्वाचा प्रज्ञायते च सः ।
त्वक्स्थश्चैव सदा वायुः स्पर्शने स विधीयते ।। ३२ ।।

वायुका स्वाभाविक गुण स्पर्श है, जिसका त्वचाके द्वारा ज्ञान होता है और त्वचामें स्थित वायुदेव उस स्पर्शका अनुभव करानेमें सहायक होता है ।। ३२ ।।

आकाशस्य गुणो ह्येष श्रोत्रेण च स गृह्यते ।
श्रोत्रस्थाश्च दिशः सर्वाः शब्दज्ञाने प्रकीर्तिताः ।। ३३ ।।

आकाशके गुण शब्दका कानोंके द्वारा ग्रहण होता है और कानमें स्थित सम्पूर्ण दिशाएँ शब्दके श्रवणमें सहायक बतायी गयी हैं ।। ३३ ।।

मनसश्च गुणश्चिन्ता प्रज्ञया स तु गृह्यते ।
हृदिस्थश्चेतनो धातुर्मनोज्ञाने विधीयते ।। ३४ ।।

मनका गुण चिन्तन है, जिसका बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया जाता है और हृदयमें स्थित चेतन (आत्मा) मनके चिन्तन-कार्यमें सहायता देता है ।। ३४ ।।

बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा ।
निश्चित्य ग्रहणाद् व्यक्तमव्यक्तं नात्र संशयः ।। ३५ ।।

निश्चयके द्वारा बुद्धिका और ज्ञानके द्वारा महत्तत्त्वका ग्रहण होता है। इनके कार्योंसे ही इनकी सत्ताका निश्चय होता है और इसीसे इन्हें व्यक्त माना जाता है, किंतु वास्तवमें तो अतीन्द्रिय होनेके कारण ये बुद्धि आदि अव्यक्त ही हैं, इसमें संशय नहीं है ।। ३५ ।।

अलिङ्गग्रहणो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ।
तस्मादलिङ्गः क्षेत्रज्ञः केवलं ज्ञानलक्षणः ।। ३६ ।।

नित्य क्षेत्रज्ञ आत्माका कोई ज्ञापक लिंग नहीं है; क्योंकि वह (स्वयंप्रकाश और) निर्गुण है। अतः क्षेत्रज्ञ अलिंग (किसी विशेष लक्षणसे रहित) है; अतः केवल ज्ञान ही उसका लक्षण (स्वरूप) माना गया है ।। ३६ ।।

अव्यक्तं क्षेत्रमुद्दिष्टं गुणानां प्रभवाप्ययम् ।
सदा पश्याम्यहं लीनो विजानामि शृणोमि च ।। ३७ ।।

गुणोंकी उत्पत्ति और लयके कारणभूत अव्यक्त प्रकृतिको क्षेत्र कहते हैं। मैं उसमें संलग्न होकर सदा उसे जानता और सुनता हूँ ।। ३७ ।।

पुरुषस्तद् विजानीते तस्मात् क्षेत्रज्ञ उच्यते ।
गुणवृत्तं तथा वृत्तं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति ।। ३८ ।।
आदिमध्यावसानान्तं सृज्यमानमचेतनम् ।
न गुणा विदुरात्मानं सृज्यमानाः पुनः पुनः ।। ३९ ।।

आत्मा क्षेत्रको जानता है, इसलिये वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्रज्ञ आदि, मध्य और अन्तसे युक्त समस्त उत्पत्तिशील अचेतन गुणोंके कार्यको और उनकी क्रियाको भी भलीभाँति जानता है, किंतु बारंबार उत्पन्न होनेवाले गुण आत्माको नहीं जान पाते ।। ३८-३९ ।।

न सत्यं विन्दते कश्चित् क्षेत्रज्ञस्त्वेव विन्दति ।

गुणानां गुणभूतानां यत् परं परमं महत् ।। ४० ।।

जो गुणों और गुणोंके कार्योंसे अत्यन्त परे है, उस परम महान् सत्यस्वरूप क्षेत्रज्ञको कोई नहीं जानता, परंतु वह सबको जानता है ।। ४० ।।

तस्माद् गुणांश्च सत्त्वं च परित्यज्येह धर्मवित् ।
क्षीणदोषो गुणातीतः क्षेत्रज्ञं प्रविशत्यथ ।। ४१ ।।

अतः इस लोकमें जिसके दोषोंका क्षय हो गया है, वह गुणातीत धर्मज्ञ पुरुष सत्त्व (बुद्धि) और गुणोंका परित्याग करके क्षेत्रज्ञके शुद्ध स्वरूप परमात्मामें प्रवेश कर जाता है ।। ४१ ।।

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च ।
अचलश्चानिकेतश्च क्षेत्रज्ञः स परो विभुः ।। ४२ ।।

क्षेत्रज्ञ सुख-दुखादि द्वन्द्वोंसे रहित, किसीको नमस्कार न करनेवाला, स्वाहाकाररूप यज्ञादि कर्म न करनेवाला, अचल और अनिकेत है। वही महान् विभु है ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४३ ।।

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

सब पदार्थोंके आदि-अन्तका और ज्ञानकी नित्यताका वर्णन

ब्रह्मोवाच

यदादिमध्यपर्यन्तं ग्रहणोपायमेव च ।
नामलक्षणसंयुक्तं सर्वं वक्ष्यामि तत्त्वतः ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! अब मैं सम्पूर्ण पदार्थोंके नाम-लक्षणोंसहित आदि, मध्य और अन्तका तथा उनके ग्रहणके उपायका यथार्थ वर्णन करता हूँ ।। १ ।।

अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः शुक्लादयः स्मृताः ।
श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः ।। २ ।।

पहले दिन है फिर रात्रि; (अतः दिन रात्रिका आदि है। इसी प्रकार) शुक्लपक्ष महीनेका, श्रवण नक्षत्रोंका और शिशिर ऋतुओंका आदि है ।। २ ।।

भूमिरादिस्तु गन्धानां रसानामाप एव च ।
रूपाणां ज्योतिरादित्यः स्पर्शानां वायुरुच्यते ।। ३ ।।
शब्दस्यादिस्तथाऽऽकाशमेष भूतकृतो गुणः ।

गन्धोंका आदि कारण भूमि है। रसोंका जल, रूपोंका ज्योतिर्मय आदित्य, स्पर्शोंका वायु और शब्दका आदिकारण आकाश है। ये गन्ध आदि पञ्चभूतोंसे उत्पन्न गुण हैं ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि भूतानामादिमुत्तमम् ।। ४ ।।
आदित्यो ज्योतिषामादिरग्निर्भूतादिरुच्यते ।
सावित्री सर्वविद्यानां देवतानां प्रजापतिः ।। ५ ।।

अब मैं भूतोंके उत्तम आदिका वर्णन करता हूँ। सूर्य समस्त ग्रहोंका और जठरानल सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि बतलाया जाता है। सावित्री सब विद्याओंकी और प्रजापति देवताओंके आदि हैं ।। ४-५ ।।

ओङ्कारः सर्ववेदानां वचसां प्राण एव च ।
यदस्मिन् नियतं लोके सर्वं सावित्रिरुच्यते ।। ६ ।।

ॐकार सम्पूर्ण वेदोंका और प्राण वाणीका आदि है। इस संसारमें जो नियत उच्चारण है, वह सब गायत्री कहलाता है ।। ६ ।।

गायत्री च्छन्दसामादिः प्रजानां सर्ग उच्यते ।
गावश्चतुष्पदामादिर्मनुष्याणां द्विजातयः ।। ७ ।।

छन्दोंका आदि गायत्री और प्रजाका आदि सृष्टिका प्रारम्भ काल है। गौएँ चौपायोंकी और ब्राह्मण मनुष्योंके आदि हैं ।। ७ ।।

श्येनः पतत्रिणामादिर्यज्ञानां हुतमुत्तमम् ।
सरीसृपाणां सर्वेषां ज्येष्ठः सर्पो द्विजोत्तमाः ।। ८ ।।

द्विजवरो! पक्षियोंमें बाज, यज्ञोंमें उत्तम आहुति और सम्पूर्ण रेंगकर चलनेवाले जीवोंमें साँप श्रेष्ठ है ।।

कृतमादिर्युगानां च सर्वेषां नात्र संशयः ।
हिरण्यं सर्वरत्नानामोषधीनां यवास्तथा ।। ९ ।।

सत्ययुग सम्पूर्ण युगोंका आदि है, इसमें संशय नहीं है। समस्त रत्नोंमें सुवर्ण और अन्नोंमें जौ श्रेष्ठ है ।। ९ ।।

सर्वेषां भक्ष्यभोज्यानामन्नं परममुच्यते ।
द्रवाणां चैव सर्वेषां पेयानामाप उत्तमाः ।। १० ।।

सम्पूर्ण भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंमें अन्न श्रेष्ठ कहा जाता है। बहनेवाले और सभी पीनेयोग्य पदार्थोंमें जल उत्तम है ।।

स्थावराणां तु भूतानां सर्वेषामविशेषतः ।
ब्रह्मक्षेत्रं सदा पुण्यं प्लक्षः प्रथमतः स्मृतः ।। ११ ।।

समस्त स्थावर भूतोंमें सामान्यतः ब्रह्मक्षेत्र—पाकर नामवाला वृक्ष श्रेष्ठ एवं पवित्र माना गया है ।। ११ ।।

अहं प्रजापतीनां च सर्वेषां नात्र संशयः ।
मम विष्णुरचिन्त्यात्मा स्वयम्भूरिति स स्मृतः ।। १२ ।।

सम्पूर्ण प्रजापतियोंका आदि मैं हूँ, इसमें संशय नहीं है। मेरे आदि अचिन्त्यात्मा भगवान् विष्णु हैं। उन्हींको स्वयम्भू कहते हैं ।। १२ ।।

पर्वतानां महामेरुः सर्वेषामग्रजः स्मृतः ।
दिशां च प्रदिशां चोर्ध्वं दिक्पूर्वा प्रथमा तथा ।। १३ ।।

समस्त पर्वतोंमें सबसे पहले महामेरुगिरिकी उत्पत्ति हुई है। दिशा और विदिशाओंमें पूर्व दिशा उत्तम और आदि मानी गयी है ।। १३ ।।

तथा त्रिपथगा गङ्गा नदीनामग्रजा स्मृता ।
तथा सरोदपानानां सर्वेषां सागरोऽग्रजः ।। १४ ।।

सब नदियोंमें त्रिपथगा गंगा ज्येष्ठ मानी गयी है। सरोवरोंमें सर्वप्रथम समुद्रका प्रादुर्भाव हुआ है ।। १४ ।।

देवदानवभूतानां पिशाचोरगरक्षसाम् ।
नरकिन्नरयक्षाणां सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ।। १५ ।।

देव, दानव, भूत, पिशाच, सर्प, राक्षस, मनुष्य, किन्नर और समस्त यक्षोंके स्वामी भगवान् शंकर हैं ।। १५ ।।

आदिर्विश्वस्य जगतो विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् ।
भूतं परतरं यस्मात् त्रैलोक्ये नेह विद्यते ।। १६ ।।

सम्पूर्ण जगत्के आदिकारण ब्रह्मस्वरूप महाविष्णु हैं। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर दूसरा कोई प्राणी नहीं है ।। १६ ।।

आश्रमाणां च सर्वेषां गार्हस्थ्यं नात्र संशयः ।
लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव च ।। १७ ।।

सब आश्रमोंका आदि गृहस्थ आश्रम है, इसमें संदेह नहीं है। समस्त जगत्का आदि और अन्त अव्यक्त प्रकृति ही है ।। १७ ।।

अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी ।
सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम् ।। १८ ।।

दिनका अन्त है सूर्यास्त और रात्रिका अन्त है सूर्योदय। सुखका अन्त सदा दुःख है और दुःखका अन्त सदा सुख है ।। १८ ।।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ।। १९ ।।

समस्त संग्रहका अन्त है विनाश, उत्थानका अन्त है पतन, संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मृत्यु ।। १९ ।।

सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम् ।
अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन् सदा स्थावरजङ्गमम् ।। २० ।।

जिन-जिन वस्तुओंका निर्माण हुआ है, उनका नाश अवश्यम्भावी है। जो जन्म ले चुका है उसकी मृत्यु निश्चित है। इस जगत्में स्थावर या जंगम कोई भी सदा रहनेवाला नहीं है ।। २० ।।

इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये ।
सर्वमेतद् विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ।। २१ ।।

जितने भी यज्ञ, दान, तप, अध्ययन, व्रत और नियम हैं, उन सबका अन्तमें विनाश होता है, केवल ज्ञानका अन्त नहीं होता ।। २१ ।।

तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते सर्वपाप्मभिः ।। २२ ।।

इसलिये विशुद्ध ज्ञानके द्वारा जिसका चित्त शान्त हो गया है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हो चुकी हैं तथा जो ममता और अहंकारसे रहित हो गया है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। २२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४४ ।।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

देहरूपी कालचक्रका तथा गृहस्थ और ब्रह्मणके धर्मका कथन

ब्रह्मोवाच

बुद्धिसारं मनःस्तम्भमिन्द्रियग्रामबन्धनम् ।
महाभूतपरिस्कन्धं निवेशपरिवेशनम् ।। १ ।।
जराशोकसमाविष्टं व्याधिव्यसनसम्भवम् ।
देशकालविचारीदं श्रमव्यायामनिःस्वनम् ।। २ ।।
अहोरात्रपरिक्षेपं शीतोष्णपरिमण्डलम् ।
सुखदुःखान्तसंश्लेषं क्षुत्पिपासावकीलकम् ।। ३ ।।
छायातपविलेखं च निमेषोन्मेषविह्वलम् ।
घोरमोहजलाकीर्णं वर्तमानमचेतनम् ।। ४ ।।
मासार्धमासगणितं विषमं लोकसंचरम् ।
तमोनियमपङ्कं च रजोवेगप्रवर्तकम् ।। ५ ।।
महाहंकारदीप्तं च गुणसंजातवर्तनम् ।
अरतिग्रहणानीकं शोकसंहारवर्तनम् ।। ६ ।।
क्रियाकारणसंयुक्तं रागविस्तारमायतम् ।
लोभेप्सापरिविक्षोभं विचित्राज्ञानसम्भवम् ।। ७ ।।
भयमोहपरीवारं भूतसम्मोहकारकम् ।
आनन्दप्रीतिचारं च कामक्रोधपरिग्रहम् ।। ८ ।।
महदादिविशेषान्तमसक्तं प्रभवाव्ययम् ।
मनोजवं मनःकान्तं कालचक्रं प्रवर्तते ।। ९ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! मनके समान वेगवाला (देहरूपी) मनोरम कालचक्र निरन्तर चल रहा है। यह महत्तत्त्वसे लेकर स्थूल भूतोंतक चौबीस तत्त्वोंसे बना हुआ है। इसकी गति कहीं भी नहीं रुकती। यह संसार-बन्धनका अनिवार्य कारण है। बुढ़ापा और शोक इसे घेरे हुए हैं। यह रोग और दुर्व्यसनोंकी उत्पत्तिका स्थान है। यह देश और कालके अनुसार विचरण करता रहता है। बुद्धि इस काल-चक्रका सार, मन खम्भा और इन्द्रियसमुदाय बन्धन हैं। पञ्चमहाभूत इसका तना है। अज्ञान ही इसका आवरण है। श्रम तथा व्यायाम इसके शब्द हैं। रात और दिन इस चक्रका संचालन करते हैं। सर्दी और गर्मी इसका घेरा है। सुख और दुःख इसकी सन्धियाँ (जोड़) हैं। भूख और प्यास इसके कीलक

तथा धूप और छाया इसकी रेखा हैं। आँखोंके खोलने और मीचनेसे इसकी व्याकुलता (चंचलता) प्रकट होती है। घोर मोहरूपी जल (शोकाश्रु)-से यह व्याप्त रहता है। यह सदा ही गतिशील और अचेतन है। मास और पक्ष आदिके द्वारा इसकी आयुकी गणना की जाती है। यह कभी भी एक-सी अवस्थामें नहीं रहता। ऊपर-नीचे और मध्यवर्ती लोकोंमें सदा चक्कर लगाता रहता है। तमोगुणके वशमें होनेपर इसकी पापपङ्कमें प्रवृत्ति होती है और रजोगुणका वेग इसे भिन्न-भिन्न कर्मोंमें लगाया करता है। यह महान् दर्पसे उद्दीप्त रहता है। तीनों गुणोंके अनुसार इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। मानसिक चिन्ता ही इस चक्रकी बन्धनपट्टिका है। यह सदा शोक और मृत्युके वशीभूत रहनेवाला तथा क्रिया और कारणसे युक्त है। आसक्ति ही उसका दीर्घ विस्तार (लंबाई-चौड़ाई) है। लोभ और तृष्णा ही इस चक्रको ऊँचे-नीचे स्थानोंमें गिरानेके हेतु हैं। अद्‌भुत अज्ञान (माया) इसकी उत्पत्तिका कारण है। भय और मोह इसे सब ओरसे घेरे हुए हैं। यह प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला, आनन्द और प्रीतिके लिये विचरनेवाला तथा काम और क्रोधका संग्रह करनेवाला है ।। १—९ ।।

एतद् द्वन्द्वसमायुक्तं कालचक्रमचेतनम् ।
विसृजेत् संक्षिपेच्चापि बोधयेत् सामरं जगत् ।। १० ।।

यह राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे युक्त जड देहरूपी कालचक्र ही देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि और संहारका कारण है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका भी यही साधन है ।। १० ।।

कालचक्रप्रवृत्तिं च निवृत्तिं चैव तत्त्वतः ।
यस्तु वेद नरो नित्यं न स भूतेषु मुह्यति ।। ११ ।।

जो मनुष्य इस देहमय कालचक्रकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको सदा अच्छी तरह जानता है, वह कभी मोहमें नहीं पड़ता ।। ११ ।।

विमुक्तः सर्वसंस्कारैः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः प्राप्नोति परमां गतिम् ।। १२ ।।

वह सम्पूर्ण वासनाओं, सब प्रकारके द्वन्द्वों और समस्त पापोंसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त होता है ।। १२ ।।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः ।। १३ ।।

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम शास्त्रोंमें बताये गये हैं। गृहस्थ आश्रम ही इन सबका मूल है ।। १३ ।।

यः कश्चिदिह लोकेऽस्मिन्नागमः परिकीर्तितः ।
तस्यान्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी ।। १४ ।।

इस संसारमें जो कोई भी विधि-निषेधरूप शास्त्र कहा गया है, उसमें पारंगत विद्वान् होना गृहस्थ द्विजोंके लिये उत्तम बात है। इसीसे सनातन यशकी प्राप्ति होती है ।। १४ ।।

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वं यथावच्चरितव्रतः ।
जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत तत्त्ववित् ।। १५ ।।

पहले सब प्रकारके संस्कारोंसे सम्पन्न होकर वेदोक्त विधिसे अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करना चाहिये। तत्पश्चात् तत्त्ववेत्ताको उचित है कि वह समावर्तन-संस्कार करके उत्तम गुणोंसे युक्त कुलमें विवाह करे ।। १५ ।।

स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः ।
पञ्चभिश्च महायज्ञैः श्रद्दधानो यजेदिह ।। १६ ।।

अपनी ही स्त्रीपर प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषोंके आचारका पालन करना और जितेन्द्रिय होना गृहस्थके लिये परम आवश्यक है। इस आश्रममें उसे श्रद्धापूर्वक पञ्चमहायज्ञोंके द्वारा देवता आदिका यजन करना चाहिये ।। १६ ।।

देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु ।
इज्याप्रदानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम् ।। १७ ।।

गृहस्थको उचित है कि वह देवता और अतिथियोंको भोजन करानेके बाद बचे हुए अन्नका स्वयं आहार करे। वेदोक्त कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहे। अपनी शक्तिके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक यज्ञ करे और दान दे ।। १७ ।।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः ।। १८ ।।

मननशील गृहस्थको चाहिये कि हाथ, पैर, नेत्र, वाणी तथा शरीरके द्वारा होनेवाली चपलताका परित्याग करे अर्थात् इनके द्वारा कोई अनुचित कार्य न होने दे। यही सत्पुरुषोंका बर्ताव (शिष्टाचार) है ।। १८ ।।

नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः ।
नियतो यमदानाभ्यां सदा शिष्टैश्च संविशेत् ।। १९ ।।

सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहे, स्वच्छ वस्त्र पहने, उत्तम व्रतका पालन करे, शौच-संतोष आदि नियमों और सत्य-अहिंसा आदि यमोंके पालनपूर्वक यथाशक्ति दान करता रहे तथा सदा शिष्ट पुरुषोंके साथ निवास करे ।। १९ ।।

जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचारसमन्वितः ।
वैणवीं धारयेद् यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।। २० ।।

शिष्टाचारका पालन करते हुए जिह्वा और उपस्थको काबूमें रखे। सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे। बाँसकी छड़ी और जलसे भरा हुआ कमण्डलु सदा साथ रखे ।। २० ।।

(त्रीणि धारयते नित्यं कमण्डलुमतन्द्रितः ।
एकमाचमनार्थाय एकं वै पादधावनम् ।
एकं शौचविधानार्थमित्येतत् त्रितयं तथा ।।)

वह आलस्य छोड़कर सदा तीन कमण्डलु धारण करे। एक आचमनके लिये, दूसरा पैर धोनेके लिये और तीसरा शौच-सम्पादनके लिये। इस प्रकार कमण्डलु धारणके ये तीन प्रयोजन हैं ।।

अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजनयाजने ।
दानं प्रतिग्रहं वापि षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ।। २१ ।।

ब्राह्मणको अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान तथा प्रतिग्रह—इन छः वृत्तियोंका आश्रय लेना चाहिये ।। २१ ।।

त्रीणि कर्माणि जानीत ब्राह्मणानां तु जीविका ।
याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ।। २२ ।।

इनमेंसे तीन कर्म—याजन (यज्ञ कराना), अध्यापन (पढ़ाना) और श्रेष्ठ पुरुषोंसे दान लेना—ये ब्राह्मणकी जीविकाके साधन हैं ।। २२ ।।

अथ शेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु ।
दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ।। २३ ।।

शेष तीन कर्म—दान, अध्ययन तथा यज्ञानुष्ठान करना—ये धर्मोपार्जनके लिये हैं ।। २३ ।।

तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित् ।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः ।। २४ ।।
सर्वमेतद् यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयन् शुचिः ।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः ।। २५ ।।

धर्मज्ञ ब्राह्मणको इनके पालनमें कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इन्द्रियसंयमी, मित्रभावसे युक्त, क्षमावान्, सब प्राणियोंके प्रति समानभाव रखनेवाला, मननशील, उत्तम व्रतका पालन करनेवाला और पवित्रतासे रहनेवाला गृहस्थ ब्राह्मण सदा सावधान रहकर अपनी शक्तिके अनुसार यदि उपर्युका नियमोंका पालन करता है तो वह स्वर्गलोकको जीत लेता है ।। २४-२५ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४५ ।।

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीके धर्मका वर्णन

ब्रह्मोवाच

एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि ।
अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान् ।। १ ।।
स्वधर्मनिरतो विद्वान् सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः ।। २ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! इस प्रकार इस पूर्वोक्त मार्गके अनुसार गृहस्थको यथावत् आचरण करना चाहिये एवं यथाशक्ति अध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने धर्ममें तत्पर रहे, विद्वान् बने, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अधीन रखे, मुनि-व्रतका पालन करे, गुरुका प्रिय और हित करनेमें लगा रहे, सत्य बोले तथा धर्मपरायण एवं पवित्र रहे ।। १-२ ।।

गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन् ।
हविष्यभैक्ष्यभुक् चापि स्थानासनविहारवान् ।। ३ ।।

गुरुकी आज्ञा लेकर भोजन करे। भोजनके समय अन्नकी निन्दा न करे। भिक्षाके अन्नको हविष्य मानकर ग्रहण करे। एक स्थानपर रहे। एक आसनसे बैठे और नियत समयमें भ्रमण करे ।। ३ ।।

द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
धारयीत सदा दण्डं बैल्वं पालाशमेव वा ।। ४ ।।

पवित्र और एकाग्रचित्त होकर दोनों समय अग्निमें हवन करे। सदा बेल या पलाशका दण्ड लिये रहे ।। ४ ।।

क्षौमं कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा ।
सर्वं काषायरक्तं वा वासो वापि द्विजस्य ह ।। ५ ।।

रेशमी अथवा सूती वस्त्र या मृगचर्म धारण करे। अथवा ब्राह्मणके लिये सारा वस्त्र गेरुए रंगका होना चाहिये ।। ५ ।।

मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा ।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः ।। ६ ।।

ब्रह्मचारी मूँजकी मेखला पहने, जटा धारण करे, प्रतिदिन स्नान करे, यज्ञोपवीत पहने, वेदके स्वाध्यायमें लगा रहे तथा लोभहीन होकर नियमपूर्वक व्रतका पालन करे ।। ६ ।।

पूताभिश्च तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम् ।
भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते ।। ७ ।।

जो ब्रह्मचारी सदा नियमपरायण होकर श्रद्धाके साथ शुद्ध जलसे नित्य देवताओंका तर्पण करता है, उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ।। ७ ।।

एवं युक्तो जयेल्लोकान् वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः ।। ८ ।।

इसी प्रकार आगे बतलाये जानेवाले उत्तम गुणोंसे युक्त जितेन्द्रिय वानप्रस्थी पुरुष भी उत्तम लोकोंपर विजय पाता है। वह उत्तम स्थानको पाकर फिर इस संसारमें जन्म धारण नहीं करता ।। ८ ।।

संस्कृतः सर्वसंस्कारैस्तथैव ब्रह्मचर्यवान् ।
ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः प्रव्रजितो वसेत् ।। ९ ।।

वानप्रस्थ मुनिको सब प्रकारके संस्कारोंके द्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए घरकी ममता त्यागकर गाँवसे बाहर निकलकर वनमें निवास करना चाहिये ।। ९ ।।

चर्मवल्कलसंवासी सायं प्रातरुपस्पृशेत् ।
अरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत् पुनः ।। १० ।।

वह मृगचर्म अथवा वल्कल-वस्त्र पहने। प्रातः और सायंकालके समय स्नान करे। सदा वनमें ही रहे। गाँवमें फिर कभी प्रवेश न करे ।। १० ।।

अर्चयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम् ।
फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्तयन् ।। ११ ।।

अतिथिको आश्रय दे और समयपर उनका सत्कार करे। जंगली फल, मूल, पत्ता अथवा सावाँ खाकर जीवन-निर्वाह करे ।। ११ ।।

प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमाश्रयेत् ।
प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः ।। १२ ।।

बहते हुए जल, वायु आदि सब वनकी वस्तुओंका ही सेवन करे। अपने व्रतके अनुसार सदा सावधान रहकर क्रमशः उपर्युक्त वस्तुओंका आहार करे ।। १२ ।।

समूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम् ।
यद् भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः ।। १३ ।।

यदि कोई अतिथि आ जाय तो फल-मूलकी भिक्षा देकर उसका सत्कार करे। कभी आलस्य न करे। जो कुछ भोजन अपने पास उपस्थित हो, उसीमेंसे अतिथिको भिक्षा दे ।। १३ ।।

देवतातिथिपूर्वं च सदा प्राश्नीत वाग्यतः ।
अस्पर्धितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः ।। १४ ।।

नित्य प्रति पहले देवता और अतिथियोंको भोजन दे, उसके बाद मौन होकर स्वयं अन्न ग्रहण करे। मनमें किसीके साथ स्पर्धा न रखे, हलका भोजन करे, देवताओंका सहारा

ले ।। १४ ।।

दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशान् श्मश्रु च धारयन् ।
जुह्वन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः ।। १५ ।।

इन्द्रियोंका संयम करे, सबके साथ मित्रताका बर्ताव करे, क्षमाशील बने और दाढ़ी-मूँछ तथा सिरके बालोंको धारण किये रहे। समयपर अग्निहोत्र और वेदोंका स्वाध्याय करे तथा सत्य-धर्मका पालन करे ।। १५ ।।

शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः ।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ।। १६ ।।

शरीरको सदा पवित्र रखे। धर्म-पालनमें कुशलता प्राप्त करे। सदा वनमें रहकर चित्तको एकाग्र किये रहे। इस प्रकार उत्तम धर्मोंको पालन करनेवाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी स्वर्गपर विजय पाता है ।। १६ ।।

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ वा पुनः ।
य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ।। १७ ।।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ कोई भी क्यों न हो, जो मोक्ष पाना चाहता हो, उसे उत्तम वृत्तिका आश्रय लेना चाहिये ।। १७ ।।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् ।
सर्वभूतसुखो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः ।। १८ ।।

(वानप्रस्थकी अवधि पूरी करके) सम्पूर्ण भूतोंको अभय-दान देकर कर्म-त्यागरूप संन्यास-धर्मका पालन करे। सब प्राणियोंके सुखमें सुख माने। सबके साथ मित्रता रखे। समस्त इन्द्रियोंका संयम और मुनि-वृत्तिका पालन करे ।। १८ ।।

अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया ।
कृत्वा प्राह्णे चरेद् भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने ।। १९ ।।
वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित् ।

बिना याचना किये, बिना संकल्पके दैवात् जो अन्न प्राप्त हो जाय, उस भिक्षासे ही जीवन-निर्वाह करे। प्रातःकालका नित्यकर्म करनेके बाद जब गृहस्थोंके यहाँ रसोई-घरसे धुआँ निकलना बंद हो जाय, घरके सब लोग खा-पी चुकें और बर्तन धो-माजकर रख दिये गये हों, उस समय मोक्षधर्मके ज्ञाता संन्यासीको भिक्षा लेनेकी इच्छा करनी चाहिये ।। १९ १/२ ।।

लाभेन च न हृष्येत नालाभे विमना भवेत् ।
न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः ।। २० ।।

भिक्षा मिल जानेपर हर्ष और न मिलनेपर विषाद न करे। (लोभवश) बहुत अधिक भिक्षाका संग्रह न करे। जितनेसे प्राण-यात्राका निर्वाह हो उतनी ही भिक्षा लेनी चाहिये ।। २० ।।

यात्रार्थी कालमाकाङ्क्षंश्चरेद् भैक्ष्यं समाहितः ।
लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः ।। २१ ।।

संन्यासी जीवन-निर्वाहके ही लिये भिक्षा माँगे। उचित समयतक उसके मिलनेकी बाट देखे। चित्तको एकाग्र किये रहे। साधारण वस्तुओंकी प्राप्तिकी भी इच्छा न करे। जहाँ अधिक सम्मान होता हो, वहाँ भोजन न करे ।। २१ ।।

अभिपूजितलाभाद्धि विजुगुप्सेत भिक्षुकः ।
भुक्तान्यन्नानि तिक्तानि कषायकटुकानि च ।। २२ ।।

मान-प्रतिष्ठाके लाभसे संन्यासीको घृणा करनी चाहिये। वह खाये हुए तिक्त, कसैले तथा कड़वे अन्नका स्वाद न ले ।। २२ ।।

नास्वादयीत भुञ्जानो रसांश्च मधुरांस्तथा ।
यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणधारणम् ।। २३ ।।

भोजन करते समय मधुर रसका भी आस्वादन न करे। केवल जीवन-निर्वाहके उद्देश्यसे प्राण-धारणमात्रके लिये उपयोगी अन्नका आहार करे ।। २३ ।।

असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत मोक्षवित् ।
न चान्यमन्नं लिप्सेत भिक्षमाणः कथंचन ।। २४ ।।

मोक्षके तत्त्वको जाननेवाला संन्यासी दूसरे प्राणियोंकी जीविकामें बाधा पहुँचाये बिना ही यदि भिक्षा मिल जाती हो तभी उसे स्वीकार करे। भिक्षा माँगते समय दाताके द्वारा दिये जानेवाले अन्नके सिवा दूसरा अन्न लेनेकी कदापि इच्छा न करे ।। २४ ।।

न संनिकाशयेद् धर्मं विविक्ते चारजाश्चरेत् ।
शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा ।। २५ ।।
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम् ।
ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे वर्षास्वेकत्र वा वसेत् ।। २६ ।।

उसे अपने धर्मका प्रदर्शन नहीं करना चाहिये। रजोगुणसे रहित होकर निर्जन स्थानमें विचरते रहना चाहिये। रातको सोनेके लिये सूने घर, जंगल, वृक्षकी जड़, नदीके किनारे अथवा पर्वतकी गुफाका आश्रय लेना चाहिये। ग्रीष्मकालमें गाँवमें एक रातसे अधिक नहीं रहना चाहिये, किंतु वर्षाकालमें किसी एक ही स्थानपर रहना उचित है ।। २५-२६ ।।

अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवच्च चरेन्महीम् ।
दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत् ।। २७ ।।
संचयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासं च वर्जयेत् ।

जबतक सूर्यका प्रकाश रहे तभीतक संन्यासीके लिये रास्ता चलना उचित है। वह कीड़ेकी तरह धीरे-धीरे समूची पृथ्वीपर विचरता रहे और यात्राके समय जीवोंपर दया करके पृथ्वीको अच्छी तरह देख-भालकर आगे पाँव रखे। किसी प्रकारका संग्रह न करे और कहीं भी आसक्तिपूर्वक निवास न करे ।। २७$\frac{१}{२}$ ।।

पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित् ।। २८ ।।
उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा ।

मोक्ष-धर्मके ज्ञाता संन्यासीको उचित है कि सदा पवित्र जलसे काम ले। प्रतिदिन तुरंत निकाले हुए जलसे स्नान करे (बहुत पहलेके भरे हुए जलसे नहीं) ।। २८ $\frac{१}{२}$ ।।

अहिंसा ब्रह्मचर्यं च सत्यमार्जवमेव च ।। २९ ।।
अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम् ।
अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः ।। ३० ।।

अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोधका अभाव, दोष-दृष्टिका त्याग, इन्द्रियसंयम और चुगली न खाना—इन आठ व्रतोंका सदा सावधानीके साथ पालन करे। इन्द्रियोंको वशमें रखे ।। २९-३० ।।

अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत् ।
जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः ।। ३१ ।।

उसे सदा पाप, शठता और कुटिलतासे रहित होकर बर्ताव करना चाहिये। नित्यप्रति जो अन्न अपने-आप प्राप्त हो जाय, उसको ग्रहण करना चाहिये, किंतु उसके लिये भी मनमें इच्छा नहीं रखनी चाहिये ।। ३१ ।।

यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम् ।
धर्मलब्धमथाश्नीयान्न काममनुवर्तयेत् ।। ३२ ।।

प्राणयात्राका निर्वाह करनेके लिये जितना अन्न आवश्यक है, उतना ही ग्रहण करे। धर्मतः प्राप्त हुए अन्नका ही आहार करे। मनमाना भोजन न करे ।। ३२ ।।

ग्रासादाच्छादनादन्यन्न गृह्णीयात् कथंचन ।
यावदाहारयेत् तावत् प्रतिगृह्णीत नाधिकम् ।। ३३ ।।

खानेके लिये अन्न और शरीर ढकनेके लिये वस्त्रके सिवा और किसी वस्तुका संग्रह न करे। भिक्षा भी, जितनी भोजनके लिये आवश्यक हो, उतनी ही ग्रहण करे, उससे अधिक नहीं ।। ३३ ।।

परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं न च देयं कदाचन ।
दैन्यभावाच्च भूतानां संविभज्य सदा बुधः ।। ३४ ।।

बुद्धिमान् संन्यासीको चाहिये कि दूसरोंके लिये भिक्षा न माँगे तथा सब प्राणियोंके लिये दयाभावसे संविभागपूर्वक कभी कुछ देनेकी इच्छा भी न करे ।। ३४ ।।

नाददीत परस्वानि न गृह्णीयादयाचितः ।
न किंचिद् विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत् तस्य वै पुनः ।। ३५ ।।

दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे। बिना प्रार्थनाके किसीकी कोई वस्तु स्वीकार न करे। किसी अच्छी वस्तुका उपभोग करके फिर उसके लिये लालायित न रहे ।। ३५ ।।

मृदमापस्तथान्नानि पत्रपुष्पफलानि च ।

असंवृतानि गृह्णीयात् प्रवृत्तानि च कार्यवान् ।। ३६ ।।

मिट्टी, जल, अन्न, पत्र, पुष्प और फल—ये वस्तुएँ यदि किसीके अधिकारमें न हों तो आवश्यकता पड़नेपर क्रियाशील संन्यासी इन्हें काममें ला सकता है ।। ३६ ।।

न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत् ।
न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृतः ।। ३७ ।।

वह शिल्पकारी करके जीविका न चलावे, सुवर्णकी इच्छा न करे। किसीसे द्वेष न करे और उपदेशक न बने तथा संग्रहरहित रहे ।। ३७ ।।

श्रद्धापूतानि भुञ्जीत निमित्तानि च वर्जयेत् ।
सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसंविदम् ।। ३८ ।।

श्रद्धासे प्राप्त हुए पवित्र अन्नका आहार करे। मनमें कोई निमित्त न रखे। सबके साथ अमृतके समान मधुर बर्ताव करे, कहीं भी आसक्त न हो और किसी भी प्राणीके साथ परिचय न बढ़ावे ।। ३८ ।।

आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहधर्मं च नैव कुर्यान्न कारयेत् ।। ३९ ।।

जितने भी कामना और हिंसासे युक्त कर्म हैं, उन सबका एवं लौकिक कर्मोंका न स्वयं अनुष्ठान करे और न दूसरोंसे करावे ।। ३९ ।।

सर्वभावानतिक्रम्य लघुमात्रः परिव्रजेत् ।
समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।। ४० ।।

सब प्रकारके पदार्थोंकी आसक्तिका उल्लंघन करके थोड़ेमें संतुष्ट हो सब ओर विचरता रहे। स्थावर और जंगम सभी प्राणियोंके प्रति समान भाव रखे ।। ४० ।।

परं नोद्वेजयेत् काचिन्न च कस्यचिदुद्विजेत् ।
विश्वास्यः सर्वभूतानामग्रयो मोक्षविदुच्यते ।। ४१ ।।

किसी दूसरे प्राणीको उद्वेगमें न डाले और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो। जो सब प्राणियोंका विश्वासपात्र बन जाता है, वह सबसे श्रेष्ठ और मोक्ष-धर्मका ज्ञाता कहलाता है ।। ४१ ।।

अनागतं च न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत् ।
वर्तमानमुपेक्षेत कालाकाङ्क्षी समाहितः ।। ४२ ।।

संन्यासीको उचित है कि भविष्यके लिये विचार न करे, बीती हुई घटनाका चिन्तन न करे और वर्तमानकी भी उपेक्षा कर दे। केवल कालकी प्रतीक्षा करता हुआ चित्तवृत्तियोंका समाधान करता रहे ।। ४२ ।।

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत् क्वचित् ।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद् दुष्टं समाचरेत् ।। ४३ ।।

नेत्रसे, मनसे और वाणीसे कहीं भी दोषदृष्टि न करे। सबके सामने या दूसरोंकी आँख बचाकर कोई बुराई न करे ।। ४३ ।।

इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्त्ववित् ।। ४४ ।।

जैसे कछुआ अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकर इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटा ले। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको दुर्बल करके निश्चेष्ट हो जाय। सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करे ।। ४४ ।।

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च ।
निर्ममो निरहंकारो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। ४५ ।।

द्वन्द्वोंसे प्रभावित न हो, किसीके सामने माथा न टेके। स्वाहाकार (अग्निहोत्र आदि)-का परित्याग करे। ममता और अहंकारसे रहित हो जाय, योगक्षेमकी चिन्ता न करे। मनपर विजय प्राप्त करे ।। ४५ ।।

निराशीर्निर्गुणः शान्तो निरासक्तो निराश्रयः ।
आत्मसङ्गी च तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र संशयः ।। ४६ ।।

जो निष्काम, निर्गुण, शान्त, अनासक्त, निराश्रय, आत्मपरायण और तत्त्वका ज्ञाता होता है, वह मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।। ४६ ।।

अपादपाणिपृष्ठं तदशिरस्कमनूदरम् ।
प्रहीणगुणकर्माणं केवलं विमलं स्थिरम् ।। ४७ ।।
अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दमेव च ।
अनुगम्यमनासक्तममांसमपि चैव यत् ।। ४८ ।।
निश्चिन्तमव्ययं दिव्यं कूटस्थमपि सर्वदा ।
सर्वभूतस्थमात्मानं ये पश्यन्ति न ते मृताः ।। ४९ ।।

जो मनुष्य आत्माको हाथ, पैर, पीठ, मस्तक और उदर आदि अंगोंसे रहित, गुण-कर्मोंसे हीन, केवल, निर्मल, स्थिर, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दसे रहित, ज्ञेय, अनासक्त, हाड़-मांसके शरीरसे रहित, निश्चिन्त, अविनाशी, दिव्य और सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित सदा एकरस रहनेवाला जानते हैं, उनकी कभी मृत्यु नहीं होती ।। ४७—४९ ।।

न तत्र क्रमते बुद्धिर्नेन्द्रियाणि न देवताः ।
वेदा यज्ञाश्च लोकाश्च न तपो न व्रतानि च ।। ५० ।।
यत्र ज्ञानवतां प्राप्तिरलिङ्गग्रहणा स्मृता ।
तस्मादलिङ्गधर्मज्ञो धर्मतत्त्वमुपाचरेत् ।। ५१ ।।

उस आत्मतत्त्वतक बुद्धि, इन्द्रिय और देवताओंकी भी पहुँच नहीं होती। जहाँ केवल ज्ञानवान् महात्माओंकी ही गति है, वहाँ वेद, यज्ञ, लोक, तप और व्रतका भी प्रवेश नहीं

होता; क्योंकि वह बाह्य चिह्नसे रहित मानी गयी है। इसलिये बाह्य चिह्नोंसे रहित धर्मको जानकर उसका यथार्थरूपसे पालन करना चाहिये ।। ५०-५१ ।।

गूढधर्माश्रितो विद्वान् विज्ञानचरितं चरेत् ।
अमूढो मूढरूपेण चरेद् धर्ममदूषयन् ।। ५२ ।।

गुह्य धर्ममें स्थित विद्वान् पुरुषको उचित है कि वह विज्ञानके अनुरूप आचरण करे। मूढ़ न होकर भी मूढ़के समान बर्ताव करे, किंतु अपने किसी व्यवहारसे धर्मको कलंकित न करे ।। ५२ ।।

तथैनमवमन्येरन् परे सततमेव हि ।
यथावृत्तश्चरेच्छान्तः सतां धर्मानकुत्सयन् ।। ५३ ।।
य एवं वृत्तसम्पन्नः स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ।

जिस कामके करनेसे समाजके दूसरे लोग अनादर करें, वैसा ही काम शान्त रहकर सदा करता रहे, किंतु सत्पुरुषोंके धर्मकी निन्दा न करे। जो इस प्रकारके बर्तावसे सम्पन्न है, वह श्रेष्ठ मुनि कहलाता है ।। ५३½ ।।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पञ्च च ।। ५४ ।।
मनो बुद्धिरहंकारमव्यक्तं पुरुषं तथा ।
एतत् सर्वं प्रसंख्याय यथावत् तत्त्वनिश्चयात् ।। ५५ ।।
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः ।

जो मनुष्य इन्द्रिय, उनके विषय, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष —इन सबका विचार करके इनके तत्त्वका यथावत् निश्चय कर लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त होकर स्वर्गको प्राप्त कर लेता है ।। ५४-५५½ ।।

एतावदन्तवेलायां परिसंख्याय तत्त्ववित् ।। ५६ ।।
ध्यायेदेकान्तमास्थाय मुच्यतेऽथ निराश्रयः ।
निर्मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो वायुराकाशगो यथा ।। ५७ ।।
क्षीणकोशो निरातङ्कस्तथेदं प्राप्नुयात् परम् ।। ५८ ।।

जो तत्त्ववेत्ता अन्त समयमें इन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके एकान्तमें बैठकर परमात्माका ध्यान करता है, वह आकाशमें विचरनेवाले वायुकी भाँति सब प्रकारकी आसक्तियोंसे छूटकर पञ्चकोशोंसे रहित, निर्भय तथा निराश्रय होकर मुक्त एवं परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।। ५६—५८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४६ ।।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

मुक्तिके साधनोंका, देहरूपी वृक्षका तथा ज्ञान-खड्गसे उसे काटनेका वर्णन

ब्रह्मोवाच

संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितवादिनः ।
ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ज्ञानं ब्रह्म परं विदुः ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! निश्चित बात कहनेवाले और वेदोंके कारणरूप परमात्मामें स्थित वृद्ध ब्राह्मण संन्यासको तप कहते हैं और ज्ञानको ही परब्रह्मका स्वरूप मानते हैं ।। १ ।।

अतिदूरात्मकं ब्रह्म वेदविद्याव्यपाश्रयम् ।
निर्द्वन्द्वं निर्गुणं नित्यमचिन्त्यगुणमुत्तमम् ।। २ ।।
ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत् परम् ।

वह वेदविद्याका आधार ब्रह्म (अज्ञानियोंके लिये) अत्यन्त दूर है। वह निर्द्वन्द्व, निर्गुण, नित्य, अचिन्त्य गुणोंसे युक्त और सर्वश्रेष्ठ है। धीर पुरुष ज्ञान और तपस्याके द्वारा उस परमात्माका साक्षात्कार करते हैं ।। २½ ।।

निर्णिक्तमनसः पूता व्युत्क्रान्तरजसोऽमलाः ।। ३ ।।
तपसा क्षेममध्वानं गच्छन्ति परमेश्वरम् ।
संन्यासनिरता नित्यं ये च ब्रह्मविदो जनाः ।। ४ ।।

जिनके मनकी मैल धुल गयी है, जो परम पवित्र हैं, जिन्होंने रजोगुणको त्याग दिया है, जिनका अन्तःकरण निर्मल है, जो नित्य संन्यासपरायण तथा ब्रह्मके ज्ञाता हैं, वे पुरुष तपस्याके द्वारा कल्याणमय पथका आश्रय लेकर परमेश्वरको प्राप्त होते हैं ।। ३-४ ।।

तपः प्रदीप इत्याहुराचारो धर्मसाधकः ।
ज्ञानं वै परमं विद्यात् संन्यासं तप उत्तमम् ।। ५ ।।

ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि तपस्या (परमात्म-तत्त्वको प्रकाशित करनेवाला) दीपक है, आचार धर्मका साधक है, ज्ञान परब्रह्मका स्वरूप है और संन्यास ही उत्तम तप है ।। ५ ।।

यस्तु वेद निराधारं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयात् ।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ।। ६ ।।

जो तत्त्वका पूर्ण निश्चय करके ज्ञानस्वरूप, निराधार और सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर रहनेवाले आत्माको जान लेता है, वह सर्वव्यापक हो जाता है ।। ६ ।।

यो विद्वान् सहवासं च विवासं चैव पश्यति ।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् प्रतिमुच्यते ।। ७ ।।

जो विद्वान् संयोगको भी वियोगके रूपमें ही देखता है तथा वैसे ही नानात्वमें एकत्व देखता है, वह दुःखसे सर्वथा मुक्त हो जाता है ।। ७ ।।

यो न कामयते किंचिन्न किंचिदवमन्यते ।
इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। ८ ।।

जो किसी वस्तुकी कामना तथा किसीकी अवहेलना नहीं करता, वह इस लोकमें रहकर भी ब्रह्मस्वरूप होनेमें समर्थ हो जाता है ।। ८ ।।

प्रधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतप्रधानवित् ।
निर्ममो निरहंकारो मुच्यते नात्र संशयः ।। ९ ।।

जो सब भूतोंमें प्रधान—प्रकृतिको तथा उसके गुण एवं तत्त्वको भलीभाँति जानकर ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उसके मुक्त होनेमें संदेह नहीं है ।। ९ ।।

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
निर्गुणं नित्यमद्वन्द्वं प्रशमेनैव गच्छति ।। १० ।।

जो द्वन्द्वोंसे रहित, नमस्कारकी इच्छा न रखने-वाला और स्वधाकार (पितृ-कार्य) न करनेवाला संन्यासी है, वह अतिशय शान्तिके द्वारा ही निर्गुण, द्वन्द्वातीत, नित्यतत्त्वको प्राप्त कर लेता है ।। १० ।।

हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म जन्तुः शुभाशुभम् ।
उभे सत्यानृते हित्वा मुच्यते नात्र संशयः ।। ११ ।।

शुभ और अशुभ समस्त त्रिगुणात्मक कर्मोंका तथा सत्य और असत्य—इन दोनोंका भी त्याग करके संन्यासी मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।। ११ ।।

अव्यक्तयोनिप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् ।
महाहंकारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ।। १२ ।।
महाभूतविशालश्च विशेषयति शाखिनः ।
सदापत्रः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ।। १३ ।।
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।
एनं छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ।। १४ ।।
हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्मजरोदयान् ।
निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ।। १५ ।।

यह देह एक वृक्षके समान है। अज्ञान इसका मूल (जड़) है, बुद्धि स्कन्ध (तना) है, अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ अंकुर और खोखले हैं तथा पञ्चमहाभूत इसको विशाल बनानेवाले हैं और इस वृक्षकी शोभा बढ़ाते हैं। इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं। शुभाशुभ कर्मोंसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि ही इसमें

सदा लगे रहनेवाले फल हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीजसे प्रकट होकर प्रवाहरूपसे सदा मौजूद रहनेवाला यह देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियोंके जीवनका आधार है। बुद्धिमान् पुरुष तत्त्वज्ञानरूपी खड्गसे इस वृक्षको छिन्न-भिन्न कर जब जन्म-मृत्यु और जरावस्थाके चक्करमें डालनेवाले आसक्तिरूप बन्धनोंको तोड़ डालता है तथा ममता और अहंकारसे रहित हो जाता है, उस समय उसे अवश्य मुक्ति प्राप्त होती है, इसमें संशय नहीं है ।।

द्वाविमौ पक्षिणौ नित्यौ संक्षेपौ चाप्यचेतनौ ।
एताभ्यां तु परो योऽन्यश्चेतनावान् स उच्यते ।। १६ ।।

इस वृक्षपर रहनेवाले (मन-बुद्धिरूप) दो पक्षी हैं, जो नित्य क्रियाशील होनेपर भी अचेतन हैं। इन दोनोंसे श्रेष्ठ अन्य (आत्मा) है, वह ज्ञानसम्पन्न कहा जाता है ।।

अचेतनः सत्त्वसंख्याविमुक्तः
सत्त्वात् परं चेतयतेऽन्तरात्मा ।
स क्षेत्रवित् सर्वसंख्यातबुद्धि-
र्गुणातिगो मुच्यते सर्वपापैः ।। १७ ।।

संख्यासे रहित जो सत्त्व अर्थात् मूलप्रकृति है, वह अचेतन है। उससे भिन्न जो जीवात्मा है, उसे अन्तर्यामी परमात्मा ज्ञानसम्पन्न करता है। वही क्षेत्रको जाननेवाला जब सम्पूर्ण तत्त्वोंको जान लेता है, तब गुणातीत होकर सब पापोंसे छूट जाता है ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४७ ।।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

आत्मा और परमात्माके स्वरूपका विवेचन

ब्रह्मोवाच

केचिद् ब्रह्ममयं वृक्षं केचिद् ब्रह्मवनं महत् ।
केचित्तु ब्रह्म चाव्यक्तं केचित् परमनामयम् ।
मन्यन्ते सर्वमप्येतदव्यक्तप्रभवाव्ययम् ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षिगण! इस अव्यक्त, उत्पत्तिशील, अविनाशी सम्पूर्ण वृक्षको कोई ब्रह्म-स्वरूप मानते हैं और कोई महान् ब्रह्मवन मानते हैं। कितने ही इसे अव्यक्त ब्रह्म और कितने ही परम अनामय मानते हैं ।। १ ।।

उच्छ्वामात्रमपि चेद् योऽन्तकाले समो भवेत् ।
आत्मानमुपसङ्गम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। २ ।।

जो मनुष्य अन्तकालमें आत्माका ध्यान करके, साँस लेनेमें जितनी देर लगती है, उतनी देर भी, समभावमें स्थित होता है, वह अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है ।। २ ।।

निमेषमात्रमपि चेत् संयम्यात्मानमात्मनि ।
गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां प्राप्तिमव्ययाम् ।। ३ ।।

जो एक निमेष भी अपने मनको आत्मामें एकाग्र कर लेता है, वह अन्तःकरणकी प्रसन्नताको पाकर विद्वानोंको प्राप्त होनेवाली अक्षय गतिको पा जाता है ।। ३ ।।

प्राणायामैरथ प्राणान् संयम्य स पुनः पुनः ।
दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः ।। ४ ।।

दस अथवा बारह प्राणायामोंके द्वारा पुनः-पुनः प्राणोंका संयम करनेवाला पुरुष भी चौबीस तत्त्वोंसे परे पचीसवें तत्त्व परमात्माको प्राप्त होता है ।। ४ ।।

एवं पूर्वं प्रसन्नात्मा लभते यद् यदिच्छति ।
अव्यक्तात् सत्त्वमुद्रिक्तममृतत्वाय कल्पते ।। ५ ।।
सत्त्वात् परतरं नान्यत् प्रशंसन्तीह तद्विदः ।

इस प्रकार जो पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लेता है, वह जो-जो चाहता है उसी-उसी वस्तुको पा जाता है। अव्यक्तसे उत्कृष्ट जो सत्-स्वरूप आत्मा है, वह अमर होनेमें समर्थ है। अतः सत्त्वस्वरूप आत्माके महत्त्वको जाननेवाले विद्वान् इस जगत्में सत्त्वसे बढ़कर और किसी वस्तुकी प्रशंसा नहीं करते ।। ५½ ।।

अनुमानाद् विजानीमः पुरुषं सत्त्वसंश्रयम् ।
न शक्यमन्यथा गन्तुं पुरुषं द्विजसत्तमाः ।। ६ ।।

द्विजवरो! इस अनुमान-प्रमाणके द्वारा इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि अन्तर्यामी परमात्मा सत्त्वस्वरूप आत्मामें स्थित हैं। इस तत्त्वको समझे बिना परम पुरुषको प्राप्त करना सम्भव नहीं है ।। ६ ।।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।
ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते ।। ७ ।।

क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, ज्ञान, त्याग तथा संन्यास—ये सात्त्विक बर्ताव बताये गये हैं ।। ७ ।।

एतेनैवानुमानेन मन्यन्ते वै मनीषिणः ।
सत्त्वं च पुरुषश्चैव तत्र नास्ति विचारणा ।। ८ ।।

मनीषी पुरुष इसी अनुमानसे उस सत्त्वस्वरूप आत्माका और परमात्माका मनन करते हैं। इसमें कोई विचारणीय बात नहीं है ।। ८ ।।

आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः ।
क्षेत्रज्ञसत्त्वयोरैक्यमित्येतन्नोपपद्यते ।। ९ ।।

ज्ञानमें भलीभाँति स्थित कितने ही विद्वान् कहते हैं कि क्षेत्रज्ञ और सत्त्वकी एकता युक्तिसंगत नहीं है ।। ९ ।।

पृथग्भूतं ततः सत्त्वमित्येतदविचारितम् ।
पृथग्भावश्च विज्ञेयः सहजश्चापि तत्त्वतः ।। १० ।।

उनका कहना है कि उस क्षेत्रज्ञसे सत्त्व पृथक् है, क्योंकि यह सत्त्व अविचारसिद्ध है। ये दोनों एक साथ रहनेवाले होनेपर भी तत्त्वतः अलग-अलग हैं—ऐसा समझना चाहिये ।। १० ।।

तथैवैकत्वनानात्वमिष्यते विदुषां नयः ।
मशकोदुम्बरे चैक्यं पृथक्त्वमपि दृश्यते ।। ११ ।।

इसी प्रकार दूसरे विद्वानोंका निर्णय दोनोंके एकत्व और नानात्वको स्वीकार करता है; क्योंकि मशक और उदुम्बरकी एकता और पृथक्ता देखी जाती है ।। ११ ।।

मत्स्यो यथान्यः स्यादप्सु सम्प्रयोगस्तथा तयोः ।
सम्बन्धस्तोयबिन्दूनां पर्णे कोकनदस्य च ।। १२ ।।

जैसे जलसे मछली भिन्न है तो भी मछली और जल—दोनोंका संयोग देखा जाता है एवं जलकी बूँदोंका कमलके पत्तेसे सम्बन्ध देखा जाता है ।। १२ ।।

गुरुरुवाच

इत्युक्तवन्तस्ते विप्रास्तदा लोकपितामहम् ।
पुनः संशयमापन्नाः पप्रच्छुर्मुनिसत्तमाः ।। १३ ।।

गुरुने कहा—इस प्रकार कहनेपर उन मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मणोंने पुनः संशयमें पड़कर उस समय लोकपितामह ब्रह्माजीसे पूछा ।। १३ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।। ४८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४८ ।।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धर्मका निर्णय जाननेके लिये ऋषियोंका प्रश्न

ऋषय ऊचुः

को वा स्विदिह धर्माणामनुष्ठेयतमो मतः ।
व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम् ।। १ ।।

ऋषियोंने पूछा—ब्रह्मन्! इस जगत्में समस्त धर्मोंमें कौन-सा धर्म अनुष्ठान करनेके लिये सर्वोत्तम माना गया है, यह कहिये; क्योंकि हमें धर्मके विभिन्न मार्ग एक-दूसरेसे आहत हुए-से प्रतीत होते हैं ।। १ ।।

ऊर्ध्वं देहाद् वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे ।
केचित् संशयितं सर्वं निःसंशयमथापरे ।। २ ।।

कोई तो कहते हैं कि देहका नाश होनेके बाद धर्मका फल मिलेगा। दूसरे कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कितने ही लोग सब धर्मोंको संशययुक्त बताते हैं और दूसरे संशयरहित कहते हैं ।। २ ।।

अनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे ।
एकरूपं द्विधेत्येके व्यामिश्रमिति चापरे ।। ३ ।।

कोई कहते हैं कि धर्म अनित्य है और कोई उसे नित्य कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि धर्म नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। कोई कहते हैं कि अवश्य है। कोई कहते हैं कि एक ही धर्म दो प्रकारका है तथा कुछ लोग कहते हैं कि धर्म मिश्रित है ।। ३ ।।

मन्यन्ते ब्राह्मणा एव ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ।
एकमेके पृथक् चान्ये बहुत्वमिति चापरे ।। ४ ।।

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता तत्त्वदर्शी ब्राह्मण लोग यह मानते हैं कि एक ब्रह्म ही है। अन्य कितने ही कहते हैं कि जीव और ईश्वर अलग-अलग हैं और दूसरे लोग सबकी सत्ता भिन्न और बहुत प्रकारसे मानते हैं ।। ४ ।।

देशकालावुभौ केचिन्नैतदस्तीति चापरे ।
जटाजिनधराश्चान्ये मुण्डाः केचिदसंवृताः ।। ५ ।।

कितने ही लोग देश और कालकी सत्ता मानते हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि इनकी सत्ता नहीं है। कोई जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले हैं, कोई सिर मुँडाते हैं और कोई दिगम्बर रहते हैं ।। ५ ।।

अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमप्यपरे जनाः ।
मन्यन्ते ब्राह्मणा देवा ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ।। ६ ।।

कितने ही मनुष्य स्नान नहीं करना चाहते और दूसरे लोग जो शास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी ब्राह्मणदेवता हैं, वे स्नानको ही श्रेष्ठ मानते हैं ।। ६ ।।

आहारं केचिदिच्छन्ति केचिच्चानशने रताः ।

कर्म केचित् प्रशंसन्ति प्रशान्तिं चापरे जनाः ।। ७ ।।

कई लोग भोजन करना अच्छा मानते हैं और कई भोजन न करनेमें अभिरत रहते हैं। कई कर्म करनेकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे लोग परम शान्तिकी प्रशंसा करते हैं ।। ७ ।।

केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद् भोगान् पृथग्विधान् ।

धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वमथापरे ।

उपास्यसाधनं त्वेके नैतदस्तीति चापरे ।। ८ ।।

कितने ही मोक्षकी प्रशंसा करते हैं और कितने ही नाना प्रकारके भोगोंकी प्रशंसा करते हैं। कुछ लोग बहुत-सा धन चाहते हैं और दूसरे निर्धनताको पसंद करते हैं। कितने ही मनुष्य अपने उपास्य इष्टदेवकी प्राप्तिकी साधना करते हैं और दूसरे कितने ही ऐसा कहते हैं कि ‘यह नहीं है’ ।। ८ ।।

अहिंसानिरताश्चान्ये केचिद् हिंसापरायणाः ।

पुण्येन यशसा चान्ये नैतदस्तीति चापरे ।। ९ ।।

अन्य कई लोग अहिंसा-धर्मका पालन करनेमें रुचि रखते हैं और कई लोग हिंसाके परायण हैं। दूसरे कई पुण्य और यशसे सम्पन्न हैं। इनसे भिन्न दूसरे कहते हैं कि ‘यह सब कुछ नहीं है’ ।। ९ ।।

सद्भावनिरताश्चान्ये केचित् संशयिते स्थिताः ।

दुःखादन्ये सुखादन्ये ध्यानमित्यपरे जनाः ।। १० ।।

अन्य कितने ही सद्भावमें रुचि रखते हैं। कितने ही लोग संशयमें पड़े रहते हैं। कितने ही साधक कष्ट सहन करते हुए ध्यान करते हैं और दूसरे कई सुखपूर्वक ध्यान करते हैं ।। १० ।।

यज्ञमित्यपरे विप्राः प्रदानमिति चापरे ।

तपस्त्वन्ये प्रशंसन्ति स्वाध्यायमपरे जनाः ।। ११ ।।

अन्य ब्राह्मण यज्ञको श्रेष्ठ बताते हैं और दूसरे दानकी प्रशंसा करते हैं। अन्य कई तपकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे स्वाध्यायकी प्रशंसा करते हैं ।। ११ ।।

ज्ञानं संन्यासमित्येके स्वभावं भूतचिन्तकाः ।

सर्वमेके प्रशंसन्ति न सर्वमिति चापरे ।। १२ ।।

कई लोग कहते हैं कि ज्ञान ही संन्यास है। भौतिक विचारवाले मनुष्य स्वभावकी प्रशंसा करते हैं। कितने ही सभीकी प्रशंसा करते हैं और दूसरे सबकी प्रशंसा नहीं करते ।। १२ ।।

एवं व्युत्थापिते धर्मे बहुधा विप्रबोधिते ।

निश्चयं नाधिगच्छामः सम्मूढाः सुरसत्तम ।। १३ ।।

सुरश्रेष्ठ ब्रह्मन्! इस प्रकार धर्मकी व्यवस्था अनेक ढंगसे परस्पर विरुद्ध बतलायी जानेके कारण हमलोग धर्मके विषयमें मोहित हो रहे हैं; अतः किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाते ।। १३ ।।

इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं व्युत्थितो जनः ।
यो हि यस्मिन् रतो धर्मे स तं पूजयते सदा ।। १४ ।।

'यही कल्याण-मार्ग है, यही कल्याण-मार्ग है'—इस प्रकारकी बातें सुनकर मनुष्य-समुदाय विचलित हो गया है। जो जिस धर्ममें रत है, वह उसीका सदा आदर करता है ।। १४ ।।

तेन नोऽविहिता प्रज्ञा मनश्च बहुलीकृतम् ।
एतदाख्यातमिच्छामः श्रेयः किमिति सत्तम ।। १५ ।।

इस कारण हमलोगोंकी बुद्धि विचलित हो गयी है और मन भी बहुत-से संकल्प-विकल्पोंमें पड़कर चंचल हो गया है। श्रेष्ठ ब्रह्मन्! हम यह जानना चाहते हैं कि वास्तविक कल्याणका मार्ग क्या है? ।। १५ ।।

अतः परं तु यद् गुह्यं तद् भवान् वक्तुमर्हति ।
सत्त्वक्षेत्रज्ञयोश्चापि सम्बन्धः केन हेतुना ।। १६ ।।

इसलिये जो परम गुह्य तत्त्व है, वह आपको हमें बतलाना चाहिये। साथ ही यह भी बतलाइये कि बुद्धि और क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध किस कारणसे हुआ है? ।। १६ ।।

एवमुक्तः स तैर्विप्रैर्भगवाँल्लोकभावनः ।
तेभ्यः शशंस धर्मात्मा याथातथ्येन बुद्धिमान् ।। १७ ।।

लोकोंकी सृष्टि करनेवाले धर्मात्मा बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माजी उन ऋषियोंकी यह बात सुनकर उनसे उनके प्रश्नोंका यथार्थ रूपसे उत्तर देने लगे ।। १७ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ४९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्य-संवादविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ४९ ।।

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सत्त्व और पुरुषकी भिन्नता, बुद्धिमान्की प्रशंसा, पञ्चभूतोंके गुणोंका विस्तार और परमात्माकी श्रेष्ठताका वर्णन

ब्रह्मोवाच

हन्त वः संप्रवक्ष्यामि यन्मां पृच्छथ सत्तमाः ।
गुरुणा शिष्यमासाद्य यदुक्तं तन्निबोधत ।। १ ।।

ब्रह्माजी बोले—श्रेष्ठ महर्षियो! तुमलोगोंने जो विषय पूछा है, उसे अब मैं कहूँगा। गुरुने सुयोग्य शिष्यको पाकर जो उपदेश दिया है, उसे तुमलोग सुनो ।। १ ।।

समस्तमिह तच्छ्रुत्वा सम्यगेवावधार्यताम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्यतमं मतम् ।। २ ।।
एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्मलक्षणम् ।

उस विषयको यहाँ पूर्णतया सुनकर अच्छी प्रकार धारण करो। सब प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वोत्तम कर्तव्य है—ऐसा माना गया है। यह साधन उद्वेगरहित, सर्वश्रेष्ठ और धर्मको लक्षित करानेवाला है ।। २½ ।।

ज्ञानं निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।। ३ ।।
तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ।

निश्चयको साक्षात् करनेवाले वृद्ध लोग कहते हैं कि ‘ज्ञान ही परम कल्याणका साधन है।’ इसलिये परम शुद्ध ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ।। ३½ ।।

हिंसापराश्च ये केचिद् ये च नास्तिकवृत्तयः ।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः ।। ४ ।।

जो लोग प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, नास्तिक-वृत्तिका आश्रय लेते हैं और लोभ तथा मोहमें फँसे हुए हैं, उन्हें नरकमें गिरना पड़ता है ।। ४ ।।

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
तेऽस्मिल्लोँके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ।। ५ ।।

जो लोग सावधान होकर सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे बार-बार इस लोकमें जन्म ग्रहण करके सुखी होते हैं ।। ५ ।।

कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः ।
अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ।। ६ ।।

जो विद्वान् समत्वयोगमें स्थित हो श्रद्धाके साथ कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और उनके फलमें आसक्त नहीं होते, वे धीर और उत्तम दृष्टिवाले माने गये हैं ।। ६ ।।

अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा ।
संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः ।। ७ ।।

श्रेष्ठ महर्षियो! अब मैं यह बता रहा हूँ कि सत्त्व और क्षेत्रज्ञका परस्पर संयोग और वियोग कैसे होता है? इस विषयको ध्यान देकर सुनो ।। ७ ।।

विषयो विषयित्वं च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते ।
विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः ।। ८ ।।

इन दोनोंमें यहाँ यह विषय-विषयिभाव सम्बन्ध माना गया है। इनमें पुरुष तो सदा विषयी और सत्त्व विषय माना जाता है ।। ८ ।।

व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा ।
भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्त्वमचेतनम् ।
यस्त्वेवं तं विजानीते यो भुङ्क्ते यश्च भुज्यते ।। ९ ।।

पूर्व अध्यायमें मच्छर और गूलरके उदाहरणसे यह बात बतायी जा चुकी है कि भोगा जानेवाला अचेतन सत्त्व नित्य-स्वरूप क्षेत्रज्ञको नहीं जानता, किंतु जो क्षेत्रज्ञ है वह इस प्रकार जानता है कि जो भोगता है वह आत्मा है और जो भोगा जाता है, वह सत्त्व है ।। ९ ।।

नित्यं द्वन्द्वसमायुक्तं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।
निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः ।। १० ।।

मनीषी पुरुष सत्त्वको द्वन्द्वयुक्त कहते हैं और क्षेत्रज्ञ निर्द्वन्द्व, निष्कल, नित्य और निर्गुणस्वरूप है ।। १० ।।

समं संज्ञानुगश्चैव स सर्वत्र व्यवस्थितः ।
उपभुङ्क्ते सदा सत्त्वमपः पुष्करपर्णवत् ।। ११ ।।

वह क्षेत्रज्ञ समभावसे सर्वत्र भलीभाँति स्थित हुआ ज्ञानका अनुसरण करता है। जैसे कमलका पत्ता निर्लिप्त रहकर जलको धारण करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सदा सत्त्वका उपभोग करता है ।। ११ ।।

सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते ।
जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ।। १२ ।।
एवमेवाप्यसंयुक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः ।

जैसे कमलके पत्तेपर पड़ी हुई जलकी चंचल बूँद उसे भिगो नहीं पाती, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष समस्त गुणोंसे सम्बन्ध रखते हुए भी किसीसे लिप्त नहीं होता। अतः क्षेत्रज्ञ पुरुष वास्तविकमें असंग है, इसमें संदेह नहीं है ।। १२½ ।।

द्रव्यमात्रभूत् सत्त्वं पुरुषस्येति निश्चयः ।। १३ ।।

यथा द्रव्यं च कर्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा ।

यह निश्चित बात है कि पुरुषके भोगनेयोग्य द्रव्यमात्रकी संज्ञा सत्त्व है तथा जैसे द्रव्य और कर्ताका सम्बन्ध है, वैसे ही इन दोनोंका सम्बन्ध है ।। १३ $\frac{१}{२}$ ।।

यथा प्रदीपमादाय कश्चित् तमसि गच्छति ।
तथा सत्त्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः ।। १४ ।।

जैसे कोई मनुष्य दीपक लेकर अन्धकारमें चलता है, वैसे ही परम तत्त्वको चाहनेवाले साधक सत्त्वरूप दीपकके प्रकाशमें साधनमार्गपर चलते हैं ।। १४ ।।

यावद् द्रव्यं गुणस्तावत् प्रदीपः सम्प्रकाशते ।
क्षीणे द्रव्ये गुणे ज्योतिरन्तर्धानाय गच्छति ।। १५ ।।

जबतक दीपकमें द्रव्य और गुण रहते हैं, तभीतक वह प्रकाश फैलाता है। द्रव्य और गुणका क्षय हो जानेपर ज्योति भी अन्तर्धान हो जाती है ।। १५ ।।

व्यक्तः सत्त्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते ।
एतद् विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः ।। १६ ।।

ब्रह्माजीका ऋषियोंको उपदेश

इस प्रकार सत्त्वगुण तो व्यक्त है और पुरुष अव्यक्त माना गया है। ब्रह्मर्षियो! इस तत्त्वको समझो। अब मैं तुमलोगोंसे आगेकी बात बताता हूँ ।। १६ ।।

सहस्रेणापि दुर्मेधा न बुद्धिमधिगच्छति ।
चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान् सुखमेधते ।। १७ ।।

जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे हजार उपाय करनेपर भी ज्ञान नहीं होता और जो बुद्धिमान् है वह चौथाई प्रयत्नसे भी ज्ञान पाकर सुखका अनुभव करता है ।। १७ ।।

एवं धर्मस्य विज्ञेयं संसाधनमुपायतः ।
उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते ।। १८ ।।

ऐसा विचारकर किसी उपायसे धर्मके साधनका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि उपायको जाननेवाला मेधावी पुरुष अत्यन्त सुखका भागी होता है ।। १८ ।।

यथाध्वानमपाथेयः प्रपन्नो मनुजः क्वचित् ।
क्लेशेन याति महता विनश्येदन्तरापि च ।। १९ ।।

जैसे कोई मनुष्य यदि राह-खर्चका प्रबन्ध किये बिना ही यात्रा करता है तो उसे मार्गमें बहुत क्लेश उठाना पड़ता है अथवा वह बीचहीमें मर भी सकता है ।। १९ ।।

तथा कर्मसु विज्ञेयं फलं भवति वा न वा ।
पुरुषस्यात्मनिःश्रेयः शुभाशुभनिदर्शनम् ।। २० ।।

ऐसे ही (पूर्वजन्मोंके पुण्योंसे हीन पुरुष) योगमार्गके साधनमें लगनेपर योगसिद्धिरूप फल कठिनतासे पाता है अथवा नहीं भी पाता। पुरुषका अपना कल्याण-साधन ही उसके पूर्वजन्मके शुभाशुभ-संस्कारोंको बतानेवाला है ।। २० ।।

यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते ।
अदृष्टपूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः ।। २१ ।।

जैसे पहले न देखे हुए दूरके रास्तेपर जब मनुष्य सहसा पैदल ही चल पड़ता है (तो वह अपने गन्तव्य स्थानपर नहीं पहुँच पाता), यही दशा तत्त्वज्ञानसे रहित अज्ञानी पुरुषकी होती है ।। २१ ।।

तमेव च यथाध्यानं रथेनेहाशुगामिना ।
गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः ।। २२ ।।
ऊर्ध्वं पर्वतमारुह्य नान्ववेक्षेत भूतलम् ।

किंतु उसी मार्गपर घोड़े जुते हुए शीघ्रगामी रथके द्वारा यात्रा करनेवाला पुरुष जिस प्रकार शीघ्र ही अपने लक्ष्य स्थानपर पहुँच जाता है तथा वह ऊँचे पर्वतपर चढ़कर नीचे पृथ्वीकी ओर नहीं देखता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंकी गति होती है ।। २२½ ।।

रथेन रथिनं पश्य क्लिश्यमानमचेतनम् ।। २३ ।।
यावद् रथपथस्तावद् रथेन स तु गच्छति ।
क्षीणे रथपदे विद्वान् रथमुत्सृज्य गच्छति ।। २४ ।।

देखो, रथके द्वारा जानेवाला भी मूर्ख मनुष्य ऊँचे पर्वतके पास पहुँचकर कष्ट पाता रहता है, किंतु बुद्धिमान् मनुष्य जहाँतक रथ जानेका मार्ग है वहाँतक रथसे जाता है और जब रथका रास्ता समाप्त हो जाता है तब वह उसे छोड़कर पैदल यात्रा करता है ।। २३-२४ ।।

एवं गच्छति मेधावी तत्त्वयोगविधानवित् ।
परिज्ञाय गुणज्ञश्च उत्तरादुत्तरोत्तरम् ।। २५ ।।

इसी प्रकार तत्त्व और योगविधिको जाननेवाला बुद्धिमान् एवं गुणज्ञ पुरुष अच्छी तरह समझ-बूझकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जाता है ।। २५ ।।

यथार्णवं महाघोरमप्लवः सम्प्रगाहते ।
बाहुभ्यामेव सम्मोहाद् वधं वाञ्छत्यसंशयम् ।। २६ ।।

जैसे कोई पुरुष मोहवश बिना नावके ही भयंकर समुद्रमें प्रवेश करता है और दोनों भुजाओंसे ही तैरकर उसके पार होनेका भरोसा रखता है तो निश्चय ही वह अपनी मौत बुलाना चाहता है (उसी प्रकार ज्ञान-नौकाका सहारा लिये बिना मनुष्य भवसागरसे पार नहीं हो सकता) ।। २६ ।।

नावा चापि यथा प्राज्ञो विभागज्ञः स्वरित्रया ।
अश्रान्तः सलिले गच्छेच्छीघ्रं संतरते ह्रदम् ।। २७ ।।
तीर्णो गच्छेत् परं पारं नावमुत्सृज्य निर्ममः ।
व्याख्यातं पूर्वकल्पेन यथा रथपदातिनोः ।। २८ ।।

जिस तरह जलमार्गके विभागको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष सुन्दर डाँडवाली नावके द्वारा अनायास ही जलपर यात्रा करके शीघ्र समुद्रसे तर जाता है एवं पार पहुँच जानेपर नावकी ममता छोड़कर चल देता है; (उसी प्रकार संसार-सागरसे पार हो जानेपर बुद्धिमान् पुरुष पहलेके साधन-सामग्रीकी ममता छोड़ देता है।) यह बात रथपर चलनेवाले और पैदल चलनेवालेके दृष्टान्तसे पहले भी कही जा चुकी है ।। २७-२८ ।।

स्नेहात् सम्मोहमापन्नो नावि दाशो यथा तथा ।
ममत्वेनाभिभूतः संस्तत्रैव परिवर्तते ।। २९ ।।

परंतु स्नेहवश मोहको प्राप्त हुआ मनुष्य ममतासे आबद्ध होकर नावपर सदा बैठे रहनेवाले मल्लाहकी भाँति वहीं चक्कर काटता रहता है ।। २९ ।।

नावं न शक्यमारुह्य स्थले विपरिवर्तितुम् ।
तथैव रथमारुह्य नाप्सु चर्या विधीयते ।। ३० ।।
एवं कर्म कृतं चित्रं विषयस्थं पृथक् पृथक् ।
यथा कर्म कृतं लोके तथैतानुपपद्यते ।। ३१ ।।

नौकापर चढ़कर जिस प्रकार स्थलपर विचरण करना सम्भव नहीं है तथा रथपर चढ़कर जलमें विचरण करना सम्भव नहीं बताया गया है, इसी प्रकार किये हुए विचित्र कर्म

अलग-अलग स्थानपर पहुँचानेवाले हैं। संसारमें जिनके द्वारा जैसा कर्म किया गया है, उन्हें वैसा ही फल प्राप्त होता है ।। ३०-३१ ।।

यन्नैव गन्धिनो रस्यं न रूपस्पर्शशब्दवत् ।
मन्यन्ते मुनयो बुद्धया तत् प्रधानं प्रचक्षते ।। ३२ ।।

जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दसे युक्त नहीं है तथा मुनिलोग बुद्धिके द्वारा जिसका मनन करते हैं, वह 'प्रधान' कहलाता है ।। ३२ ।।

तत्र प्रधानमव्यक्तमव्यक्तस्य गुणो महान् ।
महत्प्रधानभूतस्य गुणोऽहंकार एव च ।। ३३ ।।

प्रधानका दूसरा नाम अव्यक्त है। अव्यक्तका कार्य महत्तत्त्व है और प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्वका कार्य अहंकार है ।। ३३ ।।

अहंकारात् तु सम्भूतो महाभूतकृतो गुणः ।
पृथक्त्वेन हि भूतानां विषया वै गुणाः स्मृताः ।। ३४ ।।

अहंकारसे पञ्च महाभूतोंको प्रकट करनेवाले गुणकी उत्पत्ति हुई है। पञ्च महाभूतोंके कार्य हैं रूप, रस आदि विषय। वे पृथक्-पृथक् गुणोंके नामसे प्रसिद्ध हैं ।। ३४ ।।

बीजधर्मं तथाव्यक्तं प्रसवात्मकमेव च ।
बीजधर्मा महानात्मा प्रसवश्चेति नः श्रुतम् ।। ३५ ।।

अव्यक्त प्रकृति कारणरूपा भी है और कार्यरूपा भी। इसी प्रकार महत्तत्त्वके भी कारण और कार्य दोनों ही स्वरूप सुने गये हैं ।। ३५ ।।

बीजधर्मस्त्वहंकारः प्रसवश्च पुनः पुनः ।
बीजप्रसवधर्माणि महाभूतानि पञ्च वै ।। ३६ ।।

अहंकार भी कारणरूप तो है ही, कार्यरूपमें भी बारम्बार परिणत होता रहता है। पञ्च महाभूतों (पञ्चतन्मात्राओं)-में भी कारणत्व और कार्यत्व दोनों धर्म हैं। वे शब्दादि विषयोंको उत्पन्न करते हैं, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि वे बीजधर्मी हैं ।। ३६ ।।

बीजधर्मिण इत्याहुः प्रसवं च प्रकुर्वते ।
विशेषाः पञ्चभूतानां तेषां चित्तं विशेषणम् ।। ३७ ।।

उन पाँचो भूतोंके विशेष कार्य शब्द आदि विषय हैं। उन विषयोंका प्रवर्तक चित्त है ।। ३७ ।।

तत्रैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।
त्रिगुणं ज्योतिरित्याहुरापश्चापि चतुर्गुणाः ।। ३८ ।।

पञ्चमहाभूतोंमेंसे आकाशमें एक ही गुण माना गया है। वायुके दो गुण बतलाये जाते हैं। तेज तीन गुणोंसे युक्त कहा गया है। जलके चार गुण हैं ।। ३८ ।।

पृथ्वी पञ्चगुणा ज्ञेया चरस्थावरसंकुला ।
सर्वभूतकरी देवी शुभाशुभनिदर्शिनी ।। ३९ ।।

पृथ्वीके पाँच गुण समझने चाहिये। यह देवी स्थावर-जंगम प्राणियोंसे भरी हुई, समस्त जीवोंको जन्म देनेवाली तथा शुभ और अशुभका निर्देश करनेवाली है ।। ३९ ।।

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एते पञ्च गुणा भूमेर्विज्ञेया द्विजसत्तमाः ।। ४० ।।

विप्रवरो! शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध—ये ही पृथ्वीके पाँच गुण जानने चाहिये ।। ४० ।।

पार्थिवश्च सदा गन्धो गन्धश्च बहुधा स्मृतः ।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ।। ४१ ।।

इनमें भी गन्ध उसका खास गुण है। गन्ध अनेक प्रकारकी मानी गयी है। मैं उस गन्धके गुणोंका विस्तारके साथ वर्णन करूँगा ।। ४१ ।।

इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरोऽम्लः कटुस्तथा ।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च ।। ४२ ।।
एवं दशविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्ध इत्युत ।

इष्ट (सुगन्ध), अनिष्ट (दुर्गन्ध), मधुर, अम्ल, कटु, निहारी (दुरतक फैलनेवाली), मिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये पार्थिव गन्धके दस भेद समझने चाहिये ।। ४२½ ।।

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं द्रवश्चाणां गुणाः स्मृताः ।। ४३ ।।
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि रसस्तु बहुधा स्मृतः ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस—ये जलके चार गुण माने गये हैं (इनमें रस ही जलका मुख्य गुण है)। अब मैं रस-विज्ञानका वर्णन करता हूँ। रसके बहुत-से भेद बताये गये हैं ।। ४३½ ।।

मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो लवणस्तथा ।। ४४ ।।
एवं षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः ।

मीठा, खट्टा, कड़ुआ, तीता, कसैला और नमकीन—इस प्रकार छः भेदोंमें जलमय रसका विस्तार बताया गया है ।। ४४½ ।।

शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ।। ४५ ।।
ज्योतिषश्च गुणो रूपं रूपं च बहुधा स्मृतम् ।

शब्द, स्पर्श और रूप—ये तेजके तीन गुण कहे गये हैं। इनमें रूप ही तेजका मुख्य गुण है। रूपके भी कई भेद माने गये हैं ।। ४५½ ।।

शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं नीलं पीतारुणं तथा ।। ४६ ।।
ह्रस्वं दीर्घं कृशं स्थूलं चतुरस्रं तु वृत्तवत् ।
एवं द्वादशविस्तारं तेजसो रूपमुच्यते ।। ४७ ।।
विज्ञेयं ब्राह्मणैर्वृद्धैर्धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः ।

शुक्रल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरुण, छोटा, बड़ा, मोटा, दुबला, चौकोना और गोल—इस प्रकार तैजस् रूपका बारह प्रकारसे विस्तार सत्यवादी धर्मज्ञ वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा जानने योग्य कहा जाता है ।। ४६-४७$\frac{१}{२}$ ।।

शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरुच्यते ।। ४८ ।।
वायोश्चापि गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः ।

शब्द और स्पर्श—ये वायुके दो गुण जानने योग्य कहे जाते हैं। इनमें भी स्पर्श ही वायुका प्रधान गुण है। स्पर्श भी कई प्रकारका माना गया है ।। ४८$\frac{१}{२}$ ।।

रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धो विशद एव च ।। ४९ ।।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो दारुणो मृदुः ।
एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते ।। ५० ।।
विधिवद् ब्राह्मणैः सिद्धैर्धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ।। ५१ ।।

रूखा, ठंडा, गरम, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिकना, श्लक्ष्ण (हलका), पिच्छिल, कठोर और कोमल—इन बारह प्रकारोंसे वायुके गुण स्पर्शका विस्तार तत्त्वदर्शी धर्मज्ञ सिद्ध ब्राह्मणोंद्वारा विधिवत् बतलाया गया है ।। ४९—५१ ।।

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव च स्मृतः ।

आकाशका शब्दमात्र एक ही गुण माना गया है। उस शब्दके बहुत-से गुण हैं। उनका विस्तारके साथ वर्णन करता हूँ ।। ५१$\frac{१}{२}$ ।।

तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ।। ५२ ।।
षडजर्षभः स गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ।
अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा ।
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान् ।। ५३ ।।
एवं दशविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः ।

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद, धैवत, इष्ट (प्रिय), अनिष्ट (अप्रिय) और संहत (श्लिष्ट)—इस प्रकार विभागवाले आकाशजनित शब्दके दस भेद हैं ।।

आकाशमुत्तमं भूतमहंकारस्ततः परः ।। ५४ ।।
अहंकारात् परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः ।
तस्मात् तु परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।। ५५ ।।

आकाश सब भूतोंमें श्रेष्ठ है। उससे श्रेष्ठ अहंकार, अहंकारसे श्रेष्ठ बुद्धि, उस बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा, उससे श्रेष्ठ अव्यक्त प्रकृति और प्रकृतिसे श्रेष्ठ पुरुष है ।। ५४-५५ ।।

परापरज्ञो भूतानां विधिज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा गच्छत्यात्मानमव्ययम् ।। ५६ ।।

जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंकी श्रेष्ठता और न्यूनताका ज्ञाता, समस्त कर्मोंकी विधिका जानकार और सब प्राणियोंको आत्मभावसे देखनेवाला है, वह अविनाशी परमात्माको

प्राप्त होता है ।। ५६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरु-शिष्यसंवादविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५० ।।

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तपस्याका प्रभाव, आत्माका स्वरूप और उसके ज्ञानकी महिमा तथा अनुगीताका उपसंहार

ब्रह्मोवाच

भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मनः ।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च ।। १ ।।

ब्रह्माजीने कहा—महर्षियो! जिस प्रकार इन पाँचों महाभूतोंकी उत्पत्ति और नियमन करनेमें मन समर्थ है, उसी प्रकार स्थितिकालमें भी मन ही भूतोंका आत्मा है ।। १ ।।

अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा ।
बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञश्च स उच्यते ।। २ ।।

उन पञ्चमहाभूतोंका नित्य आधार भी मन ही है। बुद्धि जिसके ऐश्वर्यको प्रकाशित करती है, वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है ।। २ ।।

इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते सदश्वानिव सारथिः ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः क्षेत्रज्ञे युज्यते सदा ।। ३ ।।

जैसे सारथि अच्छे घोड़ोंको अपने काबूमें रखता है, उसी प्रकार मन सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर शासन करता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये सदा क्षेत्रज्ञके साथ संयुक्त रहते हैं ।। ३ ।।

महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम् ।
समारुह्य स भूतात्मा समन्तात् परिधावति ।। ४ ।।

जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हुए हैं, जिसका बुद्धिरूपी सारथिके द्वारा नियन्त्रण हो रहा है, उस देहरूपी रथपर सवार होकर वह भूतात्मा (क्षेत्रज्ञ) चारों ओर दौड़ लगाता रहता है ।। ४ ।।

इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनःसारथिरेव च ।
बुद्धिसंयमनो नित्यं महान् ब्रह्ममयो रथः ।। ५ ।।

ब्रह्ममय रथ सदा रहनेवाला और महान् है, इन्द्रियाँ उसके घोड़े, मन सारथि और बुद्धि चाबुक है ।। ५ ।।

एवं यो वेत्ति विद्वान् वै सदा ब्रह्ममयं रथम् ।
स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ।। ६ ।।

इस प्रकार जो विद्वान् इस ब्रह्ममय रथकी सदा जानकारी रखता है, वह समस्त प्राणियोंमें धीर है और कभी मोहमें नहीं पड़ता ।। ६ ।।

अव्यक्तादि विशेषान्तं सहस्थावरजङ्गमम् ।

सूर्यचन्द्रप्रभालोकं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ।। ७ ।।
नदीपर्वतजालैश्च सर्वतः परिभूषितम् ।
विविधाभिस्तथा चाद्भिः सततं समलंकृतम् ।। ८ ।।
आजीवं सर्वभूतानां सर्वप्राणभृतां गतिः ।
एतद् ब्रह्मवनं नित्यं तस्मिंश्चरति क्षेत्रवित् ।। ९ ।।

यह जगत् एक ब्रह्मवन है। अव्यक्त प्रकृति इसका आदि है। पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह विशेषोंतक इसका विस्तार है। यह चराचर प्राणियोंसे भरा हुआ है। सूर्य और चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे प्रकाशित है। ग्रह और नक्षत्रोंसे सुशोभित है। नदियों और पर्वतोंके समूहसे सब ओर विभूषित है। नाना प्रकारके जलसे सदा ही अलंकृत है। यही सम्पूर्ण भूतोंका जीवन और सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति है। इस ब्रह्मवनमें क्षेत्रज्ञ विचरण करता है ।। ७—९ ।।

लोकेऽस्मिन् यानि सत्त्वानि त्रसानि स्थावराणि च ।
तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते पश्चाद् भूतकृता गुणाः ।
गुणेभ्यः पञ्चभूतानि एष भूतसमुच्छ्रयः ।। १० ।।

इस लोकमें जो स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे ही पहले प्रकृतिमें विलीन होते हैं, उसके बाद पाँच भूतोंके कार्य लीन होते हैं और कार्यरूप गुणोंके बाद पाँच भूत लीन होते हैं। इस प्रकार यह भूतसमुदाय प्रकृतिमें लीन होता है ।। १० ।।

देवा मनुष्या गन्धर्वाः पिशाचासुरराक्षसाः ।
सर्वे स्वभावतः सृष्टा न क्रियाभ्यो न कारणात् ।। ११ ।।

देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पिशाच, असुर, राक्षस सभी स्वभावसे रचे गये हैं; किसी क्रियासे या कारणसे इनकी रचना नहीं हुई है ।। ११ ।।

एते विश्वसृजो विप्रा जायन्तीह पुनः पुनः ।
तेभ्यः प्रसूतास्तेष्वेव महाभूतेषु पञ्चसु ।
प्रलीयन्ते यथाकालमूर्मयः सागरे यथा ।। १२ ।।

विश्वकी सृष्टि करनेवाले ये मरीचि आदि ब्राह्मण समुद्रकी लहरोंके समान बारंबार पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न होते हैं। और उत्पन्न हुए वे फिर समयानुसार उन्हींमें लीन हो जाते हैं ।। १२ ।।

विश्वसृग्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः ।
भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत् परां गतिम् ।। १३ ।।

इस विश्वकी रचना करनेवाले प्राणियोंसे पञ्च महाभूत सब प्रकार पर है। जो इन पञ्च महाभूतोंसे छूट जाता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ।। १३ ।।

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः ।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ।। १४ ।।

शक्तिसम्पन्न प्रजापतिने अपने मनके ही द्वारा सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है तथा ऋषि भी तपस्यासे ही देवत्वको प्राप्त हुए हैं ।। १४ ।।

तपसश्चानुपूर्व्येण फलमूलाशिनस्तथा ।
त्रैलोक्यं तपसा सिद्धाः पश्यन्तीह समाहिताः ।। १५ ।।

फल-मूलका भोजन करनेवाले सिद्ध महात्मा यहाँ तपस्याके प्रभावसे ही चित्तको एकाग्र करके तीनों लोकोंकी बातोंको क्रमशः प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।। १५ ।।

औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः ।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ।। १६ ।।

आरोग्यकी साधनभूत ओषधियाँ और नाना प्रकारकी विद्याएँ तपसे ही सिद्ध होती हैं। सारे साधनोंकी जड़ तपस्या ही है ।। १६ ।।

यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम् ।
तत् सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ।। १७ ।।

जिसको पाना, जिसका अभ्यास करना, जिसे दबाना और जिसकी संगति लगाना नितान्त कठिन है, वह तपस्याके द्वारा साध्य हो जाता है; क्योंकि तपका प्रभाव दुर्लङ्घ्य है ।। १७ ।।

सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यते किल्बिषात् ततः ।। १८ ।।

शराबी, ब्रह्महत्यारा, चोर, गर्भ नष्ट करनेवाला और गुरुपत्नीकी शय्यापर सोनेवाला महापापी भी भलीभाँति तपस्या करके ही उस महान् पापसे छुटकारा पा सकता है ।। १८ ।।

मनुष्याः पितरो देवाः पशवो मृगपक्षिणः ।
यानि चान्यानि भूतानि त्रसानि स्थावराणि च ।। १९ ।।
तपःपरायणा नित्यं सिद्ध्यन्ते तपसा सदा ।
तथैव तपसा देवा महामाया दिवं गताः ।। २० ।।

मनुष्य, पितर, देवता, पशु, मृग, पक्षी तथा अन्य जितने चराचर प्राणी हैं, वे सब नित्य तपस्यामें संलग्न होकर ही सदा सिद्धि प्राप्त करते हैं। तपस्याके बलसे ही महामायावी देवता स्वर्गमें निवास करते हैं ।।

आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः ।
अहंकारसमायुक्तास्ते सकाशे प्रजापतेः ।। २१ ।।

जो लोग आलस्य त्यागकर अहंकारसे युक्त हो सकाम कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे प्रजापतिके लोकमें जाते हैं ।। २१ ।।

ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहंकृताः ।
आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ।। २२ ।।

जो अहंता-ममतासे रहित हैं, वे महात्मा विशुद्ध ध्यानयोगके द्वारा महान् उत्तम लोकको प्राप्त करते हैं ।। २२ ।।

ध्यानयोगमुपागम्य प्रसन्नमतयः सदा ।
सुखोपचयमव्यक्तं प्रविशन्त्यात्मवित्तमाः ।। २३ ।।

जो ध्यानयोगका आश्रय लेकर सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं, वे आत्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पुरुष सुखकी राशिभूत अव्यक्त परमात्मामें प्रवेश करते हैं ।। २३ ।।

ध्यानयोगमादुपागम्य निर्ममा निरहंकृताः ।
अव्यक्तं प्रविशन्तीह महतां लोकमुत्तमम् ।। २४ ।।

किंतु जो ध्यानयोगसे पीछे लौटकर अर्थात् ध्यानमें असफल होकर ममता और अहंकारसे रहित जीवन व्यतीत करता है, वह निष्काम पुरुष भी महापुरुषोंके उत्तम अव्यक्त लोकमें लीन होता है ।। २४ ।।

अव्यक्तादेव सम्भूतः समसंज्ञां गतः पुनः ।
तमोरजोभ्यां निर्मुक्तः सत्त्वमास्थाय केवलम् ।। २५ ।।

फिर स्वयं भी उसकी समताको प्राप्त होकर अव्यक्तसे ही प्रकट होता है और केवल सत्त्वका आश्रय लेकर तमोगुण एवं रजोगुणके बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ।। २५ ।।

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वं सृजति निष्कलम् ।
क्षेत्रज्ञ इति तं विद्याद् यस्तं वेद स वेदवित् ।। २६ ।।

जो सब पापोंसे मुक्त रहकर सबकी सृष्टि करता है, उस अखण्ड आत्माको क्षेत्रज्ञ समझना चाहिये। जो मनुष्य उसका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही वेदवेत्ता है ।।

चित्तं चित्तादुपागम्य मुनिरासीत संयतः ।
यच्चित्तं तन्मयो वश्यं गुह्यमेतत् सनातनम् ।। २७ ।।

मुनिको उचित है कि चिन्तनके द्वारा चेतना (सम्यग्ज्ञान) पाकर मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके परमात्माके ध्यानमें स्थित हो जाय; क्योंकि जिसका चित्त जिसमें लगा होता है, वह निश्चय ही उसका स्वरूप हो जाता है—यह सनातन गोपनीय रहस्य है ।। २७ ।।

अव्यक्तादिविशेषान्तमविद्यालक्षणं स्मृतम् ।
निबोधत तथा हीदं गुणैर्लक्षणमित्युत ।। २८ ।।

अव्यक्तसे लेकर सोलह विशेषोंतक सभी अविद्याके लक्षण बताये गये हैं। ऐसा समझना चाहिये कि यह गुणोंका ही विस्तार है ।। २८ ।।

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ।। २९ ।।

दो अक्षरका पद **‘मम’** (यह मेरा है—ऐसा भाव) मृत्युरूप है और तीन अक्षरका पद **‘न मम’** (यह मेरा नहीं है—ऐसा भाव) सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है ।। २९ ।।

कर्म केचित् प्रशंसन्ति मन्दबुद्धिरता नराः ।

ये तु वृद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते ।। ३० ।।

कुछ मन्द-बुद्धियुक्त पुरुष (स्वर्गादि फल प्रदान करनेवाले) काम्य-कर्मोंकी प्रशंसा करते हैं, किंतु वृद्ध महात्माजन उन कर्मोंको उत्तम नहीं बतलाते ।। ३० ।।

कर्मणा जायते जन्तुर्मूर्तिमान् षोडशात्मकः ।
पुरुषं ग्रसतेऽविद्या तद् ग्राह्यममृताशिनाम् ।। ३१ ।।

क्योंकि सकाम कर्मके अनुष्ठानसे जीवको सोलह विकारोंसे निर्मित स्थूल शरीर धारण करके जन्म लेना पड़ता है और वह सदा अविद्याका ग्रास बना रहता है। इतना ही नहीं, कर्मठ पुरुष देवताओंके भी उपभोगका विषय होता है ।। ३१ ।।

तस्मात् कर्मसु निःस्नेहा ये केचित् पारदर्शिनः ।
विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः ।। ३२ ।।

इसलिये जो कोई पारदर्शी विद्वान् होते हैं, वे कर्मोंमें आसक्त नहीं होते; क्योंकि यह पुरुष (आत्मा) ज्ञानमय है, कर्ममय नहीं ।। ३२ ।।

य एवममृतं नित्यमग्राह्यं शश्वदक्षरम् ।
वश्यात्मानमसंश्लिष्टं यो वेद न मृतो भवेत् ।। ३३ ।।

जो इस प्रकार चेतन आत्माको अमृतस्वरूप, नित्य, इन्द्रियातीत, सनातन, अक्षर, जितात्मा एवं असंग समझता है, वह कभी मृत्युके बन्धनमें नहीं पड़ता ।। ३३ ।।

अपूर्वमकृतं नित्यं य एनमविचारिणम् ।
य एवं विन्देदात्मानमग्राह्यममृताशनम् ।
अग्राह्योऽमृतो भवति स एभिः कारणैर्ध्रुवः ।। ३४ ।।

जिसकी दृष्टिमें आत्मा अपूर्व (अनादि), अकृत (अजन्मा), नित्य, अचल, अग्राह्य और अमृताशी है, वह इन गुणोंका चिन्तन करनेसे स्वयं भी अग्राह्य (इन्द्रियातीत), निश्चल एवं अमृतस्वरूप हो जाता है ।। ३४ ।।

आयोज्य सर्वसंस्कारान् संयम्यात्मानमात्मनि ।
स तद् ब्रह्म शुभं वेत्ति यस्माद् भूयो न विद्यते ।। ३५ ।।

जो चित्तको शुद्ध करनेवाले सम्पूर्ण संस्कारोंका सम्पादन करके मनको आत्माके ध्यानमें लगा देता है, वही उस कल्याणमय ब्रह्मको प्राप्त करता है, जिससे बड़ा कोई नहीं है ।। ३५ ।।

प्रसादे चैव सत्त्वस्य प्रसादं समवाप्नुयात् ।
लक्षणं हि प्रसादस्य यथा स्यात् स्वप्नदर्शनम् ।। ३६ ।।

सम्पूर्ण अन्तःकरणके स्वच्छ हो जानेपर साधकको शुद्ध प्रसन्नता प्राप्त होती है। जैसे स्वप्नसे जगे हुए मनुष्यके लिये स्वप्न शान्त हो जाता है, उसी प्रकार चित्तशुद्धिका लक्षण है ।। ३६ ।।

गतिरेषा तु मुक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः ।

प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः ।। ३७ ।।

ज्ञाननिष्ठ जीवन्मुक्त महात्माओंकी यही परम गति है; क्योंकि वे उन समस्त प्रवृत्तियोंको शुभाशुभ फल देनेवाली समझते हैं ।। ३७ ।।

एषा गतिर्विरक्तानामेष धर्मः सनातनः ।
एषा ज्ञानवतां प्राप्तिरेतद् वृत्तमनिन्दितम् ।। ३८ ।।

यही विरक्त पुरुषोंकी गति है, यही सनातन धर्म है, यही ज्ञानियोंका प्राप्तव्य स्थान है और यही अनिन्दित सदाचार है ।। ३८ ।।

समेन सर्वभूतेषु निःस्पृहेण निराशिषा ।
शक्या गतिरियं गन्तुं सर्वत्र समदर्शिना ।। ३९ ।।

जो सम्पूर्ण भूतोंमें समानभाव रखता है, लोभ और कामनासे रहित है तथा जिसकी सर्वत्र समान दृष्टि रहती है, वह ज्ञानी पुरुष ही इस परम गतिको प्राप्त कर सकता है ।। ३९ ।।

एतद् वः सर्वमाख्यातं मया विप्रर्षिसत्तमाः ।
एवमाचरत क्षिप्रं ततः सिद्धिमवाप्स्यथ ।। ४० ।।

ब्रह्मर्षियो! यह सब विषय मैंने विस्तारके साथ तुम लोगोंको बता दिया। इसीके अनुसार आचरण करो, इससे तुम्हें शीघ्र ही परम सिद्धि प्राप्त होगी ।। ४० ।।

गुरुरुवाच

इत्युक्तास्ते तु मुनयो गुरुणा ब्रह्मणा तथा ।
कृतवन्तो महात्मानस्ततो लोकमवाप्नुवन् ।। ४१ ।।

गुरुने कहा—बेटा! ब्रह्माजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर उन महात्मा मुनियोंने इसीके अनुसार आचरण किया। इससे उन्हें उत्तम लोककी प्राप्ति हुई ।। ४१ ।।

त्वमप्येतन्महाभाग मयोक्तं ब्रह्मणो वचः ।
सम्यगाचर शुद्धात्मंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ।। ४२ ।।

महाभाग! तुम्हारा चित्त शुद्ध है, इसलिये तुम भी मेरे बताये हुए ब्रह्माजीके उत्तम उपदेशका भलीभाँति पालन करो। इससे तुम्हें भी सिद्धि प्राप्त होगी ।। ४२ ।।

वासुदेव उवाच

इत्युक्तः स तदा शिष्यो गुरुणा धर्ममुत्तमम् ।
चकार सर्वं कौन्तेय ततो मोक्षमवाप्तवान् ।। ४३ ।।

श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! गुरुदेवके ऐसा कहनेपर उस शिष्यने समस्त उत्तम धर्मोंका पालन किया। इससे वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो गया ।। ४३ ।।

कृतकृत्यश्च स तदा शिष्यः कुरुकुलोद्वह ।
तत् पदं समनुप्राप्तो यत्र गत्वा न शोचति ।। ४४ ।।

कुरुकुलनन्दन! उस समय कृतार्थ होकर उस शिष्यने वह ब्रह्मपद प्राप्त किया, जहाँ जाकर शोक नहीं करना पड़ता ।। ४४ ।।

अर्जुन उवाच

को न्वसौ ब्राह्मणः कृष्ण कश्च शिष्यो जनार्दन ।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद् वै तत्त्वमाचक्ष्व मे विभो ।। ४५ ।।

अर्जुनने पूछा—जनार्दन श्रीकृष्ण! वे ब्रह्मनिष्ठ गुरु कौन थे और शिष्य कौन थे? प्रभो! यदि मेरे सुननेयोग्य हो तो ठीक-ठीक बतानेकी कृपा कीजिये ।। ४५ ।।

वासुदेव उवाच

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यं च विद्धि मे ।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनंजय ।। ४६ ।।

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! मैं ही गुरु हूँ और मेरे मनको ही शिष्य समझो। धनंजय! तुम्हारे स्नेहवश मैंने इस गोपनीय रहस्यका वर्णन किया है ।। ४६ ।।

मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्नित्यं कुरुकुलोद्वह ।
अध्यात्ममेतच्छ्रुत्वा त्वं सम्यगाचर सुव्रत ।। ४७ ।।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले कुरुकुलनन्दन! यदि मुझपर तुम्हारा प्रेम हो तो इस अध्यात्मज्ञानको सुनकर तुम नित्य इसका यथावत् पालन करो ।। ४७ ।।

ततस्त्वं सम्यगाचीर्णे धर्मेऽस्मिन्नरिकर्षण ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो मोक्षं प्राप्स्यसि केवलम् ।। ४८ ।।

शत्रुदमन! इस धर्मका पूर्णतया आचरण करनेपर तुम समस्त पापोंसे छूटकर विशुद्ध मोक्षको प्राप्त कर लोगे ।। ४८ ।।

पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते ।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु ।। ४९ ।।

महाबाहो! पहले भी मैंने युद्धकाल उपस्थित होनेपर यही उपदेश तुमको सुनाया था। इसलिये तुम इसमें मन लगाओ ।। ४९ ।।

मया तु भरतश्रेष्ठ चिरदृष्टः पिता प्रभुः ।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि सम्मते तव फाल्गुन ।। ५० ।।

भरतश्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं पिताजीका दर्शन करना चाहता हूँ। उन्हें देखे बहुत दिन हो गये। यदि तुम्हारी राय हो तो मैं उनके दर्शनके लिये द्वारका जाऊँ ।। ५० ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवचनं कृष्णं प्रत्युवाच धनंजयः ।
गच्छावो नगरं कृष्ण गजसाह्वयमद्य वै ।। ५१ ।।

समेत्य तत्र राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समनुज्ञाप्य राजानं स्वां पुरीं यातुमर्हसि ।। ५२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णकी बात सुनकर अर्जुनने कहा—‘श्रीकृष्ण! अब हमलोग यहाँसे हस्तिनापुरको चलें। वहाँ धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे मिलकर और उनकी आज्ञा लेकर आप अपनी पुरीको पधारें’ ।। ५१-५२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें गुरुशिष्यसंवादविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५१ ।।

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अर्जुनके साथ हस्तिनापुर जाना और वहाँ सबसे मिलकर युधिष्ठिरकी आज्ञा ले सुभद्राके साथ द्वारकाको प्रस्थान करना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभ्यनोदयत् कृष्णो युज्यतामिति दारुकम् ।
मुहूर्तादिव चाचष्ट युक्तमित्येव दारुकः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने दारुकको आज्ञा दी कि 'रथ जोतकर तैयार करो।' दारुकने दो ही घड़ीमें लौटकर सूचना दी कि 'रथ जुत गया' ।। १ ।।

तथैव चानुयात्रादि चोदयामास पाण्डवः ।
सज्जयध्वं प्रयास्यामो नगरं गजसाह्वयम् ।। २ ।।

इसी प्रकार अर्जुनने भी अपने सेवकोंको आदेश दिया कि 'सब लोग रथको सुसज्जित करो। अब हमें हस्तिनापुरकी यात्रा करनी है' ।। २ ।।

इत्युक्ताः सैनिकास्ते तु सज्जीभूता विशाम्पते ।
आचख्युः सज्जमित्येवं पार्थायामिततेजसे ।। ३ ।।

प्रजानाथ! आज्ञा पाते ही सम्पूर्ण सैनिक तैयार हो गये और महान् तेजस्वी अर्जुनके पास जाकर बोले—'रथ सुसज्जित है और यात्राकी सारी तैयारी हो गयी' ।।

ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ ।
विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशाम्पते ।। ४ ।।

राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन रथपर बैठकर आपसमें तरह-तरहकी विचित्र बातें करते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये ।। ४ ।।

रथस्थं तु महातेजा वासुदेवं धनंजयः ।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यमिदं भरतसत्तम ।। ५ ।।

भरतभूषण! रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार महातेजस्वी अर्जुन बोले— ।। ५ ।।

त्वत्प्रसादाज्जयः प्राप्तो राज्ञा वृष्णिकुलोद्वह ।
नियताः शत्रवश्चापि प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ।। ६ ।।

'वृष्णिकुलधुरन्धर श्रीकृष्ण! आपकी कृपासे ही राजा युधिष्ठिरको विजय प्राप्त हुई है। उनके शत्रुओंका दमन हो गया और उन्हें निष्कण्टक राज्य मिला ।। ६ ।।

नाथवन्तश्च भवता पाण्डवा मधुसूदन ।
भवन्तं प्लवमासाद्य तीर्णाः स्म कुरुसागरम् ।। ७ ।।

'मधुसूदन! हम सभी पाण्डव आपसे सनाथ हैं, आपको ही नौकारूप पाकर हमलोग कौरवसेनारूपी समुद्रसे पार हुए हैं ।। ७ ।।

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसत्तम ।
तथा त्वामभिजानामि यथा चाहं भवन्मतः ।। ८ ।।

विश्वकर्मन्! आपको नमस्कार है। विश्वात्मन्! आप सम्पूर्ण विश्वमें सबसे श्रेष्ठ हैं। मैं आपको उसी तरह जानता हूँ, जिस तरह आप मुझे समझते हैं ।। ८ ।।

त्वत्तेजः सम्भवो नित्यं भूतात्मा मधुसूदन ।
रतिः क्रीडामयी तुभ्यं माया ते रोदसी विभो ।। ९ ।।

'मधुसूदन! आपके ही तेजसे सदा सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आप ही सब प्राणियोंके आत्मा हैं। प्रभो! नाना प्रकारकी लीलाएँ आपकी रति (मनोरंजन) हैं। आकाश और पृथिवी आपकी माया है ।। ९ ।।

त्वयि सर्वमिदं विश्वं यदिदं स्थाणु जङ्गमम् ।
त्वं हि सर्वं विकुरुषे भूतग्रामं चतुर्विधम् ।। १० ।।

'यह जो स्थावर-जंगमरूप जगत् है, सब आपहीमें प्रतिष्ठित है। आप ही चार प्रकारके समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि करते हैं ।। १० ।।

पृथिवीं चान्तरिक्षं च द्यां चैव मधुसूदन ।
हसितं तेऽमला ज्योत्स्ना ऋतवश्चेन्द्रियाणि ते ।। ११ ।।

'मधुसूदन! पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाशकी सृष्टि भी आपने ही की है। निर्मल चाँदनी आपका हास्य है और ऋतुएँ आपकी इन्द्रियाँ हैं ।। ११ ।।

प्राणो वायुः सततगः क्रोधो मृत्युः सनातनः ।
प्रसादे चापि पद्मा श्रीर्नित्यं त्वयि महामते ।। १२ ।।

'सदा चलनेवाली वायु प्राण है, क्रोध सनातन मृत्यु है। महामते! आपके प्रसादमें लक्ष्मी विराजमान हैं। आपके वक्षःस्थलमें सदा ही श्रीजीका निवास है ।। १२ ।।

रतिस्तुष्टिर्धृतिः क्षान्तिर्मतिः कान्तिश्चराचरम् ।
त्वमेवेह युगान्तेषु निधनं प्रोच्यसेऽनघ ।। १३ ।।

'अनघ! आपमें ही रति, तुष्टि, धृति, क्षान्ति, मति, कान्ति और चराचर जगत् है। आप ही युगान्तकालमें प्रलय कहे जाते हैं ।। १३ ।।

सुदीर्घेणापि कालेन न ते शक्या गुणा मया ।
आत्मा च परमात्मा च नमस्ते नलिनेक्षण ।। १४ ।।

'दीर्घकालतक गणना करनेपर भी आपके गुणोंका पार पाना असम्भव है। आप ही आत्मा और परमात्मा हैं। कमलनयन! आपको नमस्कार है ।। १४ ।।

विदितो मे सुदुर्धर्ष नारदाद् देवलात् तथा ।

कृष्णद्वैपायनाच्चैव तथा कुरुपितामहात् ।। १५ ।।

'दुर्धर्ष परमेश्वर! मैंने देवर्षि नारद, देवल, श्रीकृष्णद्वैपायन तथा पितामह भीष्मके मुखसे आपके माहात्म्यका ज्ञान प्राप्त किया है ।। १५ ।।

त्वयि सर्वं समासक्तं त्वमेवैको जनेश्वरः ।

यच्चानुग्रहसंयुक्तमेतदुक्तं त्वयानघ ।। १६ ।।

एतत् सर्वमहं सम्यगाचरिष्ये जनार्दन ।

'सारा जगत् आपमें ही ओत-प्रोत है। एकमात्र आप ही मनुष्योंके अधीश्वर हैं। निष्पाप जनार्दन! आपने मुझपर कृपा करके जो यह उपदेश दिया है, उसका मैं यथावत् पालन करूँगा ।। १६½ ।।

इदं चाद्भुतमत्यन्तं कृतमस्मत्प्रियेप्सया ।। १७ ।।

यत्पापो निहतः संख्ये कौरव्यो धृतराष्ट्रजः ।

'हमलोगोंका प्रिय करनेकी इच्छासे आपने यह अत्यन्त अद्भुत कार्य किया कि धृतराष्ट्रके पुत्र कुरुकुलकलंक पापी दुर्योधनको (भैया भीमके द्वारा) युद्धमें मरवा डाला ।। १७½ ।।

त्वया दग्धं हि तत्सैन्यं मया विजितमाहवे ।। १८ ।।

भवता तत्कृतं कर्म येनावाप्तो जयो मया ।

'शत्रुकी सेनाको आपने ही अपने तेजसे दग्ध कर दिया था। तभी मैंने युद्धमें उसपर विजय पायी है। आपने ही ऐसे-ऐसे उपाय किये हैं, जिनसे मुझे विजय सुलभ हुई है ।। १८½ ।।

दुर्योधनस्य संग्रामे तव बुद्धिपराक्रमैः ।। १९ ।।

कर्णस्य च वधोपायो यथावत् सम्प्रदर्शितः ।

सैन्धवस्य च पापस्य भूरिश्रवस एव च ।। २० ।।

'संग्राममें आपकी ही बुद्धि और पराक्रमसे दुर्योधन, कर्ण, पापी सिन्धुराज जयद्रथ तथा भूरिश्रवाके वधका उपाय मुझे यथावत् रूपसे दृष्टिगोचर हुआ ।। १९-२० ।।

अहं च प्रीयमाणेन त्वया देवकिनन्दन ।

यदुक्तस्तत् करिष्यामि न हि मेऽत्र विचारणा ।। २१ ।।

'देवकीनन्दन! आपने प्रेमपूर्वक प्रसन्नताके साथ मुझे जो कार्य करनेके लिये कहा है, उसे अवश्य करूँगा; इसमें मुझे कुछ भी विचार नहीं करना है ।। २१ ।।

राजानं च समासाद्य धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।

चोदयिष्यामि धर्मज्ञ गमनार्थं तवानघ ।। २२ ।।

रुचितं हि ममैतत्ते द्वारकागमनं प्रभो ।

अचिरादेव द्रष्टा त्वं मातुलं मे जनार्दन ।। २३ ।।

बलदेवं च दुर्धर्षं तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान् ।

'धर्मज्ञ एवं निष्पाप भगवान् जनार्दन! मैं धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास चलकर उनसे आपके जानेके लिये आज्ञा प्रदान करनेका अनुरोध करूँगा। इस समय आपका द्वारका जाना आवश्यक है, इसमें मेरी भी सम्मति है। अब आप शीघ्र ही मामाजीका दर्शन करेंगे और दुर्जय वीर बलदेवजी तथा अन्यान्य वृष्णिवंशी वीरोंसे मिल सकेंगे' ।। २२-२३½ ।।

एवं सम्भाषमाणौ तौ प्राप्तौ वारणसाह्वयम् ।। २४ ।।

तथा विविशतुश्चोभौ सम्प्रहृष्टनराकुलम् ।

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मित्र हस्तिनापुरमें जा पहुँचे। उन दोनोंने हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए नगरमें प्रवेश किया ।। २४½ ।।

तौ गत्वा धृतराष्ट्रस्य गृहं शक्रगृहोपमम् ।। २५ ।।

ददृशाते महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।

विदुरं च महाबुद्धिं राजानं च युधिष्ठिरम् ।। २६ ।।

महाराज! इन्द्रभवनके समान शोभा पानेवाले धृतराष्ट्रके महलमें उन दोनोंने राजा धृतराष्ट्र, महाबुद्धिमान् विदुर और राजा युधिष्ठिरका दर्शन किया ।। २५-२६ ।।

भीमसेनं च दुर्धर्षं माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।

धृतराष्ट्रमुपासीनं युयुत्सुं चापराजितम् ।। २७ ।।

गान्धारीं च महाप्रज्ञां पृथां कृष्णां च भामिनीम् ।

सुभद्राद्याश्च ताः सर्वा भरतानां स्त्रियस्तथा ।। २८ ।।

ददृशाते स्त्रियः सर्वा गान्धारीपरिचारिकाः ।

फिर क्रमशः दुर्जय वीर भीमसेन, माद्रीनन्दन पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, धृतराष्ट्रकी सेवामें लगे रहनेवाले अपराजित वीर युयुत्सु, परम बुद्धिमती गान्धारी, कुन्ती, भार्या द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि भरतवंशकी सभी स्त्रियोंसे मिले। गान्धारीकी सेवामें रहनेवाली उन सभी स्त्रियोंका उन दोनोंने दर्शन किया ।। २७-२८½ ।।

ततः समेत्य राजानं धृतराष्ट्रमरिंदमौ ।। २९ ।।

निवेद्य नामधेये स्वे तस्य पादावगृह्णताम् ।

गान्धार्याश्च पृथायाश्च धर्मराजस्य चैव हि ।। ३० ।।

भीमस्य च महात्मानौ तथा पादावगृह्णताम् ।

सबसे पहले उन शत्रुदमन वीरोंने राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर अपने नाम बताते हुए उनके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। उसके बाद उन महात्माओंने गान्धारी, कुन्ती, धर्मराज युधिष्ठिर और भीमसेनके पैर छूये ।। २९-३०½ ।।

क्षत्तारं चापि संगृह्य पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ।। ३१ ।।

(परिष्वज्य महात्मानं वैश्यापुत्रं महारथम् ।)

तैः सार्धं नृपतिं वृद्धं ततस्तौ पर्युपासताम् ।

फिर विदुरजीसे मिलकर उनका कुशल-मंगल पूछा। इसके बाद वैश्यापुत्र महारथी महामना युयुत्सुको भी हृदयसे लगाया। तत्पश्चात् उन सबके साथ वे दोनों बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पास जा बैठे ।। ३१ $\frac{१}{२}$ ।।

ततो निशि महाराजो धृतराष्ट्रः कुरूद्वहान् ।। ३२ ।।
जनार्दनं च मेधावी व्यसर्जयत वै गृहान् ।
तेऽनुज्ञाता नृपतिना ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ।। ३३ ।।

रात हो जानेपर मेधावी महाराज धृतराष्ट्रने उन कुरुश्रेष्ठ वीरों तथा भगवान् श्रीकृष्णको अपने-अपने घरमें जानेके लिये विदा किया। राजाकी आज्ञा पाकर वे सब लोग अपने-अपने घरको गये ।। ३२-३३ ।।

धनंजयगृहानेव ययौ कृष्णस्तु वीर्यवान् ।
तत्रार्चितो यथान्यायं सर्वकामैरुपस्थितः ।। ३४ ।।

पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके ही घरमें गये। वहाँ उनकी यथोचित पूजा हुई और सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थ उनकी सेवामें उपस्थित किये गये ।। ३४ ।।

कृष्णः सुष्वाप मेधावी धनंजयसहायवान् ।
प्रभातायां तु शर्वर्यां कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ।। ३५ ।।
धर्मराजस्य भवनं जग्मतुः परमार्चितौ ।
यत्रास्ते स सहामात्यो धर्मराजो महाबलः ।। ३६ ।।

भोजनके पश्चात् मेधावी श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ सोये। जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब पूर्वाह्णकालकी क्रिया—संध्या-वन्दन आदि करके वे दोनों परम पूजित मित्र धर्मराज युधिष्ठिरके महलमें गये। जहाँ महाबली धर्मराज अपने मन्त्रियोंके साथ रहते थे ।। ३५-३६ ।।

तौ प्रविश्य महात्मानौ तद् गृहं परमार्चितम् ।
धर्मराजं ददृशतुर्देवराजमिवाश्विनौ ।। ३७ ।।

उस परम सुन्दर एवं सुसज्जित भवनमें प्रवेश करके उन महात्माओंने धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन किया। मानो दोनों अश्विनीकुमार देवराज इन्द्रसे आकर मिले हों ।। ३७ ।।

समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुङ्गवौ ।
निषीदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन तौ ।। ३८ ।।

श्रीकृष्ण और अर्जुन जब राजाके पास पहुँचे, तब उन्हें देख उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर उनके आज्ञा देनेपर वे दोनों मित्र आसनपर विराजमान हुए ।। ३८ ।।

ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ।। ३९ ।।

तत्पश्चात् वक्ताओंमें श्रेष्ठ भूपालशिरोमणि मेधावी युधिष्ठिरने उन्हें कुछ कहनेके लिये इच्छुक देख उनसे इस प्रकार कहा— ।। ३९ ।।

युधिष्ठिर उवाच

विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ ।
ब्रूतं कर्तास्मि सर्वं वां नचिरान्मा विचार्यताम् ।। ४० ।।

युधिष्ठिर बोले—यदुकुल और कुरुकुलको अलंकृत करनेवाले वीरो! मालूम होता है, तुमलोग मुझसे कुछ कहना चाहते हो। जो भी कहना हो, कहो; मैं तुम्हारी सारी इच्छाओंको शीघ्र ही पूर्ण करूँगा। तुम मनमें कुछ अन्यथा विचार न करो ।। ४० ।।

इत्युक्तः फाल्गुनस्तत्र धर्मराजानमब्रवीत् ।
विनीतवदुपागम्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।। ४१ ।।

उनके इस प्रकार कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल अर्जुनने धर्मराजके पास जाकर बड़े विनीत भावसे कहा— ।। ४१ ।।

अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान् ।
भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ।। ४२ ।।
स गच्छेदभ्यनुज्ञातो भवता यदि मन्यसे ।
आनर्तनगरीं वीरस्तदनुज्ञातुमर्हसि ।। ४३ ।।

'राजन्! परम प्रतापी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको यहाँ रहते बहुत दिन हो गया। अब ये आपकी आज्ञा लेकर अपने पिताजीका दर्शन करना चाहते हैं। यदि आप स्वीकार करें और हर्षपूर्वक आज्ञा दे दें तभी ये वीरवर श्रीकृष्ण आनर्तनगरी द्वारकाको जायँगे। अतः आप इन्हें जानेकी आज्ञा दे दें' ।। ४२-४३ ।।

युधिष्ठिर उवाच

पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन ।
पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभो ।। ४४ ।।

युधिष्ठिरने कहा—कमलनयन मधुसूदन! आपका कल्याण हो। प्रभो! आप शूरनन्दन वसुदेवजीका दर्शन करनेके लिये आज ही द्वारकाको प्रस्थान कीजिये ।। ४४ ।।

रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव ।
मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ।। ४५ ।।

महाबाहु केशव! मुझे आपका जाना इसलिये ठीक लगता है कि आपने मेरे मामाजी और मामी देवकी देवीको बहुत दिनोंसे नहीं देखा है ।। ४५ ।।

समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद ।
पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ।। ४६ ।।

मानद! महाप्राज्ञ! आप मामाजी तथा भैया बलदेवजीके पास जाकर उनसे मिलिये और मेरी ओरसे उनका यथायोग्य सत्कार कीजिये ।। ४६ ।।

स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनां वरम् ।

फाल्गुनं सहदेवं च नकुलं चैव मानद ।। ४७ ।।

भक्तोंको मान देनेवाले श्रीकृष्ण! द्वारकामें पहुँचकर आप मुझको, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको, अर्जुन, सहदेव और नकुलको भी सदा याद रखियेगा ।। ४७ ।।

आनर्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज ।
वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममानघ ।। ४८ ।।

महाबाहु निष्पाप श्रीकृष्ण! आनर्त देशकी प्रजा, अपने माता-पिता तथा वृष्णिवंशी बन्धु-बान्धवोंसे मिलकर पुनः मेरे अश्वमेध यज्ञमें पधारियेगा ।। ४८ ।।

स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च ।
यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत ।। ४९ ।।
इयं च वसुधा कृत्स्ना प्रसादात् तव केशव ।
अस्मानुपगता वीर निहताश्चापि शत्रवः ।। ५० ।।

यदुनन्दन केशव! ये तरह-तरहके रत्न और धन प्रस्तुत हैं। इन्हें तथा दूसरी-दूसरी वस्तुएँ जो आपको पसंद हों लेकर यात्रा कीजिये। वीरवर! आपके प्रसादसे ही इस सम्पूर्ण भूमण्डलका राज्य हमारे हाथमें आया है और हमारे शत्रु भी मारे गये ।। ४९-५० ।।

एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ।। ५१ ।।

कुरुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय पुरुषोत्तम वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उनसे यह बात कही— ।। ५१ ।।

तवैव रत्नानि धनं च केवलं
धरा तु कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै ।
यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम
त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ।। ५२ ।।

‘महाबाहो! ये रत्न, धन और समूची पृथ्वी अब केवल आपकी ही है। इतना ही नहीं, मेरे घरमें भी जो कुछ धन-वैभव है, उसको भी आप अपना ही समझिये। नरेश्वर! आप ही सदा उसके भी स्वामी हैं’ ।। ५२ ।।

तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा
गदाग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान् ।
पितृष्वसारं त्ववदद् यथाविधि
सम्पूजितश्चाप्यगमत् प्रदक्षिणम् ।। ५३ ।।

उनके ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जो आज्ञा कहकर उनके वचनोंका आदर किया। उनसे सम्मानित हो पराक्रमी श्रीकृष्णने अपनी बुआ कुन्तीके पास जाकर बातचीत की और उनसे यथोचित सत्कार पाकर उनकी प्रदक्षिणा की ।। ५३ ।।

तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्तत-

स्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा ।
विनिर्ययौ नागपुराद् गदाग्रजो
रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ।। ५४ ।।

कुन्तीसे भलीभाँति अभिनन्दित हो विदुर आदि सब लोगोंसे सत्कारपूर्वक विदा ले चार भुजाधारी भगवान् श्रीकृष्ण अपने दिव्य रथद्वारा हस्तिनापुरसे बाहर निकले ।। ५४ ।।

रथे सुभद्रामधिरोप्य भाविनीं
युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः ।
पितृष्वसुश्चापि तथा महाभुजो
विनिर्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ।। ५५ ।।

बुआ कुन्ती तथा राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे भाविनी सुभद्राको भी रथपर बिठाकर महाबाहु जनार्दन पुरवासियोंसे घिरे हुए नगरसे बाहर निकले ।। ५५ ।।

तमन्वयाद् वानरवर्यकेतनः
ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि ।
अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं
स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ।। ५६ ।।

उस समय उन माधवके पीछे कपिध्वज अर्जुन, सात्यकि, नकुल-सहदेव, अगाधबुद्धि विदुर और गजराजके समान पराक्रमी स्वयं भीमसेन भी कुछ दूरतक पहुँचानेके लिये गये ।। ५६ ।।

निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्धनां-
स्ततः स सर्वान् विदुरं च वीर्यवान् ।
जनार्दनो दारुकमाह सत्वरः
प्रचोदयाश्वानिति सात्यकिं तथा ।। ५७ ।।

तदनन्तर पराक्रमी श्रीकृष्णने कौरवराज्यकी वृद्धि करनेवाले उन समस्त पाण्डवों तथा विदुरजीको लौटाकर दारुक तथा सात्यकिसे कहा—‘अब घोड़ोंको जोरसे हाँको’ ।। ५७ ।।

ततो ययौ शत्रुगणप्रमर्दनः
शिनिप्रवीरानुगतो जनार्दनः ।
यथा निहत्यारिगणं शतक्रतु-
र्दिवं तथाऽऽनर्तपुरीं प्रतापवान् ।। ५८ ।।

तत्पश्चात् शिनिवीर सात्यकिको साथ लिये शत्रुदलमर्दन प्रतापी श्रीकृष्ण आनर्तपुरी द्वारकाकी ओर उसी प्रकार चल दिये, जैसे प्रतापी इन्द्र अपने शत्रुसमुदायका संहार करके स्वर्गमें जा रहे हों ।। ५८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णप्रयाणे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकाको प्रस्थानविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५२ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

मार्गमें श्रीकृष्णसे कौरवोंके विनाशकी बात सुनकर उत्तङ्क मुनिका कुपित होना और श्रीकृष्णका उन्हें शान्त करना

वैशम्पायन उवाच

तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः ।
परिष्वज्य न्यवर्तन्त सानुयात्राः परंतपाः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार द्वारका जाते हुए भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाकर भरतवंशके श्रेष्ठ वीर शत्रुसंतापी पाण्डव अपने सेवकों-सहित पीछे लौटे ।। १ ।।

पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं पर्यष्वजत फाल्गुनः ।
आ चक्षुर्विषयाच्चैनं स ददर्श पुनः पुनः ।। २ ।।

अर्जुनने वृष्णिवंशी प्यारे सखा श्रीकृष्णको बारंबार छातीसे लगाया और जबतक वे आँखोंसे ओझल नहीं हुए, तबतक उन्हींकी ओर वे बारंबार देखते रहे ।। २ ।।

कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम् ।
संजहार ततो दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ।। ३ ।।

जब रथ दूर चला गया, तब पार्थने बड़े कष्टसे श्रीकृष्णकी ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको पीछे लौटाया। किसीसे पराजित न होनेवाले श्रीकृष्णकी भी यही दशा थी ।। ३ ।।

तस्य प्रयाणे यान्यासन् निमित्तानि महात्मनः ।
बहून्यद्भुतरूपाणि तानि मे गदतः शृणु ।। ४ ।।

महामना भगवान्‌की यात्राके समय जो बहुत-से अद्भुत शकुन प्रकट हुए, उन्हें बताता हूँ, सुनो ।। ४ ।।

वायुर्वेगेन महता रथस्य पुरतो ववौ ।
कुर्वन्निःशर्करं मार्गं विरजस्कमकण्टकम् ।। ५ ।।

उनके रथके आगे बड़े वेगसे हवा आती और रास्तेकी धूल, कंकण तथा काँटोंको उड़ाकर अलग कर देती थी ।। ५ ।।

ववर्ष वासवश्चैव तोयं शुचि सुगन्धि च ।
दिव्यानि चैव पुष्पाणि पुरतः शार्ङ्गधन्वनः ।। ६ ।।

इन्द्र श्रीकृष्णके सामने पवित्र एवं सुगन्धित जल तथा दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करते थे ।। ६ ।।

स प्रयातो महाबाहुः समेषु मरुधन्वसु ।

ददर्शाथ मुनिश्रेष्ठमुत्तङ्कममितौजसम् ।। ७ ।।

इस प्रकार मरुभूमिके समतल प्रदेशमें पहुँचकर महाबाहु श्रीकृष्णने अमिततेजस्वी मुनिश्रेष्ठ उत्तंकका दर्शन किया ।। ७ ।।

स तं सम्पूज्य तेजस्वी मुनिं पृथुललोचनः ।
पूजितस्तेन च तदा पर्यपृच्छदनामयम् ।। ८ ।।

विशाल नेत्रोंवाले तेजस्वी श्रीकृष्ण उत्तंक मुनिकी पूजा करके स्वयं भी उनके द्वारा पूजित हुए। तत्पश्चात् उन्होंने मुनिका कुशल-समाचार पूछा ।। ८ ।।

स पृष्टः कुशलं तेन सम्पूज्य मधुसूदनम् ।
उत्तङ्को ब्राह्मणश्रेष्ठस्ततः पप्रच्छ माधवम् ।। ९ ।।

उनके कुशल-मंगल पूछनेपर विप्रवर उत्तंकने भी मधुसूदन माधवकी पूजा करके उनसे इस प्रकार प्रश्न किया— ।। ९ ।।

कच्चिच्छौरे त्वया गत्वा कुरुपाण्डवसद्म तत् ।
कृतं सौभ्रात्रमचलं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।। १० ।।

'शूरनन्दन! क्या तुम कौरवों और पाण्डवोंके घर जाकर उनमें अविचल भ्रातृभाव स्थापित कर आये? यह बात मुझे विस्तारके साथ बताओ ।। १० ।।

अपि संधाय तान् वीरानुपावृत्तोऽसि केशव ।
सम्बन्धिनः स्वदयितान् सततं वृष्णिपुङ्गव ।। ११ ।।

केशव! क्या तुम उन वीरोंमें संधि कराकर ही लौट रहे हो? वृष्णिपुंगव! वे कौरव, पाण्डव तुम्हारे सम्बन्धी तथा तुम्हें सदा ही परम प्रिय रहे हैं ।। ११ ।।

कच्चित् पाण्डुसुताः पञ्च धृतराष्ट्रस्य चात्मजाः ।
लोकेषु विहरिष्यन्ति त्वया सह परंतप ।। १२ ।।

'परंतप! क्या पाण्डुके पाँचों पुत्र और धृतराष्ट्रके भी सभी आत्मज संसारमें तुम्हारे साथ सुखपूर्वक विचर सकेंगे? ।।

स्वराष्ट्रे ते च राजानः कच्चित् प्राप्स्यन्ति वै सुखम् ।
कौरवेषु प्रशान्तेषु त्वया नाथेन केशव ।। १३ ।।

'केशव! तुम-जैसे रक्षक एवं स्वामीके द्वारा कौरवोंके शान्त कर दिये जानेपर अब पाण्डवनरेशोंको अपने राज्यमें सुख तो मिलेगा न? ।। १३ ।।

या मे सम्भावना तात त्वयि नित्यमवर्तत ।
अपि सा सफला तात कृता ते भरतान् प्रति ।। १४ ।।

'तात! मैं सदा तुमसे इस बातकी सम्भावना करता था कि तुम्हारे प्रयत्नसे कौरव-पाण्डवोंमें मेल हो जायगा। मेरी जो वह सम्भावना थी, भरतवंशियोंके सम्बन्धमें तुमने वह सफल तो किया है न?' ।। १४ ।।

श्रीभगवानुवाच

कृतो यत्नो मया पूर्वं सौशाम्ये कौरवान् प्रति ।
नाशक्यन्त यदा साम्ये ते स्थापयितुमञ्जसा ।। १५ ।।
ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।

श्रीभगवान्‌ने कहा—महर्षे! मैंने पहले कौरवोंके पास जाकर उन्हें शान्त करनेके लिये बड़ा प्रयत्न किया, परंतु वे किसी तरह संधिके लिये तैयार न किये जा सके। जब उन्हें समतापूर्ण मार्गमें स्थापित करना असम्भव हो गया, तब वे सब-के-सब अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मारे गये ।। १५½ ।।

न दिष्टमप्यतिक्रान्तुं शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ।। १६ ।।
महर्षे विदितं भूयः सर्वमेतत् तवानघ ।
तेऽत्यक्रामन् मतिं मह्यं भीष्मस्य विदुरस्य च ।। १७ ।।

महर्षे! प्रारब्धके विधानको कोई बुद्धि अथवा बलसे नहीं मिटा सकता। अनघ! आपको तो ये सब बातें मालूम ही होंगी कि कौरवोंने मेरी, भीष्मजीकी तथा विदुरजीकी सम्मतिको भी ठुकरा दिया ।। १६-१७ ।।

ततो यमक्षयं जग्मुः समासाद्येतरेतरम् ।
पञ्चैव पाण्डवाः शिष्टा हतामित्रा हतात्मजाः ।
धार्तराष्ट्राश्च निहताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।। १८ ।।

इसीलिये वे आपसमें लड़-भिड़कर यमलोक जा पहुँचे। इस युद्धमें केवल पाँच पाण्डव ही अपने शत्रुओंको मारकर जीवित बच गये हैं। उनके पुत्र भी मार डाले गये हैं। धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, जो गान्धारीके पेटसे पैदा हुए थे, अपने पुत्र और बान्धवोंसहित नष्ट हो गये ।। १८ ।।

इत्युक्तवचने कृष्णे भृशं क्रोधसमन्वितः ।
उत्तङ्क इत्युवाचैनं रोषादुत्फुल्ललोचनः ।। १९ ।।

भगवान् श्रीकृष्णके इतना कहते ही उत्तंक मुनि अत्यन्त क्रोधसे जल उठे और रोषसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। उन्होंने श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ।। १९ ।।

उत्तङ्क उवाच

यस्माच्छक्तेन ते कृष्ण न त्राताः कुरुपुङ्गवाः ।
सम्बन्धिनः प्रियास्तस्माच्छप्स्येऽहं त्वामसंशयम् ।। २० ।।

उत्तंक बोले—श्रीकृष्ण! कौरव तुम्हारे प्रिय सम्बन्धी थे, तथापि शक्ति रखते हुए भी तुमने उनकी रक्षा न की। इसलिये मैं तुम्हें अवश्य शाप दूँगा ।। २० ।।

न च ते प्रसभं यस्मात् ते निगृह्य निवारिताः ।
तस्मान्मन्युपरीतस्त्वां शप्स्यामि मधुसूदन ।। २१ ।।

मधुसूदन! तुम उन्हें जबर्दस्ती पकड़कर रोक सकते थे, पर ऐसा नहीं किया। इसलिये मैं क्रोधमें भरकर तुम्हें शाप दूँगा ।। २१ ।।

त्वया शक्तेन हि सता मिथ्याचारेण माधव ।
ते परीताः कुरुश्रेष्ठा नश्यन्तः स्म ह्युपेक्षिताः ।। २२ ।।

माधव! कितने खेदकी बात है, तुमने समर्थ होते हुए भी मिथ्याचारका आश्रय लिया। युद्धमें सब ओरसे आये हुए वे श्रेष्ठ कुरुवंशी नष्ट हो गये और तुमने उनकी उपेक्षा कर दी ।। २२ ।।

वासुदेव उवाच

शृणु मे विस्तरेणेदं यद् वक्ष्ये भृगुनन्दन ।
गृहाणानुनयं चापि तपस्वी ह्यसि भार्गव ।। २३ ।।

श्रीकृष्णने कहा—भृगुनन्दन! मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे विस्तारपूर्वक सुनिये। भार्गव! आप तपस्वी हैं, इसलिये मेरी अनुनय-विनय स्वीकार कीजिये ।। २३ ।।

श्रुत्वा च मे तदध्यात्मं मुञ्चेथाः शापमद्य वै ।
न च मां तपसाल्पेन शक्तोऽभिभवितुं पुमान् ।। २४ ।।
न च ते तपसो नाशमिच्छामि तपतां वर ।

मैं आपको अध्यात्मतत्त्व सुना रहा हूँ। उसे सुननेके पश्चात् यदि आपकी इच्छा हो तो आज मुझे शाप दीजियेगा। तपस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ महर्षे! आप यह याद रखिये कि कोई भी पुरुष थोड़ी-सी तपस्याके बलपर मेरा तिरस्कार नहीं कर सकता। मैं नहीं चाहता कि आपकी तपस्या नष्ट हो जाय ।। २४½ ।।

तपस्ते सुमहद्दीप्तं गुरवश्चापि तोषिताः ।। २५ ।।
कौमारं ब्रह्मचर्यं ते जानामि द्विजसत्तम ।
दुःखार्जितस्य तपसस्तस्मान्नेच्छामि ते व्ययम् ।। २६ ।।

आपका तप और तेज बहुत बढ़ा हुआ है। आपने गुरुजनोंको भी सेवासे संतुष्ट किया है। द्विजश्रेष्ठ! आपने बाल्यावस्थासे ही ब्रह्मचर्यका पालन किया है। ये सारी बातें मुझे अच्छी तरह ज्ञात हैं। इसलिये अत्यन्त कष्ट सहकर संचित किये हुए आपके तपका मैं नाश कराना नहीं चाहता हूँ ।। २५-२६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णोत्तङ्कसमागमे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कके उपाख्यानमें श्रीकृष्ण और उत्तङ्कका समागमविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५३ ।।

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका उत्तंकसे अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करना तथा दुर्योधनके अपराधको कौरवोंके विनाशका कारण बतलाना

उत्तङ्क उवाच

ब्रूहि केशव तत्त्वेन त्वमध्यात्ममनिन्दितम् ।
श्रुत्वा श्रेयोऽभिधास्यामि शापं वा ते जनार्दन ।। १ ।।

उत्तंकने कहा—केशव! जनार्दन! तुम यथार्थरूपसे उत्तम अध्यात्मतत्त्वका वर्णन करो। उसे सुनकर मैं तुम्हारे कल्याणके लिये आशीर्वाद दूँगा अथवा शाप प्रदान करूँगा ।।

वासुदेव उवाच

तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि भावान् मदाश्रयान् ।
तथा रुद्रान् वसून् वापि विद्धि मत्प्रभवान् द्विज ।। २ ।।

श्रीकृष्णने कहा—ब्रह्मर्षे! आपको यह विदित होना चाहिये कि तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—ये सभी भाव मेरे ही आश्रित हैं। रुद्रों और वसुओंको भी आप मुझसे ही उत्पन्न जानिये ।। २ ।।

मयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चाप्यहम् ।
स्थित इत्यभिजानीहि मा तेऽभूदत्र संशयः ।। ३ ।।

सम्पूर्ण भूत मुझमें हैं और सम्पूर्ण भूतोंमें मैं स्थित हूँ। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें। इसमें आपको संशय नहीं होना चाहिये ।। ३ ।।

तथा दैत्यगणान् सर्वान् यक्षगन्धर्वराक्षसान् ।
नागानप्सरसश्चैव विद्धि मत्प्रभवान् द्विज ।। ४ ।।

विप्रवर! सम्पूर्ण दैत्यगण, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको मुझसे ही उत्पन्न जानिये ।। ४ ।।

सदसच्चैव यत् प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च ।
अक्षरं च क्षरं चैव सर्वमेतन्मदात्मकम् ।। ५ ।।

विद्वान् लोग जिसे सत्-असत्, व्यक्त-अव्यक्त और क्षर-अक्षर कहते हैं, यह सब मेरा ही स्वरूप है ।। ५ ।।

ये चाश्रमेषु वै धर्माश्चतुर्धा विदिता मुने ।
वैदिकानि च सर्वाणि विद्धि सर्वं मदात्मकम् ।। ६ ।।

मुने! चारों आश्रमोंमें जो चार प्रकारके धर्म प्रसिद्ध हैं तथा जो सम्पूर्ण वेदोक्त कर्म हैं, उन सबको मेरा स्वरूप ही समझिये ।। ६ ।।

असच्च सदसच्चैव यद् विश्वं सदसत् परम् ।
मत्तः परतरं नास्ति देवदेवात् सनातनात् ।। ७ ।।

असत्, सदसत् तथा उससे भी परे जो अव्यक्त जगत् है, वह भी मुझ सनातन देवाधिदेवसे पृथक् नहीं है ।। ७ ।।

ओङ्कारप्रमुखान् वेदान् विद्धि मां त्वं भृगूद्वह ।
यूपं सोमं चरुं होमं त्रिदशाप्यायनं मखे ।। ८ ।।
होतारमपि हव्यं च विद्धि मां भृगुनन्दन ।
अध्वर्युः कल्पकश्चापि हविः परमसंस्कृतम् ।। ९ ।।

भृगुश्रेष्ठ! ॐकारसे आरम्भ होनेवाले चारों वेद मुझे ही समझिये। यज्ञमें यूप, सोम, चरु, देवताओंको तृप्त करनेवाला होम, होता और हवन-सामग्री भी मुझे ही जानिये। भृगुनन्दन! अध्वर्यु, कल्पक और अच्छी प्रकार संस्कार किया हुआ हविष्य—ये सब मेरे ही स्वरूप हैं ।।

उद्गाता चापि मां स्तौति गीताघोषैर्महाध्वरे ।
प्रायश्चित्तेषु मां ब्रह्मन् शान्तिमङ्गलवाचकाः ।। १० ।।
स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विजसत्तम ।
मम विद्धि सुतं धर्ममग्रजं द्विजसत्तम ।। ११ ।।
मानसं दयितं विप्र सर्वभूतदयात्मकम् ।

बड़े-बड़े यज्ञोंमें उद्गाता उच्च स्वरसे सामगान करके मेरी ही स्तुति करते हैं। ब्रह्मन्! प्रायश्चित्त-कर्ममें शान्तिपाठ तथा मंगलपाठ करनेवाले ब्राह्मण सदा मुझ विश्वकर्माका ही स्तवन करते हैं। द्विजश्रेष्ठ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना-रूप जो धर्म है, वह मेरा परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र है। मेरे मनसे उसका प्रादुर्भाव हुआ है ।। १०-११½ ।।

तत्राहं वर्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः ।। १२ ।।
बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम ।
धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च ।। १३ ।।
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव ।

भार्गव! उस धर्ममें प्रवृत्त होकर जो पाप-कर्मोंसे निवृत्त हो गये हैं ऐसे मनुष्योंके साथ मैं सदा निवास करता हूँ। साधुशिरोमणे! मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ ।। १२-१३½ ।।

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ।। १४ ।।

भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च।

मैं ही विष्णु, मैं ही ब्रह्मा और मैं ही इन्द्र हूँ। सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण भी मैं ही हूँ। समस्त प्राणिसमुदायकी सृष्टि और संहार भी मेरे ही द्वारा होते हैं ।। १४ १/२ ।।

अधर्मे वर्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः ।। १५ ।।
धर्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे ।
तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ।। १६ ।।

अधर्ममें लगे हुए सभी मनुष्योंको दण्ड देनेवाला और अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाला ईश्वर मैं ही हूँ। जब-जब युगका परिवर्तन होता है, तब-तब मैं प्रजाकी भलाईके लिये भिन्न-भिन्न योनियोंमें प्रविष्ट होकर धर्ममर्यादाकी स्थापना करता हूँ ।। १५-१६ ।।

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः ।। १७ ।।

भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है ।। १७ ।।

यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन ।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः ।। १८ ।।

भृगुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले महर्षे! जब मैं गन्धर्व-योनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें संदेह नहीं है ।।

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत् ।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम् ।। १९ ।।

जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर उन्हींके आचार-विचारका यथावत् रूपसे पालन करता हूँ ।। १९ ।।

मानुष्ये वर्तमाने तु कृपणं याचिता मया ।
न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मे हितम् ।। २० ।।

इस समय मैं मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण हुआ हूँ, इसलिये कौरवोंपर अपनी ईश्वरीय शक्तिका प्रयोग न करके पहले मैंने दीनतापूर्वक ही संधिके लिये प्रार्थना की थी; परंतु उन्होंने मोहग्रस्त होनेके कारण मेरी हितकर बात नहीं मानी ।। २० ।।

उत्तङ्कमुनिकी श्रीकृष्णसे विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना

भयं च महदुद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया ।
क्रुद्धेन भूत्वा तु पुनर्यथावदनुदर्शिताः ।। २१ ।।
तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः कालधर्मणा ।
धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः ।। २२ ।।

इसके बाद क्रोधमें भरकर मैंने कौरवोंको बड़े-बड़े भय दिखाये और उन्हें बहुत डराया-धमकाया तथा यथार्थरूपसे युद्धका भावी परिणाम भी उन्हें दिखाया; परंतु वे तो अधर्मसे युक्त एवं कालसे ग्रस्त थे। अतः मेरी बात माननेको राजी न हुए। फिर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्धमें मारे गये। इसमें संदेह नहीं कि वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें गये हैं ।। २१-२२ ।।

लोकेषु पाण्डवाश्चैव गताः ख्यातिं द्विजोत्तम ।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। २३ ।।

द्विजश्रेष्ठ! पाण्डव अपने धर्माचरणके कारण समस्त लोकोंमें विख्यात हुए हैं। आपने जो कुछ पूछा था, उसके अनुसार मैंने यह सारा प्रसङ्ग कह सुनाया ।। २३ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तंकके उपाख्यानमें श्रीकृष्णका वचनविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५४ ।।

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका उत्तंक मुनिको विश्वरूपका दर्शन कराना और मरुदेशमें जल प्राप्त होनेका वरदान देना

उत्तङ्क उवाच

अभिजानामि जगतः कर्तारं त्वां जनार्दन ।
नूनं भवत्प्रसादोऽयमिति मे नास्ति संशयः ।। १ ।।

उत्तंकने कहा—जनार्दन! मैं यह जानता हूँ कि आप सम्पूर्ण जगत्‌के कर्ता हैं। निश्चय ही यह आपकी कृपा है (जो आपने मुझे अध्यात्मतत्त्वका उपदेश दिया), इसमें संशय नहीं है ।। १ ।।

चित्तं च सुप्रसन्नं मे त्वद्भावगतमच्युत ।
विनिवृत्तं च मे शापादिति विद्धि परंतप ।। २ ।।

शत्रुओंको संताप देनेवाले अच्युत! अब मेरा चित्त अत्यन्त प्रसन्न और आपके प्रति भक्तिभावसे परिपूर्ण हो गया है; अतः इसे शाप देनेके विचारसे निवृत्त हुआ समझें ।। २ ।।

यदि त्वनुग्रहं कंचित् त्वत्तोऽर्हामि जनार्दन ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं तन्निदर्शय ।। ३ ।।

जनार्दन! यदि मैं आपसे कुछ भी कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी होऊँ तो आप मुझे अपना ईश्वरीय रूप दिखा दीजिये। आपके उस रूपको देखनेकी बड़ी इच्छा है ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततः स तस्मै प्रीतात्मा दर्शयामास तद् वपुः ।
शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद् धनंजयः ।। ४ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नचित्त होकर उन्हें अपने उसी सनातन वैष्णव स्वरूपका दर्शन कराया, जिसे युद्धके प्रारम्भमें अर्जुनने देखा था ।। ४ ।।

स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम् ।
सहस्रसूर्यप्रतिमं दीप्तिमत् पावकोपमम् ।। ५ ।।

उत्तंक मुनिने उस विश्वरूपका दर्शन किया, जिसका स्वरूप महान् था। जो सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान तथा बड़ी-बड़ी भुजाओंसे सुशोभित था। उससे प्रज्वलित अग्निके समान लपटें निकल रही थीं ।। ५ ।।

सर्वमाकाशमावृत्य तिष्ठन्तं सर्वतोमुखम् ।
तद् दृष्ट्वा परमं रूपं विष्णोर्वैष्णवमद्भुतम् ।

विस्मयं च ययौ विप्रस्तं दृष्ट्वा परमेश्वरम् ।। ६ ।।

उसके सब ओर मुख था और वह सम्पूर्ण आकाशको घेरकर खड़ा था। भगवान् विष्णुके उस अद्‌भुत एवं उत्कृष्ट वैष्णव रूपको देखकर उन परमेश्वरकी ओर दृष्टिपात करके ब्रह्मर्षि उत्तंकको बड़ा विस्मय हुआ ।। ६ ।।

उत्तङ्क उवाच

(नमो नमस्ते सर्वात्मन् नारायण परात्पर ।
परमात्मन् पद्मनाभ पुण्डरीकाक्ष माधव ।।

उत्तंक बोले—सर्वात्मन्! परात्पर नारायण! आपको बारंबार नमस्कार है। परमात्मन्! पद्मनाभ! पुण्डरीकाक्ष! माधव! आपको नमस्कार है ।।

हिरण्यगर्भरूपाय संसारोत्तारणाय च ।
पुरुषाय पुराणाय चान्तर्यामाय ते नमः ।।

हिरण्यगर्भ ब्रह्मा आपके ही स्वरूप हैं। आप संसार-सागरसे पार उतारनेवाले हैं। आप ही अन्तर्यामी पुराण-पुरुष हैं। आपको नमस्कार है ।।

अविद्यातिमिरादित्यं भवव्याधिमहौषधिम् ।
संसारार्णवपारं त्वां प्रणमामि गतिर्भव ।।

आप अविद्यारूपी अन्धकारको मिटानेवाले सूर्य, संसाररूपी रोगके महान् औषध तथा भवसागरसे पार करनेवाले हैं। आपको प्रणाम करता हूँ। आप मेरे आश्रय-दाता हों ।।

सर्ववेदैकवेद्याय सर्वदेवमयाय च ।
वासुदेवाय नित्याय नमो भक्तप्रियाय ते ।।

आप सम्पूर्ण वेदोंके एकमात्र वेद्यतत्त्व हैं। सम्पूर्ण देवता आपके ही स्वरूप हैं तथा आप भक्तजनोंको अत्यन्त प्रिय हैं। आप नित्यस्वरूप भगवान् वासुदेवको नमस्कार है ।।

दयया दुःखमोहान्मां समुद्धर्तुमिहार्हसि ।
कर्मभिर्बहुभिः पापैर्बद्धं पाहि जनार्दन ।।)

जनार्दन! आप स्वयं ही दया करके दुःखजनित मोहसे मेरा उद्धार करें। मैं बहुत-से पाप-कर्मोंद्वारा बँधा हुआ हूँ। आप मेरी रक्षा करें ।।

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
पद्‌भ्यां ते पृथिवी व्याप्ता शिरसा चावृतं नभः ।। ७ ।।

विश्वकर्मन्! आपको नमस्कार है। सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत विश्वात्मन्! आपके दोनों पैरोंसे पृथ्वी और सिरसे आकाश व्याप्त है ।। ७ ।।

द्यावापृथिव्योर्यन्मध्यं जठरेण तवावृतम् ।
भुजाभ्यामावृताश्चाशास्त्वमिदं सर्वमच्युत ।। ८ ।।

आकाश और पृथ्वीके बीचका जो भाग है, वह आपके उदरसे व्याप्त हो रहा है। आपकी भुजाओंने सम्पूर्ण दिशाओंको घेर लिया है। अच्युत! यह सारा दृश्य-प्रपंच आप ही हैं ।। ८ ।।

संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम् ।
पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम् ।। ९ ।।

देव! अब अपने इस उत्तम एवं अविनाशी स्वरूपको फिर समेट लीजिये। मैं आप सनातन पुरुषको पुनः अपने पूर्वरूपमें ही देखना चाहता हूँ ।। ९ ।।

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच प्रसन्नात्मा गोविन्दो जनमेजय ।
वरं वृणीष्वेति तदा तमुत्तङ्कोऽब्रवीदिदम् ।। १० ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मुनिकी बात सुनकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने कहा—‘महर्षे! आप मुझसे कोई वर माँगिये।’ तब उत्तंकने कहा — ।। १० ।।

पर्याप्त एष एवाद्य वरस्त्वत्तो महाद्युते ।
यत् ते रूपमिदं कृष्ण पश्यामि पुरुषोत्तम ।। ११ ।।

‘महातेजस्वी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण! आपके इस स्वरूपका जो मैं दर्शन कर रहा हूँ, यही मेरे लिये आज आपकी ओरसे बहुत बड़ा वरदान प्राप्त हो गया’ ।। ११ ।।

तमब्रवीत् पुनः कृष्णो मा त्वमत्र विचारय ।
अवश्यमेतत् कर्तव्यममोघं दर्शनं मम ।। १२ ।।

यह सुनकर श्रीकृष्णने फिर कहा—‘मुने! आप इसमें कोई अन्यथा विचार न करें। आपको अवश्य ही मुझसे वर माँगना चाहिये; क्योंकि मेरा दर्शन अमोघ है’ ।। १२ ।।

उत्तङ्क उवाच

अवश्यं करणीयं च यद्येतन्मन्यसे विभो ।
तोयमिच्छामि यत्रेष्टं मरुष्वेतद्धि दुर्लभम् ।। १३ ।।

उत्तंक बोले—प्रभो! यदि वर माँगना आप मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य मानते हैं तो मैं यही चाहता हूँ कि मुझे यहाँ यथेष्ट जल प्राप्त हो; क्योंकि इस मरुभूमिमें जल बड़ा ही दुर्लभ है ।। १३ ।।

ततः संहृत्य तत् तेजः प्रोवाचोत्तङ्कमीश्वरः ।
एष्टव्ये सति चिन्त्योऽहमित्युक्त्वा द्वारकां ययौ ।। १४ ।।

तब भगवान्‌ने अपने उस तेजोमय स्वरूपको समेटकर उत्तंक मुनिसे कहा—‘मुने! जब आपको जलकी इच्छा हो, तब आप मेरा स्मरण कीजियेगा।’ ऐसा कहकर वे द्वारका चले गये ।। १४ ।।

ततः कदाचिद् भगवानुत्तङ्कस्तोयकाङ्क्षया ।
तृषितः परिचक्राम मरौ सस्मार चाच्युतम् ।। १५ ।।

तत्पश्चात् एक दिन उत्तंक मुनिको बड़ी प्यास लगी। वे पानीकी इच्छासे उस मरुभूमिमें चारों ओर घूमने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया ।। १५ ।।

ततो दिग्वाससं धीमान् मातङ्गं मलपङ्किनम् ।
अपश्यत मरौ तस्मिन् श्वयूथपरिवारितम् ।। १६ ।।

इतनेहीमें उन बुद्धिमान् मुनिको उस मरुप्रदेशमें कुत्तोंके झुंडसे घिरा हुआ एक नंग-धड़ंग चाण्डाल दिखायी पड़ा, जिसके शरीरमें मैल और कीचड़ जमी हुई थी ।। १६ ।।

भीषणं बद्धनिस्त्रिंशं बाणकार्मुकधारिणम् ।
तस्याधः स्रोतसोऽपश्यद् वारि भूरि द्विजोत्तमः ।। १७ ।।

वह देखनेमें बड़ा भयंकर था। उसने कमरमें तलवार बाँध रखी थी और हाथोंमें धनुष-बाण धारण किये थे। द्विजश्रेष्ठ उत्तंकने देखा—उसके नीचे पैरोंके समीप एक छिद्रसे प्रचुर जलकी धारा गिर रही है ।। १७ ।।

स्मरन्नेव च तं प्राह मातङ्गः प्रहसन्निव ।
एह्युत्तङ्क प्रतीच्छस्व मत्तो वारि भृगूद्वह ।। १८ ।।
कृपा हि मे सुमहती त्वां दृष्ट्वा तृट् समाश्रितम् ।
इत्युक्तस्तेन स मुनिस्तत् तोयं नाभ्यनन्दत ।। १९ ।।

मुनिको पहचानते ही वह जोर-जोरसे हँसता हुआ-सा बोला—‘भृगकुलतिलक उत्तंक! आओ, मुझसे जल ग्रहण करो। तुम्हें प्याससे पीड़ित देखकर मुझे तुमपर बड़ी दया आ रही है।’ चाण्डालके ऐसा कहनेपर भी मुनिने उसके जलका अभिनन्दन नहीं किया—उसे लेनेसे इनकार कर दिया ।। १८-१९ ।।

चिक्षेप च स तं धीमान् वाग्भिरुग्राभिरच्युतम् ।
पुनः पुनश्च मातङ्गः पिबस्वेति तमब्रवीत् ।। २० ।।

उस समय बुद्धिमान् उत्तंकने अपने कठोर वचनों-द्वारा भगवान् श्रीकृष्णपर भी आक्षेप किया। उधर चाण्डाल बारंबार आग्रह करने लगा—‘महर्षे! जल पी लीजिये’ ।। २० ।।

न चापिबत् स सक्रोधः क्षुभितेनान्तरात्मना ।
स तथा निश्चयात् तेन प्रत्याख्यातो महात्मना ।। २१ ।।

उत्तंकने उस जलको नहीं पीया। वे अत्यन्त कुपित हो उठे थे। उनके अन्तःकरणमें बड़ा क्षोभ था। उन महात्माने अपने निश्चयपर अटल रहकर चाण्डालको जवाब दे दिया ।। २१ ।।

श्वभिः सह महाराज तत्रैवान्तरधीयत ।
उत्तङ्कस्तं तथा दृष्ट्वा ततो व्रीडितमानसः ।। २२ ।।
मेने प्रलब्धमात्मानं कृष्णेनामित्रघातिना ।

महाराज! मुनिके इनकार करते ही कुत्तोंसहित वह चाण्डाल वहीं अन्तर्धान हो गया। यह देख उत्तंक मन-ही-मन बहुत लज्जित हुए और सोचने लगे कि 'शत्रुघाती श्रीकृष्णने मुझे ठग लिया' ।। २२½ ।।

अथ तेनैव मार्गेण शङ्खचक्रगदाधरः ।। २३ ।।
आजगाम महाबुद्धिरुत्तङ्कश्चैनमब्रवीत् ।
न युक्तं तादृशं दातुं त्वया पुरुषसत्तम ।। २४ ।।
सलिलं विप्रमुख्येभ्यो मातङ्गस्रोतसा विभो ।

तदनन्तर शंख, चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण उसी मार्गसे प्रकट होकर आये। उन्हें देखकर महामति उत्तंकने कहा—'पुरुषोत्तम! प्रभो! आपको श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके लिये चाण्डालसे स्पर्श किया हुआ वैसा अपवित्र जल देना उचित नहीं है' ।। २३-२४½ ।।

इत्युक्तवचनं तं तु महाबुद्धिर्जनार्दनः ।। २५ ।।
उत्तङ्कं श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ।

उत्तंकके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् जनार्दनने उन्हें मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना देते हुए कहा— ।। २५½ ।।

यादृशेनेह रूपेण योग्यं दातुं धृतेन वै ।। २६ ।।
तादृशं खलु ते दत्तं यच्च त्वं नावबुध्यथाः ।

'महर्षे! वहाँ जैसा रूप धारण करके वह जल आपके लिये देना उचित था, उसी रूपसे दिया गया; किंतु आप उसे समझ न सके ।। २६½ ।।

मया त्वदर्थमुक्तो वै वज्रपाणिः पुरंदरः ।। २७ ।।
उत्तङ्कायामृतं देहि तोयरूपमिति प्रभुः ।
स मामुवाच देवेन्द्रो न मर्त्योऽमर्त्यतां व्रजेत् ।। २८ ।।
अन्यमस्मै वरं देहीत्यसकृद् भृगुनन्दन ।
अमृतं देयमित्येव मयोक्तः स शचीपतिः ।। २९ ।।

'भृगुनन्दन! मैंने आपके लिये वज्रधारी इन्द्रसे जाकर कहा था कि तुम उत्तंक मुनिको जलके रूपमें अमृत प्रदान करो। मेरी बात सुनकर प्रभावशाली देवेन्द्रने बारम्बार मुझसे कहा कि 'मनुष्य अमर नहीं हो सकता। इसलिये आप उन्हें अमृत न देकर और कोई वर दीजिये।' परंतु मैंने शचीपति इन्द्रसे जोर देकर कहा कि उत्तङ्कको तो अमृत ही देना है ।। २७—२९ ।।

स मां प्रसाद्य देवेन्द्रः पुनरेवेदमब्रवीत् ।
यदि देयमवश्यं वै मातङ्गोऽहं महामते ।। ३० ।।
भूत्वामृतं प्रदास्यामि भार्गवाय महात्मने ।
यद्येवं प्रतिगृह्णाति भार्गवोऽमृतमद्य वै ।। ३१ ।।

प्रदातुमेष गच्छामि भार्गवस्यामृतं विभो ।
प्रत्याख्यातस्त्वहं तेन दास्यामि न कथंचन ।। ३२ ।।

'तब देवराज इन्द्र मुझे प्रसन्न करके बोले—'सर्वव्यापी महामते! यदि भृगुनन्दन महात्मा उत्तंकको अमृत अवश्य देना है तो मैं चाण्डालका रूप धारण करके उन्हें अमृत प्रदान करूँगा। यदि इस प्रकार आज भृगुवंशी उत्तंक अमृत लेना स्वीकार करेंगे तो मैं उन्हें वर देनेके लिये अभी जा रहा हूँ और यदि वे अस्वीकार कर देंगे तो मैं किसी तरह उन्हें अमृत नहीं दूँगा' ।। ३०—३२ ।।

स तथा समयं कृत्वा तेन रूपेण वासवः ।
उपस्थितस्त्वया चापि प्रत्याख्यातोऽमृतं ददत् ।। ३३ ।।

'इस तरहकी शर्त करके साक्षात् इन्द्र चाण्डालके रूपमें यहाँ उपस्थित हुए थे और आपको अमृत दे रहे थे; परंतु आपने उन्हें ठुकरा दिया ।। ३३ ।।

चाण्डालरूपी भगवान् सुमहांस्ते व्यतिक्रमः ।
यत् तु शक्यं मया कर्तुं भूय एव तवेप्सितम् ।। ३४ ।।

'आपने चाण्डालरूपधारी भगवान् इन्द्रको ठुकराया है, यह आपका महान् अपराध है। अच्छा, आपकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये मैं पुनः जो कुछ कर सकता हूँ, करूँगा ।। ३४ ।।

तोयेप्सां तव दुर्धर्षां करिष्ये सफलामहम् ।
येष्वहःसु च ते ब्रह्मन् सलिलेप्सा भविष्यति ।। ३५ ।।
तदा मरौ भविष्यन्ति जलपूर्णाः पयोधराः ।
रसवच्च प्रदास्यन्ति तोयं ते भृगुनन्दन ।। ३६ ।।
उत्तङ्कमेघा इत्युक्ताः ख्यातिं यास्यन्ति चापि ते ।

'ब्रह्मन्! आपकी तीव्र पिपासाको मैं अवश्य सफल करूँगा। जिन दिनों आपको जल पीनेकी इच्छा होगी, उन्हीं दिनों मरुप्रदेशमें जलसे भरे हुए मेघ प्रकट होंगे। भृगुनन्दन! वे आपको सरस जल प्रदान करेंगे और इस पृथ्वीपर उत्तंक मेघके नामसे विख्यात होंगे' ।।

इत्युक्तः प्रीतिमान् विप्रः कृष्णेन स बभूव ह ।
अद्याप्युत्तङ्कमेघाश्च मरौ वर्षन्ति भारत ।। ३७ ।।

भारत! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर विप्रवर उत्तंक मुनि बड़े प्रसन्न हुए। इस समय भी मरुभूमिमें उत्तंक मेघ प्रकट होकर जलकी वर्षा करते हैं ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तङ्कोपाख्यानमें कृष्णवाक्यविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५५ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ४२ श्लोक हैं)

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उत्तंककी गुरुभक्तिका वर्णन, गुरुपुत्रीके साथ उत्तंकका विवाह, गुरुपत्नीकी आज्ञासे दिव्यकुण्डल लानेके लिये उत्तंकका राजा सौदासके पास जाना

जनमेजय उवाच

उत्तङ्कः केन तपसा संयुक्तो वै महामनाः ।
यः शापं दातुकामोऽभूद् विष्णवे प्रभविष्णवे ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! महात्मा उत्तंक मुनिने ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जिससे वे सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत भगवान् विष्णुको भी शाप देनेका संकल्प कर बैठे? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्को महता युक्तस्तपसा जनमेजय ।
गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत् किंचिदपूजयत् ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! उत्तंक मुनि बड़े भारी तपस्वी, तेजस्वी और गुरुभक्त थे। उन्होंने जीवनमें गुरुके सिवा दूसरे किसी देवताकी आराधना नहीं की थी ।। २ ।।

सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसीन्मनोरथः ।
औत्तङ्कीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामेति भारत ।। ३ ।।

भरतनन्दन! जब वे गुरुकुलमें रहते थे, उन दिनों सभी ऋषिकुमारोंके मनमें यह अभिलाषा होती थी कि हमें भी उत्तंकके समान गुरुभक्ति प्राप्त हो ।। ३ ।।

गौतमस्य तु शिष्याणां बहूनां जनमेजय ।
उत्तङ्केऽभ्यधिका प्रीतिः स्नेहश्चैवाभवत् तदा ।। ४ ।।

जनमेजय! गौतमके बहुत-से शिष्य थे, परंतु उनका प्रेम और स्नेह सबसे अधिक उत्तंकमें ही था ।।

स तस्य दमशौचाभ्यां विक्रान्तेन च कर्मणा ।
सम्यक् चैवोपचारेण गौतमः प्रीतिमानभूत् ।। ५ ।।

उत्तंकके इन्द्रियसंयम, बाहर-भीतरकी पवित्रता, पुरुषार्थ, कर्म और उत्तमोत्तम सेवासे गौतम बहुत प्रसन्न रहते थे ।। ५ ।।

अथ शिष्यसहस्राणि समनुज्ञातवानृषिः ।
उत्तङ्कं परया प्रीत्या नाभ्यनुज्ञातुमैच्छत ।

तं क्रमेण जरा तात प्रतिपेदे महामुनिम् ।। ६ ।।

उन महर्षिने अपने सहस्रों शिष्योंको पढ़ाकर घर जानेकी आज्ञा दे दी; परंतु उत्तङ्कपर अधिक प्रेम होनेके कारण वे उन्हें घर जानेकी आज्ञा नहीं देना चाहते थे। तात! क्रमशः उन महामुनि उत्तंकको वृद्धावस्था प्राप्त हुई ।। ६ ।।

न चान्वबुध्यत तदा स मुनिर्गुरुवत्सलः ।
ततः कदाचिद् राजेन्द्र काष्ठान्यानयितुं ययौ ।। ७ ।।
उत्तङ्कः काष्ठभारं च महान्तं समुपानयत् ।

किंतु वे गुरुवत्सल महर्षि यह नहीं जान सके कि मेरा बुढ़ापा आ गया। राजेन्द्र! एक दिन उत्तंक मुनि लकड़ियाँ लानेके लिये वनमें गये और वहाँसे काठका बहुत बड़ा बोझ उठा लाये ।। ७½ ।।

स तद्भाराभिभूतात्मा काष्ठभारमरिंदम ।। ८ ।।
निचिक्षेप क्षितौ राजन् परिश्रान्तो बुभुक्षितः ।
तस्य काष्ठे विलग्नाभूज्जटा रूप्यसमप्रभा ।। ९ ।।
ततः काष्ठैः सह तदा पपात धरणीतले ।

शत्रुदमन नरेश! बोझ भारी होनेके कारण वे बहुत थक गये। उनका शरीर लकड़ियोंके भारसे दब गया था। वे भूखसे पीड़ित हो रहे थे। जब आश्रमपर आकर उस बोझको वे जमीनपर गिराने लगे, उस समय चाँदीके तारकी भाँति सफेद रंगकी उनकी जटा लकड़ीमें चिपक गयी थी, जो उन लकड़ियोंके साथ ही जमीनपर गिर पड़ी ।। ८-९½ ।।

ततः स भारनिष्पिष्टः क्षुधाविष्टश्च भारत ।। १० ।।
दृष्ट्वा तां वयसोऽवस्थां रुरोदार्तस्वरस्तदा ।

भारत! भारसे तो वे पिस ही गये थे, भूखने भी उन्हें व्याकुल कर दिया था। अतः अपनी उस अवस्थाको देखकर वे उस समय आर्त स्वरसे रोने लगे ।। १०½ ।।

ततो गुरुसुता तस्य पद्मपत्रनिभानना ।। ११ ।।
जग्राहाश्रूणि सुश्रोणी करेण पृथुलोचना ।
पितुर्नियोगाद् धर्मज्ञा शिरसावनता तदा ।। १२ ।।

तब कमलदलके समान प्रफुल्ल मुखवाली विशाललोचना परम सुन्दरी धर्मज्ञ गुरुपुत्रीने पिताकी आज्ञा पाकर विनीत भावसे सिर झुकाये वहाँ आयी और अपने हाथोंमें उसने मुनिके आँसू ग्रहण कर लिये ।।

तस्या निपेततुर्दग्धौ करौ तैरश्रुबिन्दुभिः ।
न हि तानश्रुपातांस्तु शक्ता धारयितुं मही ।। १३ ।।

उन अश्रुबिन्दुओंसे उसके दोनों हाथ जल गये और आँसुओंसहित पृथ्वीसे जा लगे। परंतु पृथ्वी भी उन गिरते हुए अश्रुबिन्दुओंके धारण करनेमें असमर्थ हो गयी ।। १३ ।।

गौतमस्त्वब्रवीद् विप्रमुत्तङ्कं प्रीतमानसः ।

कस्मात् तात तवाद्येह शोकोत्तरमिदं मनः ।
स स्वैरं ब्रूहि विप्रर्षे श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।। १४ ।।

फिर गौतमने प्रसन्नचित्त होकर विप्रवर उत्तंकसे पूछा—'बेटा! आज तुम्हारा मन शोकसे व्याकुल क्यों हो रहा है? मैं इसका यथार्थ कारण सुनना चाहता हूँ। ब्रह्मर्षे! तुम निःसंकोच होकर सारी बातें बताओ' ।। १४ ।।

उत्तङ्क उवाच

भवद्गतेन मनसा भवत्प्रियचिकीर्षया ।
भवद्भक्तिगतेनेह भवद्भावानुगेन च ।। १५ ।।
जरेयं नावबुद्धा मे नाभिज्ञातं सुखं च मे ।
शतवर्षोषितं मां हि न त्वमभ्यनुजानिथाः ।। १६ ।।

उत्तंकने कहा—गुरुदेव! मेरा मन सदा आपमें लगा रहा। आपहीका प्रिय करनेकी इच्छासे मैं निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहा, मेरा सम्पूर्ण अनुराग आपहीमें रहा है और आपहीकी भक्तिमें तत्पर रहकर मैंने न तो लौकिक सुखको जाना और न मुझे आये हुए इस बुढ़ापाका ही पता चला। मुझे यहाँ रहते हुए सौ वर्ष बीत गये तो भी आपने मुझे घर जानेकी आज्ञा नहीं दी ।। १५-१६ ।।

भवता त्वभ्यनुज्ञाताः शिष्याः प्रत्यवरा मम ।
उपपन्ना द्विजश्रेष्ठ शतशोऽथ सहस्रशः ।। १७ ।।

द्विजश्रेष्ठ! मेरे बाद सैकड़ों और हजारों शिष्य आपकी सेवामें आये और अध्ययन पूरा करके आपकी आज्ञा लेकर चले गये (केवल मैं ही यहाँ पड़ा हुआ हूँ) ।। १७ ।।

गौतम उवाच

त्वत्प्रीतियुक्तेन मया गुरुशुश्रूषया तव ।
व्यतिक्रामन्महाकालो नावबुद्धो द्विजर्षभ ।। १८ ।।

गौतमने कहा—विप्रवर! तुम्हारी गुरुशुश्रूषासे तुम्हारे ऊपर मेरा बड़ा प्रेम हो गया था। इसीलिये इतना अधिक समय बीत गया तो भी मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आयी ।। १८ ।।

किं त्वद्य यदि ते श्रद्धा गमनं प्रति भार्गव ।
अनुज्ञां प्रतिगृह्य त्वं स्वगृहान् गच्छ मा चिरम् ।। १९ ।।

भृगुनन्दन! यदि आज तुम्हारे मनमें यहाँसे जानेकी इच्छा हुई है तो मेरी आज्ञा स्वीकार करो और शीघ्र ही यहाँसे अपने घरको चले जाओ ।। १९ ।।

उत्तङ्क उवाच

गुर्वर्थं कं प्रयच्छामि ब्रूहि त्वं द्विजसत्तम ।
तमुपाहृत्य गच्छेयमनुज्ञातस्त्वया विभो ।। २० ।।

उत्तंकने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! प्रभो! मैं आपको गुरुदक्षिणामें क्या दूँ? यह बताइये। उसे आपको अर्पित करके आज्ञा लेकर घरको जाऊँ ।। २० ।।

गौतम उवाच

दक्षिणा परितोषो वै गुरूणां सद्भिरुच्यते ।
तव ह्याचरतो ब्रह्मंस्तुष्टोऽहं वै न संशयः ।। २१ ।।

गौतमने कहा—ब्रह्मन्! सत्पुरुष कहते हैं कि गुरुजनोंको संतुष्ट करना ही उनके लिये सबसे उत्तम दक्षिणा है। तुमने जो सेवा की है, उससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ, इसमें संशय नहीं है ।। २१ ।।

इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वह ।
युवा षोडशवर्षो हि यद्यद्य भविता भवान् ।। २२ ।।
ददानि पत्नीं कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज ।
एतामृतेऽङ्गना नान्या त्वत्तेजोऽर्हति सेवितुम् ।। २३ ।।

भृगुकुलभूषण! इस तरह तुम मुझे पूर्ण संतुष्ट जानो। यदि आज तुम सोलह वर्षके तरुण हो जाओ तो मैं तुम्हें पत्नीरूपसे अपनी कुमारी कन्या अर्पित कर दूँगा; क्योंकि इसके सिवा दूसरी कोई स्त्री तुम्हारे तेजको नहीं सह सकती ।। २२-२३ ।।

ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम् ।
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातो गुरुपत्नीमथाब्रवीत् ।। २४ ।।

तब उत्तंकने तपोबलसे तरुण होकर उस यशस्विनी गुरुपुत्रीका पाणिग्रहण किया। तत्पश्चात् गुरुकी आज्ञा पाकर वे गुरुपत्नीसे बोले— ।। २४ ।।

कं भवत्यै प्रयच्छामि गुर्वर्थं विनियुङ्क्ष्व माम् ।
प्रियं हितं च काङ्क्षामि प्राणैरपि धनैरपि ।। २५ ।।

'माताजी! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं गुरुदक्षिणामें आपको क्या दूँ? अपना धन और प्राण देकर भी मैं आपका प्रिय एवं हित करना चाहता हूँ ।। २५ ।।

यद् दुर्लभं हि लोकेऽस्मिन् रत्नमत्यद्भुतं महत् ।
तदानयेयं तपसा न हि मेऽत्रास्ति संशयः ।। २६ ।।

'इस लोकमें जो अत्यन्त दुर्लभ, अद्भुत एवं महान् रत्न हो, उसे भी मैं तपस्याके बलसे ला सकता हूँ; इसमें संशय नहीं है' ।। २६ ।।

अहल्योवाच

परितुष्टास्मि ते विप्र नित्यं भक्त्या तवानघ ।
पर्याप्तमेतद् भद्रं ते गच्छ तात यथेप्सितम् ।। २७ ।।

अहल्या बोली—निष्पाप ब्राह्मण! मैं तुम्हारे भक्ति-भावसे सदा संतुष्ट हूँ। बेटा! मेरे लिये इतना ही बहुत है। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, जाओ ।। २७ ।।

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्कस्तु महाराज पुनरेवाब्रवीद् वचः ।
आज्ञापयस्व मां मातः कर्तव्यं च तव प्रियम् ।। २८ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! गुरुपत्नीकी बात सुनकर उत्तंकने फिर कहा—'माताजी! मुझे आज्ञा दीजिये—मैं क्या करूँ? मुझे आपका प्रिय कार्य अवश्य करना है' ।। २८ ।।

अहल्योवाच

सौदासपत्न्या विधृते दिव्ये ये मणिकुण्डले ।
ते समानय भद्रं ते गुर्वर्थः सुकृतो भवेत् ।। २९ ।।

अहल्या बोली—बेटा! राजा सौदासकी रानीने जो दो दिव्य मणिमय कुण्डल धारण कर रखे हैं, उन्हें ले आओ। तुम्हारा कल्याण हो। उनके ला देनेसे तुम्हारी गुरु-दक्षिणा पूरी हो जायगी ।। २९ ।।

स तथेति प्रतिश्रुत्य जगाम जनमेजय ।
गुरुपत्नीप्रियार्थं वै ते समानयितुं तदा ।। ३० ।।

जनमेजय! तब 'बहुत अच्छा' कहकर उत्तंकने गुरुपत्नीकी आज्ञा स्वीकार कर ली और उनका प्रिय करनेकी इच्छासे उन कुण्डलोंको लानेके लिये चल दिये ।। ३० ।।

स जगाम ततः शीघ्रमुत्तङ्को ब्राह्मणर्षभः ।
सौदासं पुरुषादं वै भिक्षितुं मणिकुण्डले ।। ३१ ।।

ब्राह्मणशिरोमणि उत्तंक नरभक्षी राक्षसभावको प्राप्त हुए राजा सौदाससे उन मणिमय कुण्डलोंकी याचना करनेके लिये वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थित हुए ।। ३१ ।।

गौतमस्त्वब्रवीत् पत्नीमुत्तङ्को नाद्य दृश्यते ।
इति पृष्टा तमाचष्ट कुण्डलार्थे गतं च सा ।। ३२ ।।

उनके चले जानेपर गौतमने पत्नीसे पूछा—'आज उत्तंक क्यों नहीं दिखायी देता है?' पतिके इस प्रकार पूछनेपर अहल्याने कहा—'वह सौदासकी महारानीके कुण्डल ले आनेके लिये गया' ।। ३२ ।।

ततः प्रोवाच पत्नीं स न ते सम्यगिदं कृतम् ।
शप्तः स पार्थिवो नूनं ब्राह्मणं तं वधिष्यति ।। ३३ ।।

यह सुनकर गौतमने पत्नीसे कहा—'देवि! यह तुमने अच्छा नहीं किया। राजा सौदास शापवश राक्षस हो गये हैं। अतः वे उस ब्राह्मणको अवश्य मार डालेंगे' ।। ३३ ।।

अहल्योवाच

अजानन्त्या नियुक्तः स भगवन् ब्राह्मणो मया ।
भवत्प्रसादान्न भयं किंचित् तस्य भविष्यति ।। ३४ ।।

अहल्या बोली—भगवन्! मैं इस बातको नहीं जानती थी, इसीलिये उस ब्राह्मणको ऐसा काम सौंप दिया। मुझे विश्वास है कि आपकी कृपासे उसे वहाँ कोई भय नहीं प्राप्त होगा ।। ३४ ।।

इत्युक्तः प्राह तां पत्नीमेवमस्त्विति गौतमः ।
उत्तङ्कोऽपि वने शून्ये राजानं तं ददर्श ह ।। ३५ ।।

यह सुनकर गौतमने पत्नीसे कहा—'अच्छा, ऐसा ही हो।' उधर उत्तंक निर्जन वनमें जाकर राजा सौदाससे मिले ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कुण्डलाहरणे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तंकके उपाख्यानमें कुण्डलाहरणविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५६ ।।

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

उत्तंकका सौदाससे उनकी रानीके कुण्डल माँगना और सौदासके कहनेसे रानी मदयन्तीके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

स तं दृष्ट्वा तथाभूतं राजानं घोरदर्शनम् ।
दीर्घश्मश्रुधरं नृणां शोणितेन समुक्षितम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा सौदास राक्षस होकर बड़े भयानक दिखायी देते थे। उनकी मूँछ और दाढ़ी बहुत बड़ी थी। वे मनुष्योंके रक्तसे रँगे हुए थे ।। १ ।।

चकार न व्यथां विप्रो राजा त्वेनमथाब्रवीत् ।
प्रत्युत्थाय महातेजा भयकर्ता यमोपमः ।। २ ।।

उन्हें देखकर विप्रवर उत्तंकको तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उन्हें देखते ही महातेजस्वी राजा सौदास, जो यमराजके समान भयंकर थे, उठकर खड़े हो गये और उनके पास जाकर बोले— ।। २ ।।

दिष्ट्या त्वमसि कल्याण षष्ठे काले ममान्तिकम् ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य सम्प्राप्तो द्विजसत्तम ।। ३ ।।

'कल्याणस्वरूप द्विजश्रेष्ठ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि दिनके छठे भागमें आप स्वयं ही मेरे पास चले आये। मैं इस समय आहार ही ढूँढ़ रहा था' ।। ३ ।।

उत्तङ्क उवाच

राजन् गुर्वर्थिनं विद्धि चरन्तं मामिहागतम् ।
न च गुर्वर्थमुद्युक्तं हिंस्यमाहुर्मनीषिणः ।। ४ ।।

उत्तंक बोले—राजन्! आपको मालूम होना चाहिये कि मैं गुरुदक्षिणाके लिये घूमता-फिरता यहाँ आया हूँ। जो गुरुदक्षिणा जुटानेके लिये उद्योगशील हो, उसकी हिंसा नहीं करनी चाहिये, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है ।। ४ ।।

राजोवाच

षष्ठे काले ममाहारो विहितो द्विजसत्तम ।
न शक्यस्त्वं समुत्स्रष्टुं क्षुधितेन मयाद्य वै ।। ५ ।।

राजाने कहा—द्विजश्रेष्ठ! दिनके छठे भागमें मेरे लिये आहारका विधान किया गया है। यह वही समय है। मैं भूखसे पीड़ित हो रहा हूँ। इसलिये मेरे हाथोंसे तुम छूट नहीं सकते ।। ५ ।।

उत्तङ्क उवाच

एवमस्तु महाराज समयः क्रियतां तु मे ।
गुर्वर्थमभिनिर्वर्त्य पुनरेष्यामि ते वशम् ।। ६ ।।

उत्तंकने कहा—महाराज! ऐसा ही सही, किंतु मेरे साथ एक शर्त कर लीजिये। मैं गुरुदक्षिणा चुकाकर फिर आपके वशमें आ जाऊँगा ।। ६ ।।

संश्रुतश्च मया योऽर्थो गुरवे राजसत्तम ।
त्वदधीनः स राजेन्द्र तं त्वां भिक्षे नरेश्वर ।। ७ ।।

राजेन्द्र! नृपश्रेष्ठ! मैंने गुरुको जो वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही अधीन है; अतः नरेश्वर! मैं आपसे उसकी भीख माँगता हूँ ।। ७ ।।

ददासि विप्रमुख्येभ्यस्त्वं हि रत्नानि नित्यदा ।
दाता च त्वं नरव्याघ्र पात्रभूतः क्षिताविह ।
पात्रं प्रतिग्रहे चापि विद्धि मां नृपसत्तम ।। ८ ।।

पुरुषसिंह! आप प्रतिदिन बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको रत्न प्रदान करते हैं। इस पृथ्वीपर आप एक श्रेष्ठ दानीके रूपमें प्रसिद्ध हैं और मैं भी दान लेनेका पात्र हूँ। नृपश्रेष्ठ! आप मुझे प्रतिग्रहका अधिकारी समझें ।। ८ ।।

उपाहृत्य गुरोरर्थं त्वदायत्तमरिंदम ।
समयेनेह राजेन्द्र पुनरेष्यामि ते वशम् ।। ९ ।।

शत्रुदमन राजेन्द्र! गुरुका धन जो आपके ही अधीन है, उन्हें अर्पित करके मैं अपनी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार फिर आपके अधीन हो जाऊँगा ।। ९ ।।

सत्यं ते प्रतिजानामि नात्र मिथ्या कथंचन ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ।। १० ।।

मैं आपसे सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ, इसमें किसी तरह मिथ्याके लिये स्थान नहीं है। मैं पहले कभी परिहासमें भी झूठ नहीं बोला हूँ, फिर अन्य अवसरोंपर तो बोल ही कैसे सकता हूँ ।। १० ।।

सौदास उवाच

यदि मत्तस्तवायत्तो गुर्वर्थः कृत एव सः ।
यदि चास्मि प्रतिग्राह्यः साम्प्रतं तद् वदस्व मे ।। ११ ।।

सौदासने कहा—ब्रह्मन्! यदि आपकी गुरुदक्षिणा मेरे अधीन है तो उसे मिली हुई ही समझिये। यदि आप मेरी कोई वस्तु लेनेके योग्य मानते हैं तो बताइये, इस समय मैं आपको क्या दूँ? ।। ११ ।।

उत्तङ्क उवाच

प्रतिग्राह्यो मतो मे त्वं सदैव पुरुषर्षभ ।

सोऽहं त्वामनुसम्प्राप्तो भिक्षितुं मणिकुण्डले ।। १२ ।।

उत्तंकने कहा—पुरुषप्रवर! आपका दिया हुआ दान मैं सदा ही ग्रहण करनेके योग्य मानता हूँ। इस समय मैं आपकी रानीके दोनों मणिमय कुण्डल माँगनेके लिये यहाँ आया हूँ ।। १२ ।।

सौदास उवाच

पत्न्यास्ते मम विप्रर्षे उचिते मणिकुण्डले ।
वरयार्थं त्वमन्यं वै तं ते दास्यामि सुव्रत ।। १३ ।।

सौदासने कहा—ब्रह्मर्षे! वे मणिमय कुण्डल तो मेरी रानीके ही योग्य हैं। सुव्रत! आप और कोई वस्तु माँगिये, उसे मैं आपको अवश्य दे दूँगा ।। १३ ।।

उत्तङ्क उवाच

अलं ते व्यपदेशेन प्रमाणा यदि ते वयम् ।
प्रयच्छ कुण्डले मह्यं सत्यवाग् भव पार्थिव ।। १४ ।।

उत्तंकने कहा—पृथ्वीनाथ! अब बहाना करना व्यर्थ है। यदि आप मुझपर विश्वास करते हैं तो वे दोनों मणिमय कुण्डल आप मुझे दे दें और सत्यवादी बनें ।। १४ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तस्त्वब्रवीद् राजा तमुत्तङ्कं पुनर्वचः ।
गच्छ मद्वचनाद् देवीं ब्रूहि देहीति सत्तम ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उनके ऐसा कहनेपर राजा फिर उत्तंकसे बोले—'साधुशिरोमणे! आप रानीके पास जाइये और मेरी आज्ञा सुनाकर कहिये। आप मुझे कुण्डल दे दें ।। १५ ।।

सैवमुक्ता त्वया नूनं मद्वाक्येन शुचिव्रता ।
प्रदास्यति द्विजश्रेष्ठ कुण्डले ते न संशयः ।। १६ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! रानी उत्तम व्रतका पालन करनेवाली हैं। जब आप उनसे इस प्रकार कहेंगे, तब वे मेरी आज्ञा मानकर दोनों कुण्डल आपको दे देंगी, इसमें संशय नहीं है' ।।

उत्तङ्क उवाच

क्व पत्नी भवतः शक्या मया द्रष्टुं नरेश्वर ।
स्वयं वापि भवान् पत्नीं किमर्थं नोपसर्पति ।। १७ ।।

उत्तंक बोले—नरेश्वर! मैं कहाँ आपकी पत्नीको ढूँढ़ता फिरूँगा? मुझे क्योंकर उनका दर्शन हो सकेगा? आप स्वयं ही अपनी पत्नीके पास क्यों नहीं चलते? ।।

सौदास उवाच

तां द्रक्ष्यति भवानद्य कस्मिंश्चिद् वननिर्झरे ।
षष्ठे काले न हि मया सा शक्या द्रष्टुमद्य वै ।। १८ ।।

सौदासने कहा—ब्रह्मन्! उन्हें आज आप वनमें किसी झरनेके पास देखेंगे। यह दिनका छठा भाग है (मैं आहारकी खोजमें हूँ), अतः इस समय मैं उनसे नहीं मिल सकता ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्कस्तु तथोक्तः स जगाम भरतर्षभ ।
मदयन्तीं च दृष्ट्वा स ज्ञापयत् स्वप्रयोजनम् ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतभूषण! राजाके ऐसा कहनेपर उत्तंक मुनि महारानी मदयन्तीके पास गये और उनसे अपने आनेका प्रयोजन बतलाया ।। १९ ।।

सौदासवचनं श्रुत्वा ततः सा पृथुलोचना ।
प्रत्युवाच महाबुद्धिमुत्तङ्कं जनमेजय ।। २० ।।

जनमेजय! राजा सौदासका संदेश सुनकर विशाललोचना रानीने महाबुद्धिमान् उत्तंक मुनिको इस प्रकार उत्तर दिया— ।। २० ।।

एवमेतद् वद ब्रह्मन् नानृतं वदसेऽनघ ।
अभिज्ञानं तु किंचित् त्वं समानयितुमर्हसि ।। २१ ।।

‘ब्रह्मन्! आप जो कहते हैं, वह ठीक है। अनघ! यद्यपि आप असत्य नहीं बोलते हैं, तथापि आप महाराजके ही पाससे उन्हींका संदेश लेकर आये हैं, इस बातका कोई प्रमाण आपको लाना चाहिये ।। २१ ।।

इमे हि दिव्ये मणिकुण्डले मे
देवाश्च यक्षाश्च महर्षयश्च ।
तैस्तैरुपायैरपहर्तुकामा-
श्छिद्रेषु नित्यं परितर्कयन्ति ।। २२ ।।

‘मेरे ये दोनों मणिमय कुण्डल दिव्य हैं। देवता, यक्ष और महर्षि लोग नाना प्रकारके उपायोंद्वारा इसे चुरा ले जानेकी इच्छा रखते हैं और इसके लिये सदा छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं ।। २२ ।।

निक्षिप्तमेतद् भुवि पन्नगास्तु
रत्नं समासाद्य परामृशेयुः ।
यक्षास्तथोच्छिष्टधृतं सुराश्च
निद्रावशाद् वा परिधर्षयेयुः ।। २३ ।।

‘यदि इन कुण्डलोंको पृथ्वीपर रख दिया जाय तो नाग लोग इसे हड़प लेंगे। अपवित्र अवस्थामें इन्हें धारण करनेपर यक्ष उड़ा ले जायँगे और यदि इन्हें पहनकर नींद लेने लग

जाय तो देवतालोग बलात् छीन ले जायँगे ।। २३ ।।

छिद्रेष्वेतेष्विमे नित्यं ह्रियेते द्विजसत्तम ।

देवराक्षसनागानामप्रमत्तेन धार्यते ।। २४ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! इन छिद्रोंमें इन दोनों कुण्डलोंके खो जानेका भय सदा बना रहता है। जो देवता, राक्षस और नागोंकी ओरसे सावधान होता है, वही इन्हें धारण कर सकता है ।। २४ ।।

स्यन्देते हि दिवा रुक्मं रात्रौ च द्विजसत्तम ।

नक्तं नक्षत्रताराणां प्रभामाक्षिप्य वर्ततः ।। २५ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! ये दोनों कुण्डल रात-दिन सोना टपकाते रहते हैं। इतना ही नहीं, रातमें ये नक्षत्रों और तारोंकी प्रभाको भी छीन लेते हैं ।। २५ ।।

एते ह्यामुच्य भगवन् क्षुत्पिपासाभयं कुतः ।

विषाग्निश्वापदेभ्यश्च भयं जातु न विद्यते ।। २६ ।।

'भगवन्! इन्हें धारण कर लेनेपर भूख-प्यासका भय कहाँ रह जाता है? विष, अग्नि और हिंसक जन्तुओंसे भी कभी भय नहीं होता है ।। २६ ।।

ह्रस्वेन चैते आमुक्ते भवतो ह्रस्वके तदा ।

अनुरूपेण चामुक्ते जायेते तत्प्रमाणके ।। २७ ।।

'छोटे कदका मनुष्य इन कुण्डलोंको पहने तो छोटे हो जाते हैं और बड़ी डील-डौलवाले मनुष्यके पहननेपर उसीके अनुरूप बड़े हो जाते हैं ।। २७ ।।

एवंविधे ममैते वै कुण्डले परमार्चिते ।

त्रिषु लोकेषु विज्ञाते तदभिज्ञानमानय ।। २८ ।।

'ऐसे गुणोंसे युक्त होनेके कारण मेरे ये दोनों कुण्डल तीनों लोकोंमें परम प्रशंसित एवं प्रसिद्ध हैं। अतः आप महाराजकी आज्ञासे इन्हें लेने आये हैं, इसका कोई पहचान या प्रमाण लाइये' ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तंक मुनिका उपाख्यानविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५७ ।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

कुण्डल लेकर उत्तंकका लौटना, मार्गमें उन कुण्डलोंका अपहरण होना तथा इन्द्र और अग्निदेवकी कृपासे फिर उन्हें पाकर गुरुपत्नीको देना

वैशम्पायन उवाच

स मित्रसहमासाद्य अभिज्ञानमयाचत ।
तस्मै ददावभिज्ञानं स चेक्ष्वाकुवरस्तदा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रानी मदयन्तीकी बात सुनकर उत्तंकने महाराज मित्रसह (सौदास)-के पास जाकर उनसे कोई पहचान माँगी। तब इक्ष्वाकुवंशियोंमें श्रेष्ठ उन नरेशने पहचानके रूपमें रानीको सुनानेके लिये निम्नांकित सन्देश दिया ।। १ ।।

सौदास उवाच

न चैवैषा गतिः क्षेम्या न चान्या विद्यते गतिः ।
एतन्मे मतमाज्ञाय प्रयच्छ मणिकुण्डले ।। २ ।।

सौदास बोले—प्रिये! मैं जिस दुर्गतिमें पड़ा हूँ, यह मेरे लिये कल्याण करनेवाली नहीं है तथा इसके सिवा अब दूसरी कोई भी गति नहीं है। मेरे इस विचारको जानकर तुम अपने दोनों मणिमय कुण्डल इन ब्राह्मणदेवताको दे डालो ।। २ ।।

इत्युक्तस्तामुत्तङ्कस्तु भर्तुर्वाक्यमथाब्रवीत् ।
श्रुत्वा च सा तदा प्रादात् ततस्ते मणिकुण्डले ।। ३ ।।

राजाके ऐसा कहनेपर उत्तंकने रानीके पास जाकर पतिकी कही हुई बात ज्यों-की-त्यों दुहरा दी। महारानी मदयन्तीने स्वामीका वचन सुनकर उसी समय अपने मणिमय कुण्डल उत्तंक मुनिको दे दिये ।। ३ ।।

अवाप्य कुण्डले ते तु राजानं पुनरब्रवीत् ।
किमेतद् गुह्यवचनं श्रोतुमिच्छामि पार्थिव ।। ४ ।।

उन कुण्डलोंको पाकर उत्तंक मुनि पुनः राजाके पास आये और इस प्रकार बोले—‘पृथ्वीनाथ! आपके गूढ़ वचनका क्या अभिप्राय था, यह मैं सुनना चाहता हूँ’ ।। ४ ।।

सौदास उवाच

प्रजानिसर्गाद् विप्रान् वै क्षत्रियाः पूजयन्ति ह ।
विप्रेभ्यश्चापि बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति वै ।। ५ ।।

सौदास बोले—ब्रह्मन्! क्षत्रियलोग सृष्टिके प्रारम्भकालसे ब्राह्मणोंकी पूजा करते आ रहे हैं तथापि ब्राह्मणोंकी ओरसे भी क्षत्रियोंके लिये बहुत-से दोष प्रकट हो जाते हैं ।। ५ ।।

सोऽहं द्विजेभ्यः प्रणतो विप्राद् दोषमवाप्तवान् ।
गतिमन्यां न पश्यामि मदयन्तीसहायवान् ।। ६ ।।

मैं सदा ही ब्राह्मणोंको प्रणाम किया करता था, किंतु एक ब्राह्मणके ही शापसे मुझे यह दोष—यह दुर्गति प्राप्त हुई है। मैं मदयन्तीके साथ यहाँ रहता हूँ, मुझे इस दुर्गतिसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं दिखायी देता ।। ६ ।।

न चान्यामपि पश्यामि गतिं गतिमतां वर ।
स्वर्गद्वारस्य गमने स्थाने चेह द्विजोत्तम ।। ७ ।।

जंगम प्राणियोंमें श्रेष्ठ विप्रवर! अब इस लोकमें रहकर सुख पाना और परलोकमें स्वर्गीय सुख भोगनेके लिये मुझे दूसरी कोई गति नहीं दीख पड़ती ।। ७ ।।

न हि राज्ञा विशेषेण विरुद्धेन द्विजातिभिः ।
शक्यं हि लोके स्थातुं वै प्रेत्य वा सुखमेधितुम् ।। ८ ।।

कोई भी राजा विशेषरूपसे ब्राह्मणोंके साथ विरोध करके न तो इसी लोकमें चैनसे रह सकता है और न परलोकमें ही सुख पा सकता है। यही मेरे गूढ़ संदेशका तात्पर्य है ।। ८ ।।

तदिष्टे ते मया दत्ते एते स्वे मणिकुण्डले ।
यः कृतस्तेऽद्य समयः सफलं तं कुरुष्व मे ।। ९ ।।

अच्छा अब आपकी इच्छाके अनुसार ये अपने मणिमय कुण्डल मैंने आपको दे दिये। अब आपने जो प्रतिज्ञा की है, वह सफल कीजिये ।। ९ ।।

उत्तङ्क उवाच

राजंस्तथेह कर्तास्मि पुनरेष्यामि ते वशम् ।
प्रश्नं च कंचित् प्रष्टुं त्वां निवृत्तोऽस्मि परंतप ।। १० ।।

उत्तंकने कहा—राजन्! शत्रुसंतापी नरेश! मैं अपनी प्रतिज्ञाका पालन करूँगा, पुनः आपके अधीन हो जाऊँगा; किंतु इस समय एक प्रश्न पूछनेके लिये आपके पास लौटकर आया हूँ ।। १० ।।

सौदास उवाच

ब्रूहि विप्र यथाकामं प्रतिवक्तास्मि ते वचः ।
छेत्तास्मि संशयं तेऽद्य न मेऽत्रास्ति विचारणा ।। ११ ।।

सौदासने कहा—विप्रवर! आप इच्छानुसार प्रश्न कीजिये। मैं आपकी बातका उत्तर दूँगा। आपके मनमें जो भी संदेह होगा अभी उसका निवारण करूँगा। इसमें मुझे कुछ भी विचार करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी ।। ११ ।।

उत्तङ्क उवाच

प्राहुर्वाक्संयतं विप्रं धर्मनैपुणदर्शिनः ।
मित्रेषु यश्च विषमः स्तेन इत्येव तं विदुः ।। १२ ।।

उत्तंकने कहा—राजन्! धर्मनिपुण विद्वानोंने उसीको ब्राह्मण कहा है, जो अपनी वाणीका संयम करता हो—सत्यवादी हो। जो मित्रोंके साथ विषमताका व्यवहार करता है, उसे चोर माना गया है ।। १२ ।।

स भवान् मित्रतामद्य सम्प्राप्तो मम पार्थिव ।
स मे बुद्धिं प्रयच्छस्व सम्मतां पुरुषर्षभ ।। १३ ।।

पृथ्वीनाथ! पुरुषप्रवर! आज आपके साथ मेरी मित्रता हो गयी है, इसलिये आप मुझे अच्छी सलाह दीजिये ।। १३ ।।

अवाप्तार्थोऽहमद्येह भवांश्च पुरुषादकः ।
भवत्सकाशमागन्तुं क्षमं मम न वेति वै ।। १४ ।।

आज यहाँ मेरा मनोरथ सफल हो गया है और आप नरभक्षी राक्षस हो गये हैं। ऐसी दशामें आपके पास मेरा फिर लौटकर आना उचित है या नहीं ।। १४ ।।

सौदास उवाच

क्षमं चेदिह वक्तव्यं तव द्विजवरोत्तम ।
मत्समीपं द्विजश्रेष्ठ नागन्तव्यं कथंचन ।। १५ ।।

सौदासने कहा—द्विजश्रेष्ठ! यदि यहाँ मुझे उचित बात कहनी है, तब तो मैं यही कहूँगा कि ब्राह्मणोत्तम! आपको मेरे पास किसी तरह नहीं आना चाहिये ।। १५ ।।

एवं तव प्रपश्यामि श्रेयो भृगुकुलोद्वह ।
आगच्छतो हि ते विप्र भवेन्मृत्युर्न संशयः ।। १६ ।।

भृगुकुलभूषण विप्र! ऐसा करनेमें ही मैं आपकी भलाई देखता हूँ। यदि आयेंगे तो आपकी मृत्यु हो जायगी। इसमें संशय नहीं है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तदा राज्ञा क्षमं बुद्धिमता हितम् ।
अनुज्ञाप्य स राजानमहल्यां प्रतिजग्मिवान् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा सौदासके मुखसे उचित और हितकी बात सुनकर उनकी आज्ञा ले उत्तंक मुनि अहल्याके पास चल दिये ।। १७ ।।

गृहीत्वा कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्याः प्रियंकरः ।
जवेन महता प्रायाद् गौतमस्याश्रमं प्रति ।। १८ ।।

गुरुपत्नीका प्रिय करनेवाले उत्तंक दोनों दिव्य कुण्डल लेकर बड़े वेगसे गौतमके आश्रमकी ओर बढ़े ।। १८ ।।

यथा तयो रक्षणं च मदयन्त्याभिभाषितम् ।
तथा ते कुण्डले बद्ध्वा तदा कृष्णाजिनेऽनयत् ।। १९ ।।

रानी मदयन्तीने उन कुण्डलोंकी रक्षाके लिये जैसी विधि बतायी थी, उसी प्रकार उन्हें काले मृगचर्ममें बाँधकर वे ले जा रहे थे ।। १९ ।।

स कस्मिंश्चित् क्षुधाविष्टः फलभारसमन्वितम् ।
बिल्वं ददर्श विप्रर्षिरारुरोह च तं ततः ।। २० ।।
शाखामासज्य तस्यैव कृष्णाजिनमरिंदम ।
पातयामास बिल्वानि तदा स द्विजपुङ्गवः ।। २१ ।।

शत्रुदमन! रास्तेमें एक स्थानमें उन्हें बड़े जोरकी भूख लगी। वहाँ पास ही फलोंके भारसे झुका हुआ एक बेलका वृक्ष दिखायी दिया। ब्रह्मर्षि उत्तंक उस वृक्षपर चढ़ गये और उस काले मृगचर्मको उन्होंने उसकी एक शाखामें बाँध दिया। फिर वे ब्राह्मणपुंगव उस समय वहाँ बेल तोड़-तोड़कर गिराने लगे ।। २०-२१ ।।

अथ पातयमानस्य बिल्वापहृतचक्षुषः ।
न्यपतंस्तानि बिल्वानि तस्मिन्नेवाजिने विभो ।। २२ ।।
यस्मिंस्ते कुण्डले बद्धे तदा द्विजवरेण वै ।

उस समय उनकी दृष्टि बेलोंपर ही लगी हुई थी (वे कहाँ गिरते हैं, इसकी ओर उनका ध्यान नहीं था)। प्रभो! उनके तोड़े हुए प्रायः सभी बेल उस मृगछालापर ही, जिसमें उन विप्रवरने वे दोनों कुण्डल बाँध रखे थे, गिरे ।। २२½ ।।

बिल्वप्रहारैस्तस्याथ व्यशीर्यद् बन्धनं ततः ।। २३ ।।
सकुण्डलं तदजिनं पपात सहसा तरोः ।

उन बेलोंकी चोटसे बन्धन टूट गया और कुण्डलसहित वह मृगचर्म सहसा वृक्षसे नीचे जा गिरा ।। २३½ ।।

विशीर्णबन्धने तस्मिन् गते कृष्णाजिने महीम् ।। २४ ।।
अपश्यद् भुजगः कश्चित् ते तत्र मणिकुण्डले ।
ऐरावतकुलोद्भूतः शीघ्रो भूत्वा तदा हि सः ।। २५ ।।
विदश्यास्येन वल्मीकं विवेशाथ स कुण्डले ।

बन्धन टूट जानेपर उस काले मृगछालेके पृथ्वीपर गिरते ही किसी सर्पकी दृष्टि उसपर पड़ी। वह ऐरावतके कुलमें उत्पन्न हुआ तक्षक था। उसने मृगछालाके भीतर रखे हुए उस मणिमय कुण्डलोंको देखा। फिर तो बड़ी शीघ्रता करके वह उन कुण्डलोंको दाँतोंमें दबाकर एक बाँबीमें घुस गया ।। २४-२५½ ।।

ह्रियमाणे तु दृष्ट्वा स कुण्डले भुजगेन ह ।। २६ ।।
पपात वृक्षात् सोद्वेगो दुःखात् परमकोपनः ।
स दण्डकाष्ठमादाय वल्मीकमखनत् तदा ।। २७ ।।

सर्पके द्वारा कुण्डलोंका अपहरण होता देख उत्तंक मुनि उद्विग्न हो उठे और अत्यन्त क्रोधमें भरकर वृक्षसे कूद पड़े। आकर एक काठका डंडा हाथमें ले उसीसे उस बाँबीको खोदने लगे ।। २६-२७ ।।

अहानि त्रिंशदव्यग्रः पञ्च चान्यानि भारत ।
क्रोधामर्षाभिसंतप्तस्तदा ब्राह्मणसत्तमः ।। २८ ।।

भरतनन्दन! ब्राह्मणशिरोमणि उत्तंक क्रोध और अमर्षसे संतप्त हो लगातार पैंतीस दिनोंतक बिना किसी घबराहटके बिल खोदनेके कार्यमें जुटे रहे ।। २८ ।।

तस्य वेगमसह्यं तमसहन्ती वसुन्धरा ।
दण्डकाष्ठाभिनुन्नाङ्गी चचाल भृशमाकुला ।। २९ ।।

उनके उस असह्य वेगको पृथ्वी भी नहीं सह सकी। वह डंडेकी चोटसे घायल एवं अत्यन्त व्याकुल होकर डगमगाने लगी ।। २९ ।।

ततः खनत एवाथ विप्रर्षेर्धरणीतलम् ।
नागलोकस्य पन्थानं कर्तुकामस्य निश्चयात् ।। ३० ।।
रथेन हरियुक्तेन तं देशमुपजग्मिवान् ।
वज्रपाणिर्महातेजास्तं ददर्श द्विजोत्तमम् ।। ३१ ।।

उत्तंक नागलोकमें जानेका मार्ग बनानेके लिये निश्चय करके धरती खोदते ही जा रहे थे कि महातेजस्वी वज्रधारी इन्द्र घोड़े जुते हुए रथपर बैठकर उस स्थानपर आ पहुँचे और विप्रवर उत्तंकसे मिले ।। ३०-३१ ।।

वैशम्पायन उवाच

स तु तं ब्राह्मणो भूत्वा तस्य दुःखेन दुःखितः ।
उत्तङ्कमब्रवीत् वाक्यं नैतच्छक्यं त्वयेति वै ।। ३२ ।।
इतो हि नागलोको वै योजनानि सहस्रशः ।
न दण्डकाष्ठसाध्यं च मन्ये कार्यमिदं तव ।। ३३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इन्द्र उत्तंकके दुःखसे दुःखी थे। अतः ब्राह्मणका वेष बनाकर उनसे बोले—‘ब्रह्मन्! यह काम तुम्हारे वशका नहीं है। नागलोक यहाँसे हजारों योजन दूर है। इस काठके डंडेसे वहाँका रास्ता बने, यह कार्य सधनेवाला नहीं जान पड़ता’ ।। ३२-३३ ।।

उत्तङ्क उवाच

नागलोके यदि ब्रह्मन् न शक्ये कुण्डले मया ।
प्राप्तुं प्राणान् विमोक्ष्यामि पश्यतस्तु द्विजोत्तम ।। ३४ ।।

उत्तंकने कहा—ब्रह्मन्! द्विजश्रेष्ठ! यदि नागलोकमें जाकर उन कुण्डलोंको प्राप्त करना मेरे लिये असम्भव है तो मैं आपके सामने ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ।। ३४ ।।

वैशम्पायन उवाच

यदा स नाशकत् तस्य निश्चयं कर्तुमन्यथा ।
वज्रपाणिस्तदा दण्डं वज्रास्त्रेण युयोज ह ।। ३५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वज्रधारी इन्द्र जब किसी तरह उत्तंकको अपने निश्चयसे न हटा सके, तब उन्होंने उनके डंडेके अग्रभागमें अपने वज्रास्त्रका संयोग कर दिया ।। ३५ ।।

ततो वज्रप्रहारैस्तैर्दार्यमाणा वसुन्धरा ।
नागलोकस्य पन्थानमकरोज्जनमेजय ।। ३६ ।।

जनमेजय! उस वज्रके प्रहारसे विदीर्ण होकर पृथ्वीने नागलोकका रास्ता प्रकट कर दिया ।। ३६ ।।

स तेन मार्गेण तदा नागलोकं विवेश ह ।
ददर्श नागलोकं च योजनानि सहस्रशः ।। ३७ ।।

उसी मार्गसे उन्होंने नागलोकमें प्रवेश किया और देखा कि नागोंका लोक सहस्रों योजन विस्तृत है ।। ३७ ।।

प्राकारनिचयैर्दिव्यैर्मणिमुक्तास्वलंकृतैः ।
उपपन्नं महाभाग शातकुम्भमयैस्तथा ।। ३८ ।।

महाभाग! उसके चारों ओर दिव्य परकोटे बने हुए हैं; जो सोनेकी ईंटोंसे बने हुए हैं और मणि-मुक्ताओंसे अलंकृत हैं ।। ३८ ।।

वापीः स्फटिकसोपाना नदीश्च विमलोदकाः ।
ददर्श वृक्षांश्च बहून् नानाद्विजगणायुतान् ।। ३९ ।।

वहाँ स्फटिक मणिकी बनी हुई सीढ़ियोंसे सुशोभित बहुत-सी बावड़ियों, निर्मल जलवाली अनेकानेक नदियों और विहगवृन्दसे विभूषित बहुत-से मनोहर वृक्षोंको भी उन्होंने देखा ।। ३९ ।।

तस्य लोकस्य च द्वारं स ददर्श भृगूद्वहः ।
पञ्चयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ।। ४० ।।

भृगुकुलतिलक उत्तंकने नागलोकका बाहरी दरवाजा देखा, जो सौ योजन लंबा और पाँच योजन चौड़ा था ।। ४० ।।

नागलोकमुत्तङ्कस्तु प्रेक्ष्य दीनोऽभवत् तदा ।
निराशश्चाभवत् तत्र कुण्डलाहरणे पुनः ।। ४१ ।।

नागलोककी वह विशालता देखकर उत्तंक मुनि उस समय दीन—हतोत्साह हो गये। अब उन्हें फिर कुण्डल पानेकी आशा नहीं रही ।। ४१ ।।

तत्र प्रोवाच तुरगस्तं कृष्णश्वेतवालधिः ।
ताम्रास्यनेत्रः कौरव्य प्रज्वलन्निव तेजसा ।। ४२ ।।

इसी समय उनके पास एक घोड़ा आया, जिसकी पूँछके बाल काले और सफेद थे। उसके नेत्र और मुँह लाल रंगके थे। कुरुनन्दन! वह अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था ।। ४२ ।।

धमस्वापानमेतन्मे ततस्त्वं विप्र लप्स्यसे ।
ऐरावतसुतेनेह तवानीते हि कुण्डले ।। ४३ ।।

उसने उत्तंकसे कहा—विप्रवर! तुम मेरे इस अपान मार्गमें फूँक मारो। ऐसा करनेसे ऐरावतके पुत्रने जो तुम्हारे दोनों कुण्डल लाये हैं, वे तुम्हें मिल जायँगे ।। ४३ ।।

मा जुगुप्सां कृथाः पुत्र त्वमत्रार्थे कथंचन ।

त्वयैतद्धि समाचीर्णं गौतमस्याश्रमे तदा ।। ४४ ।।

'बेटा! इस कार्यमें तुम किसी तरह घृणा न करो; क्योंकि गौतमके आश्रममें रहते समय तुमने अनेक बार ऐसा किया है' ।। ४४ ।।

उत्तङ्क उवाच

कथं भवन्तं जानीयामुपाध्यायाश्रमं प्रति ।
यन्मया चीर्णपूर्वं हि श्रोतुमिच्छामि तद्ध्यहम् ।। ४५ ।।

उत्तंकने पूछा—गुरुदेवके आश्रमपर मैंने कभी आपका दर्शन किया है, इसका ज्ञान मुझे कैसे हो? और आपके कथनानुसार वहाँ रहते समय पहले जो कार्य मैं अनेक बार कर चुका हूँ, वह क्या है? यह मैं सुनना चाहता हूँ ।। ४५ ।।

अश्व उवाच

गुरोर्गुरुं मां जानीहि ज्वलनं जातवेदसम् ।
त्वया ह्यहं सदा विप्र गुरोरर्थेऽभिपूजितः ।। ४६ ।।
विधिवत् सततं विप्र शुचिना भृगुनन्दन ।
तस्माच्छ्रेयो विधास्यामि तवैवं कुरु मा चिरम् ।। ४७ ।।

घोड़ेने कहा—ब्रह्मन्! मैं तुम्हारे गुरुका भी गुरु जातवेदा अग्नि हूँ, यह तुम अच्छी तरह जान लो। भृगुनन्दन! तुमने अपने गुरुके लिये सदा पवित्र रहकर विधिपूर्वक मेरी पूजा की है। इसलिये मैं तुम्हारा कल्याण करूँगा। अब तुम मेरे बताये अनुसार कार्य करो, विलम्ब न करो ।। ४६-४७ ।।

इत्युक्तस्तु तथाकार्षीदुत्तङ्कश्चित्रभानुना ।
घृतार्चिः प्रीतिमांश्चापि प्रजज्वाल दिधक्षया ।। ४८ ।।

अग्निदेवके ऐसा कहनेपर उत्तंकने उनकी आज्ञाका पालन किया। तब घृतमयी अर्चिवाले अग्निदेव प्रसन्न होकर नागलोकको जला डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हो उठे ।। ४८ ।।

ततोऽस्य रोमकूपेभ्यो धम्यतस्तत्र भारत ।
घनः प्रादुरभूद् धूमो नागलोकभयावहः ।। ४९ ।।

भारत! जिस समय उत्तंकने फूँक मारना आरम्भ किया, उसी समय उस अश्वरूपधारी अग्निके रोम-रोमसे घनीभूत धूम उठने लगा; जो नागलोकको भयभीत करनेवाला था ।। ४९ ।।

तेन धूमेन महता वर्धमानेन भारत ।
नागलोके महाराज न प्राज्ञायत किंचन ।। ५० ।।

महाराज भरतनन्दन! बढ़ते हुए उस महान् धूमसे आच्छन्न हुए नागलोकमें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ।। ५० ।।

हाहाकृतमभूत् सर्वमैरावतनिवेशनम् ।
वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ।। ५१ ।।

न प्राकाशन्त वेश्मानि धूमरुद्धानि भारत ।
नीहारसंवृतानीव वनानि गिरयस्तथा ।। ५२ ।।

जनमेजय! ऐरावतके सारे घरमें हाहाकार मच गया। भारत! वासुकि आदि नागोंके घर धूमसे आच्छादित हो गये। उनमें अँधेरा छा गया। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो कुहासासे ढके हुए वन और पर्वत हों ।। ५१-५२ ।।

ते धूमरक्तनयना वह्नितेजोऽभितापिताः ।
आजग्मुर्निश्चयं ज्ञातुं भार्गवस्य महात्मनः ।। ५३ ।।

धुआँ लगनेसे नागोंकी आँखें लाल हो गयी थीं। वे आगकी आँचसे तप रहे थे। महात्मा भार्गव (उत्तंक)-का क्या निश्चय है, यह जाननेके लिये सभी एकत्र होकर उनके पास आये ।। ५३ ।।

श्रुत्वा च निश्चयं तस्य महर्षेरतितेजसः ।
सम्भ्रान्तनयनाः सर्वे पूजां चक्रुर्यथाविधि ।। ५४ ।।

उस समय उन अत्यन्त तेजस्वी महर्षिका निश्चय सुनकर सबकी आँखें भयसे कातर हो गयीं तथा सबने उनका विधिवत् पूजन किया ।। ५४ ।।

सर्वे प्राञ्जलयो नागा वृद्धबालपुरोगमाः ।
शिरोभिः प्रणिपत्योचुः प्रसीद भगवन्निति ।। ५५ ।।

अन्तमें सभी नाग बूढ़े और बालकोंको आगे करके हाथ जोड़, मस्तक झुका प्रणाम करके बोले—‘भगवन्! हमपर प्रसन्न हो जाइये’ ।। ५५ ।।

प्रसाद्य ब्राह्मणं ते तु पाद्यमर्घ्यं निवेद्य च ।
प्रायच्छन् कुण्डले दिव्ये पन्नगाः परमार्चिते ।। ५६ ।।

इस प्रकार ब्राह्मण देवताको प्रसन्न करके नागोंने उन्हें पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया और वे दोनों परम पूजित दिव्य कुण्डल भी वापस कर दिये ।। ५६ ।।

महारानी मदयन्तीका उत्तङ्कको कुण्डल-दान

उत्तङ्कका गुरुपत्नीको कुण्डल-अर्पण

ततः स पूजितो नागैस्तदोत्तङ्कः प्रतापवान् ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा जगाम गुरुसद्म तत् ।। ५७ ।।

तदनन्तर नागोंसे सम्मानित होकर प्रतापी उत्तंक मुनि अग्निदेवकी प्रदक्षिणा करके गुरुके आश्रमकी ओर चल दिये ।। ५७ ।।

स गत्वा त्वरितो राजन् गौतमस्य निवेशनम् ।
प्रायच्छत् कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्यास्तदानघ ।। ५८ ।।

निष्पाप नरेश! वहाँ गौतमके घरमें शीघ्रतापूर्वक पहुँचकर उन्होंने गुरुपत्नीको वे दोनों दिव्य कुण्डल दे दिये ।। ५८ ।।

वासुकिप्रमुखानां च नागानां जनमेजय ।
सर्वं शशंस गुरवे यथावद् द्विजसत्तमः ।। ५९ ।।

जनमेजय! वासुकि आदि नागोंके यहाँ जो घटना घटी थी, उसका सारा समाचार द्विजश्रेष्ठ उत्तंकने अपने गुरु महर्षि गौतमसे ठीक-ठीक कह सुनाया ।। ५९ ।।

एवं महात्मना तेन त्रीँल्लोँकान् जनमेजय ।
परिक्रम्याहृते दिव्ये ततस्ते मणिकुण्डले ।। ६० ।।

जनमेजय! इस प्रकार महात्मा उत्तंकने तीनों लोकोंमें घूमकर वे मणिमय दिव्य कुण्डल प्राप्त किये थे ।। ६० ।।

एवंप्रभावः स मुनिरुत्तङ्को भरतर्षभ ।
परेण तपसा युक्तो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।। ६१ ।।

भरतश्रेष्ठ! उत्तंक मुनि, जिनके विषयमें तुम मुझसे पूछ रहे थे, ऐसे ही प्रभावशाली और महान् तपस्वी थे ।। ६१ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तंकका उपाख्यानविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५८ ।।

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका द्वारकामें जाकर रैवतक पर्वतपर महोत्सवमें सम्मिलित होना और सबसे मिलना

जनमेजय उवाच

उत्तङ्कस्य वरं दत्त्वा गोविन्दो द्विजसत्तम ।
अत ऊर्ध्वं महाबाहुः किं चकार महायशाः ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! महायशस्वी महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने उत्तंकको वरदान देनेके पश्चात् क्या किया? ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

उत्तङ्काय वरं दत्त्वा प्रायात् सात्यकिना सह ।
द्वारकामेव गोविन्दः शीघ्रवेगैर्महाहयैः ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—उत्तंकको वर देकर भगवान् श्रीकृष्ण महान् वेगशाली शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा सात्यकि (और सुभद्रा)-के साथ पुनः द्वारकाकी ओर ही चल दिये ।। २ ।।

सरांसि सरितश्चैव वनानि च गिरींस्तथा ।
अतिक्रम्याससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ।। ३ ।।
वर्तमाने महाराज महे रैवतकस्य च ।
उपायात् पुण्डरीकाक्षो युयुधानानुगस्तदा ।। ४ ।।

मार्गमें अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों और पर्वतोंको लाँघकर वे परम रमणीय द्वारका नगरीमें जा पहुँचे। महाराज! उस समय वहाँ रैवतक पर्वतपर कोई बड़ा भारी उत्सव मनाया जा रहा था। सात्यकिको साथ लिये कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय उस महोत्सवमें पधारे ।। ३-४ ।।

अलंकृतस्तु स गिरिर्नानारूपैर्विचित्रितैः ।
बभौ रत्नमयैः कोशैः संवृतः पुरुषर्षभ ।। ५ ।।

पुरुषप्रवर! वह पर्वत नाना प्रकारके विचित्र रत्नमय ढेरोंद्वारा सजाया गया था, उस समय उसकी अद्भुत शोभा हो रही थी ।। ५ ।।

काञ्चनस्रग्भिरग्र्याभिः सुमनोभिस्तथैव च ।
वासोभिश्च महाशैलः कल्पवृक्षैस्तथैव च ।। ६ ।।

सोनेकी सुन्दर मालाओं, भाँति-भाँतिके पुष्पों, वस्त्रों और कल्पवृक्षोंसे घिरे हुए उस महान् शैलकी अपूर्व शोभा हो रही थी ।। ६ ।।

दीपवृक्षैश्च सौवर्णैरभीक्ष्णमुपशोभितः ।
गुहानिर्झरदेशेषु दिवाभूतो बभूव ह ।। ७ ।।

वृक्षके आकारमें सजाये हुए सोनेके दीप उस स्थानकी शोभाको और भी उद्दीप्त कर रहे थे। वहाँकी गुफाओं और झरनोंके स्थानोंमें दिनके समान प्रकाश हो रहा था ।। ७ ।।

पताकाभिर्विचित्राभिः सघण्टाभिः समन्ततः ।
पुम्भिः स्त्रीभिश्च संघुष्टः प्रगीत इव चाभवत् ।। ८ ।।

चारों ओर विचित्र पताकाएँ फहरा रही थीं, उनमें बँधी हुई घण्टियाँ बज रही थीं और स्त्रियों तथा पुरुषोंके सुमधुर शब्द वहाँ व्याप्त हो रहे थे। इससे वह पर्वत संगीतमय-सा प्रतीत हो रहा था ।। ८ ।।

अतीव प्रेक्षणीयोऽभून्मेरुर्मुनिगणैरिव ।
मत्तानां हृष्टरूपाणां स्त्रीणां पुंसां च भारत ।। ९ ।।
गायतां पर्वतेन्द्रस्य दिवस्पृगिव निःस्वनः ।

जैसे मुनिगणोंसे मेरुकी शोभा होती है, उसी प्रकार द्वारकावासियोंके समागमसे वह पर्वत अत्यन्त दर्शनीय हो गया था। भरतनन्दन! उस पर्वतराजके शिखरपर हर्षोन्मत्त होकर गाते हुए स्त्री-पुरुषोंका सुमधुर शब्द मानो स्वर्गलोकतक व्याप्त हो रहा था ।। ९½ ।।

प्रमत्तमत्तसम्मत्तक्ष्वेडितोत्क्रुष्टसंकुलः ।। १० ।।
तथा किलकिलाशब्दैर्भूधरोऽभून्मनोहरः ।

कुछ लोग क्रीडा आदिमें आसक्त होकर दूसरे कार्योंकी ओर ध्यान नहीं देते थे, कितने ही हर्षसे मतवाले हो रहे थे, कुछ लोग कूदते-फाँदते, उच्च स्वरसे कोलाहल करते और किलकारियाँ भरते थे। इन सभी शब्दोंसे गूँजता हुआ पर्वत परम मनोहर जान पड़ता था ।। १०½ ।।

विपणापणवान् रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान् ।। ११ ।।
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदङ्गवान् ।
सुरामैरेयमिश्रेण भक्ष्यभोज्येन चैव ह ।। १२ ।।
दीनान्धकृपणादिभ्यो दीयमानेन चानिशम् ।
बभौ परमकल्याणो महस्तस्य महागिरेः ।। १३ ।।

उस महान् पर्वतपर होनेवाला वह महोत्सव परम मंगलमय प्रतीत होता था। वहाँ दूकानें और बाजार लगी थीं। भक्ष्य-भोज्य पदार्थ यथेष्ट रूपसे प्राप्त होते थे। सब ओर घूमने-फिरनेकी सुविधा थी। वस्त्रों और मालाओंके ढेर लगे थे। वीणा, वेणु और मृदंग बज रहे थे। इन सबके कारण वहाँकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। वहाँ दीनों, अन्धों और अनाथोंके लिये निरन्तर सुरा-मैरेयमिश्रित भक्ष्य-भोज्य पदार्थ दिये जाते थे ।। ११—१३ ।।

पुण्यावसथवान् वीर पुण्यकृद्भिर्निषेवितः ।
विहारो वृष्णिवीराणां महे रैवतकस्य ह ।। १४ ।।

स नगो वेश्मसंकीर्णो देवलोक इवाबभौ ।

वीरवर! उस पर्वतपर प्रण्यानुष्ठानके लिये बहुत-से गृह और आश्रम बने थे, जिनमें पुण्यात्मा पुरुष निवास करते थे। रैवतक पर्वतके उस महोत्सवमें वृष्णिवंशी वीरोंका विहार-स्थल बना हुआ था। वह गिरिप्रदेश बहुसंख्यक गृहोंसे व्याप्त होनेके कारण देवलोकके समान शोभा पाता था ।। १४½ ।।

तदा च कृष्णसांनिध्यमासाद्य भरतर्षभ ।। १५ ।।

(स्तुवन्त्यन्तर्हिता देवा गन्धर्वाश्च सहर्षिभिः ।

भरतश्रेष्ठ! उस समय देवता, गन्धर्व और ऋषि अदृश्यरूपसे श्रीकृष्णके निकट आकर उनकी स्तुति करने लगे ।। १५ ।।

देवगन्धर्वा ऊचुः

साधकः सर्वधर्माणामसुराणां विनाशकः ।
त्वं स्रष्टा सृज्यमाधारं कारणं धर्मवेदवित् ।।
त्वया यत् क्रियते देव न जानीमोऽत्र मायया ।
केवलं त्वाभिजानीमः शरणं परमेश्वरम् ।।
ब्रह्मादीनां च गोविन्द सांनिध्यं शरणं नमः ।।

देवता और गन्धर्व बोले—भगवन्! आप समस्त धर्मोंके साधक और असुरोंके विनाशक हैं। आप ही स्रष्टा, आप ही सृज्य जगत् और आप ही उसके आधार हैं। आप ही सबके कारण तथा धर्म और वेदके ज्ञाता हैं। देव! आप अपनी मायासे जो कुछ करते हैं, हमलोग उसे नहीं जान पाते हैं। हम केवल आपको जानते हैं। आप ही सबके शरणदाता और परमेश्वर हैं। गोविन्द! आप ब्रह्मा आदिको भी सामीप्य और शरण प्रदान करनेवाले हैं। आपको नमस्कार है ।।

वैशम्पायन उवाच

इति स्तुतेऽमानुषैश्च पूजिते देवकीसुते ।)
शक्रसद्मप्रतीकाशो बभूव स हि शैलराट् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार मानवेतर प्राणियों—देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा जब देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी स्तुति और पूजा की जा रही थी, उस समय वह पर्वतराज रैवतक इन्द्रभवनके समान जान पड़ता था ।। १५½ ।।

ततः सम्पूज्यमानः स विवेश भवनं शुभम् ।। १६ ।।
गोविन्दः सात्यकिश्चैव जगाम भवनं स्वकम् ।

तदनन्तर सबसे सम्मानित हो भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुन्दर भवनमें प्रवेश किया और सात्यकि भी अपने घरमें गये ।। १६½ ।।

विवेश च प्रहृष्टात्मा चिरकालप्रवासतः ।। १७ ।।

कृत्वा नसुकरं कर्म दानवेष्विव वासवः ।

जैसे इन्द्र दानवोंपर महान् पराक्रम प्रकट करके आये हों, उसी प्रकार दुष्कर कर्म करके दीर्घकालके प्रवाससे प्रसन्नचित्त होकर लौटे हुए भगवान् श्रीकृष्णने अपने भवनमें प्रवेश किया ।। १७½ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिता-माता आदिको महाभारतका वृत्तान्त सुना रहे हैं

उपायान्तं तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा ।। १८ ।।
अभ्यगच्छन् महात्मानं देवा इव शतक्रतुम् ।

जैसे देवता देवराज इन्द्रकी अगवानी करते हैं, उसी प्रकार भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके यादवोंने अपने निकट आते हुए महात्मा श्रीकृष्णका आगे बढ़कर स्वागत किया ।। १८½ ।।

स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा ।
अभ्यवादयत प्रीतः पितरं मातरं तदा ।। १९ ।।

मेधावी श्रीकृष्णने उन सबका आदर करके उनका कुशल-समाचार पूछा और प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया ।। १९ ।।

ताभ्यां स सम्परिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः ।
उपोपविष्टैः सर्वैस्तैर्वृष्णिभिः परिवारितः ।। २० ।।

उन दोनोंने उन महाबाहु श्रीकृष्णको अपनी छातीसे लगा लिया और मीठे वचनोंद्वारा उन्हें सान्त्वना दी। इसके बाद सभी वृष्णिवंशी उनको घेरकर आस-पास बैठ गये ।। २१ ।।

स विश्रान्तो महातेजाः कृतपादावनेजनः ।
कथयामास तत्सर्वं पृष्टः पित्रा महाहवम् ।। २१ ।।

महातेजस्वी श्रीकृष्ण जब हाथ-पैर धोकर विश्राम कर चुके, तब पिताके पूछनेपर उन्होंने उस महायुद्धकी सारी घटना कह सुनायी ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णस्य द्वारकाप्रवेशे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।। ५९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णका द्वारकाप्रवेशविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ५९ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ ½ श्लोक मिलाकर कुल २४ ½ श्लोक हैं)

षष्टितमोऽध्यायः

वसुदेवजीके पूछनेपर श्रीकृष्णका उन्हें महाभारत-युद्धका वृत्तान्त संक्षेपसे सुनाना

वसुदेव उवाच

श्रुतवानस्मि वार्ष्णेय संग्रामं परमाद्‌भुतम् ।
नराणां वदतां तत्र कथं वा तेषु नित्यशः ।। १ ।।

वसुदेवजीने पूछा—वृष्णिनन्दन! मैं प्रतिदिन बातचीतके प्रसंगमें लोगोंके मुँहसे सुनता आ रहा हूँ कि महाभारत-युद्ध बड़ा अद्‌भुत हुआ था। इसलिये पूछता हूँ कि कौरवों और पाण्डवोंमें किस तरह युद्ध हुआ? ।। १ ।।

त्वं तु प्रत्यक्षदर्शी च रूपज्ञश्च महाभुज ।
तस्मात् प्रब्रूहि संग्रामं याथातथ्येन मेऽनघ ।। २ ।।

महाबाहो! तुम तो उस युद्धके प्रत्यक्षदर्शी हो और उसके स्वरूपको भी भलीभाँति जानते होः अतः अनघ! मुझसे उस युद्धका यथार्थ वर्णन करो ।। २ ।।

यथा तदभवद् युद्धं पाण्डवानां महात्मनाम् ।
भीष्मकर्णकृपद्रोणशल्यादिभिरनुत्तमम् ।। ३ ।।

महात्मा पाण्डवोंका भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य और शल्य आदिके साथ जो परम उत्तम युद्ध हुआ था, वह किस तरह हुआ? ।। ३ ।।

अन्येषां क्षत्रियाणां च कृतास्त्राणामनेकशः ।
नानावेषाकृतिमतां नानादेशनिवासिनाम् ।। ४ ।।

दूसरे-दूसरे देशोंमें निवास करनेवाले, भाँति-भाँतिकी वेशभूषा और आकृतिवाले जो अस्त्र-विद्यामें निपुण बहुसंख्यक क्षत्रिय वीर थे, उन्होंने भी किस प्रकार युद्ध किया था? ।। ४ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः पुण्डरीकाक्षः पित्रा मातुस्तदन्तिके ।
शशंस कुरुवीराणां संग्रामे निधनं यथा ।। ५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—माताके निकट पिताके इस प्रकार पूछनेपर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण कौरव वीरोंके संग्राममें मारे जानेका वह प्रसंग यथावत् रूपसे सुनाने लगे ।। ५ ।।

वासुदेव उवाच

अत्यद्‌भुतानि कर्माणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।

बहुलत्वान्न संख्यातुं शक्यान्यब्दशतैरपि ।। ६ ।।

श्रीकृष्णने कहा—पिताजी! महाभारत-युद्धमें काममें आनेवाले मनस्वी क्षत्रिय वीरोंके कर्म बड़े अद्‌भुत हैं। वे इतने अधिक हैं कि यदि विस्तारके साथ उनका वर्णन किया जाय तो सौ वर्षोंमें भी उनकी समाप्ति नहीं हो सकती ।। ६ ।।

प्राधान्यतस्तु गदतः समासेनैव मे शृणु ।
कर्माणि पृथिवीशानां यथावदमरद्युते ।। ७ ।।

अतः देवताओंके समान तेजस्वी तात! मैं मुख्य-मुख्य घटनाओंको ही संक्षेपसे सुना रहा हूँ, आप उन भूपतियोंके कर्म यथावत् रूपसे सुनिये ।। ७ ।।

भीष्मः सेनापतिरभूदेकादशचमूपतिः ।
कौरव्यः कौरवेन्द्राणां देवानामिव वासवः ।। ८ ।।

जैसे इन्द्र देवताओंकी सेनाके स्वामी हैं, उसी प्रकार कुरुकुलतिलक भीष्म भी श्रेष्ठ कौरववीरोंके सेनापति बनाये गये थे। वे ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके संरक्षक थे ।। ८ ।।

शिखण्डी पाण्डुपुत्राणां नेता सप्तचमूपतिः ।
बभूव रक्षितो धीमान् श्रीमता सव्यसाचिना ।। ९ ।।

पाण्डवोंके सेनानायक शिखण्डी थे, जो सात अक्षौहिणी सेनाओंका संचालन करते थे। बुद्धिमान् शिखण्डी श्रीमान् सव्यसाची अर्जुनके द्वारा सुरक्षित थे ।। ९ ।।

तेषां तदभवद् युद्धं दशाहानि महात्मनाम् ।
कुरूणां पाण्डवानां च सुमहल्लोमहर्षणम् ।। १० ।।

उन महामनस्वी कौरवों और पाण्डवोंमें दस दिनोंतक महान् रोमांचकारी युद्ध हुआ ।। १० ।।

ततः शिखण्डी गाङ्गेयं युध्यमानं महाहवे ।
जघान बहुभिर्बाणैः सह गाण्डीवधन्वना ।। ११ ।।

फिर दसवें दिन शिखण्डीने महासमरमें जूझते हुए गंगानन्दन भीष्मको गाण्डीवधारी अर्जुनकी सहायतासे बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बहुत घायल कर दिया ।। ११ ।।

अकरोत् स ततः कालं शरतल्पगतो मुनिः ।
अयनं दक्षिणं हित्वा सम्प्राप्ते चोत्तरायणे ।। १२ ।।

तत्पश्चात् भीष्मजी बाणशय्यापर पड़ गये। जबतक दक्षिणायन रहा है, वे मुनिव्रतका पालन करते हुए शरशय्यापर सोते रहे हैं। दक्षिणायन समाप्त होकर उत्तरायणके आनेपर ही उन्होंने मृत्यु स्वीकार की है ।। १२ ।।

ततः सेनापतिरभूद् द्रोणोऽस्त्रविदुषां वरः ।
प्रवीरः कौरवेन्द्रस्य काव्यो दैत्यपतेरिव ।। १३ ।।

तदनन्तर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण कौरवपक्षके सेनापति बनाये गये। वे कौरवराजकी सेनाके प्रमुख वीर थे, मानो दैत्यराज बलिकी सेनाके प्रधान संरक्षक

शुक्राचार्य हों ।। १३ ।।

अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्नवभिर्द्विजसत्तमः ।
संवृतः समरश्लाघी गुप्तः कृपवृषादिभिः ।। १४ ।।

उस समय मरनेसे बची हुई नौ अक्षौहिणी सेना उन्हें सब ओरसे घेरकर खड़ी थी। वे स्वयं तो युद्धका हौसला रखते ही थे, कृपाचार्य और कर्ण भी सदा उनकी रक्षा करते रहते थे ।। १४ ।।

धृष्टद्युम्नस्त्वभून्नेता पाण्डवानां महास्त्रवित् ।
गुप्तो भीमेन मेधावी मित्रेण वरुणो यथा ।। १५ ।।

इधर महान् अस्त्रवेत्ता धृष्टद्युम्न पाण्डवसेनाके अधिनायक हुए। जैसे मित्र वरुणकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार भीमसेन मेधावी धृष्टद्युम्नकी रक्षा करने लगे ।। १५ ।।

स च सेनापरिवृतो द्रोणप्रेप्सुर्महामनाः ।
पितुर्निकारान् संस्मृत्य रणे कर्माकरोन्महत् ।। १६ ।।

पाण्डवसेनासे घिरे हुए महामनस्वी वीर धृष्टद्युम्नने द्रोणके द्वारा अपने पिताके अपमानका स्मरण करके उन्हें मार डालनेके लिये युद्धमें बड़ा भारी पराक्रम दिखाया ।। १६ ।।

तस्मिंस्ते पृथिवीपाला द्रोणपार्षतसंगरे ।
नानादिगागता वीराः प्रायशो निधनं गताः ।। १७ ।।

धृष्टद्युम्न और द्रोणके उस भीषण संग्राममें नाना दिशाओंसे आये हुए भूपाल अधिक संख्यामें मारे गये ।। १७ ।।

दिनानि पञ्च तद् युद्धमभूत् परमदारुणम् ।
ततो द्रोणः परिश्रान्तो धृष्टद्युम्नवशं गतः ।। १८ ।।

उन दोनोंका वह परम दारुण युद्ध पाँच दिनोंतक चलता रहा। अन्तमें द्रोणाचार्य बहुत थक गये और धृष्टद्युम्नके वशमें पड़कर मारे गये ।। १८ ।।

ततः सेनापतिरभूत् कर्णो दौर्योधने बले ।
अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्वृतः पञ्चभिराहवे ।। १९ ।।

तत्पश्चात् दुर्योधनकी सेनामें कर्णको सेनापति बनाया गया, जो मरनेसे बची हुए पाँच अक्षौहिणी सेनाओंसे घिरकर युद्धके मैदानमें खड़ा था ।। १९ ।।

तिस्रस्तु पाण्डुपुत्राणां चम्वो बीभत्सुपालिताः ।
हतप्रवीरभूयिष्ठा बभूवुः समवस्थिताः ।। २० ।।

उस समय पाण्डवोंके पास तीन अक्षौहिणी सेनाएँ शेष थीं, जिनकी रक्षा अर्जुन कर रहे थे। उनमें बहुत-से प्रमुख वीर मारे गये थे; फिर भी वे युद्धके लिये डटी हुई थीं ।। २० ।।

ततः पार्थं समासाद्य पतङ्ग इव पावकम् ।
पञ्चत्वमगमत् सौतिर्द्वितीयेऽहनि दारुणः ।। २१ ।।

कर्ण दो दिनतक युद्ध करता रहा। वह बड़े क्रूर स्वभावका था। जैसे पतंग जलती आगमें कूदकर जल मरता है, उसी प्रकार वह दूसरे दिनके युद्धमें अर्जुनसे भिड़कर मारा गया ।। २१ ।।

हते कर्णे तु कौरव्या निरुत्साहा हतौजसः ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्मद्रेशं पर्यवारयन् ।। २२ ।।

कर्णके मारे जानेपर कौरव हतोत्साह होकर अपनी शक्ति खो बैठे और मद्रराज शल्यको सेनापति बनाकर उन्हें तीन अक्षौहिणी सेनाओंसे सुरक्षित रखकर उन्होंने युद्ध आरम्भ किया ।। २२ ।।

हतवाहनभूयिष्ठाः पाण्डवाऽपि युधिष्ठिरम् ।
अक्षौहिण्या निरुत्साहाः शिष्टया पर्यवारयन् ।। २३ ।।

पाण्डवोंके भी बहुत-से वाहन नष्ट हो गये थे। उनमें भी अब युद्धविषयक उत्साह नहीं रह गया था तो भी वे शेष बची हुई एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे हुए युधिष्ठिरको आगे करके शल्यका सामना करनेके लिये बढ़े ।। २३ ।।

अवधीन्मद्रराजानं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
तस्मिंस्तदार्धदिवसे कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।। २४ ।।

कुरुराज युधिष्ठिरने अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके दोपहर होते-होते मद्रराज शल्यको मार गिराया ।। २४ ।।

हते शल्ये तु शकुनिं सहदेवो महामनाः ।
आहर्तारं कलेस्तस्य जघानामितविक्रमः ।। २५ ।।

शल्यके मारे जानेपर अमित पराक्रमी महामना सहदेवने कलहकी नींव डालनेवाले शकुनिको मार दिया ।। २५ ।।

निहते शकुनौ राजा धार्तराष्ट्रः सुदुर्मनाः ।
अपाक्रामद् गदापाणिर्हतभूयिष्ठसैनिकः ।। २६ ।।

शकुनिकी मृत्यु हो जानेपर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। उसके बहुत-से सैनिक युद्धमें मार डाले गये थे। इसलिये वह अकेला ही हाथमें गदा लेकर रणभूमिसे भाग निकला ।। २६ ।।

तमन्वधावत् संक्रुद्धो भीमसेनः प्रतापवान् ।
ह्रदे द्वैपायने चापि सलिलस्थं ददर्श तम् ।। २७ ।।

इधरसे अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने उसका पीछा किया और द्वैपायन नामक सरोवरमें पानीके भीतर छिपे हुए दुर्योधनका पता लगा लिया ।। २७ ।।

हतशिष्टेन सैन्येन समन्तात् परिवार्य तम् ।
अथोपविविशुर्हृष्टा ह्रदस्थं पञ्च पाण्डवाः ।। २८ ।।

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए पाँचों पाण्डव मरनेसे बची हुई सेनाके द्वारा उसपर चारों ओरसे घेरा डालकर तालाबमें बैठे हुए दुर्योधनके पास जा पहुँचे ।। २८ ।।

विगाह्य सलिलं त्वाशु वाग्बाणैर्भृशविक्षतः ।
उत्थाय स गदापाणिर्युद्धाय समुपस्थितः ।। २९ ।।

उस समय भीमसेनके वाग्बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर दुर्योधन तुरंत पानीसे बाहर निकला और हाथमें गदा ले युद्धके लिये उद्यत हो पाण्डवोंके पास आ गया ।। २९ ।।

ततः स निहतो राजा धार्तराष्ट्रो महारणे ।
भीमसेनेन विक्रम्य पश्यतां पृथिवीक्षिताम् ।। ३० ।।

तत्पश्चात् उस महासमरमें सब राजाओंके देखते-देखते भीमसेनने पराक्रम करके धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधनको मार डाला ।। ३० ।।

ततस्तत् पाण्डवं सैन्यं प्रसुप्तं शिबिरे निशि ।
निहतं द्रोणपुत्रेण पितुर्वधममृष्यता ।। ३१ ।।

इसके बाद रातके समय जब पाण्डवोंकी सेना अपनी छावनीमें निश्चिन्त सो रही थी, उसी समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने अपने पिताके वधको न सह सकनेके कारण आक्रमण किया और सबको मार गिराया ।। ३१ ।।

हतपुत्रा हतबला हतमित्रा मया सह ।
युयुधानसहायेन पञ्च शिष्टास्तु पाण्डवाः ।। ३२ ।।

उस समय पाण्डवोंके पुत्र, मित्र और सैनिक सब मारे गये। केवल मेरे और सात्यकिके साथ पाँचों पाण्डव शेष रह गये हैं ।। ३२ ।।

सहैव कृपभोजाभ्यां द्रौणिर्युद्धादमुच्यत ।
युयुत्सुश्चापि कौरव्यो मुक्तःपाण्डवसंश्रयात् ।। ३३ ।।

कौरवोंके पक्षमें कृपाचार्य और कृतवर्माके साथ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा युद्धसे जीवित बचा है। कुरुवंशी युयुत्सु भी पाण्डवोंका आश्रय लेनेके कारण बच गये हैं ।। ३३ ।।

निहते कौरवेन्द्रे तु सानुबन्धे सुयोधने ।
विदुरः संजयश्चैव धर्मराजमुपस्थितौ ।। ३४ ।।

बन्धु-बान्धवोंसहित कौरवराज दुर्योधनके मारे जानेपर विदुर और संजय धर्मराज युधिष्ठिरके आश्रयमें आ गये हैं ।। ३४ ।।

एवं तदभवद् युद्धमहान्यष्टादश प्रभो ।
यत्र ते पृथिवीपाला निहताः स्वर्गमावसन् ।। ३५ ।।

प्रभो! इस प्रकार अठारह दिनोंतक वह युद्ध हुआ है। उसमें जो राजा मारे गये हैं, वे स्वर्गलोकमें जा बसे हैं ।। ३५ ।।

वैशम्पायन उवाच

शृण्वतां तु महाराज कथां तां लोमहर्षणाम् ।
दुःखशोकपरिक्लेशा वृष्णीनामभवंस्तदा ।। ३६ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज! रोंगटे खड़े कर देनेवाली उस युद्ध-वार्ताको सुनकर वृष्णिवंशी लोग दुःख-शोकसे व्याकुल हो गये ।। ३६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वासुदेववाक्ये षष्टितमोऽध्यायः ।। ६० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णद्वारा युद्धवृत्तान्तका कथनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६० ।।

एकषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका सुभद्राके कहनेसे वसुदेवजीको अभिमन्युवधका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

कथयन्नेव तु तदा वासुदेवः प्रतापवान् ।
महाभारतयुद्धं तत्कथान्ते पितुरग्रतः ।। १ ।।
अभिमन्योर्वधं वीरः सोऽत्यक्रामन्महामतिः ।
अप्रियं वसुदेवस्य मा भूदिति महामतिः ।। २ ।।
मा दौहित्रवधं श्रुत्वा वसुदेवो महात्ययम् ।
दुःखशोकाभिसंतप्तो भवेदिति महामतिः ।। ३ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्रतापी वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जब पिताके सामने महाभारतयुद्धका वृत्तान्त सुना रहे थे, उस समय उन्होंने उस कथाके बीचमें जान-बूझकर अभिमन्युवधका वृत्तान्त छोड़ दिया। परम बुद्धिमान् वीर श्रीकृष्णने सोचा, पिताजी अपने नातीकी मृत्युका महान् अमंगलजनक समाचार सुनकर कहीं दुःख-शोकसे संतप्त न हो उठें। इनका अप्रिय न हो जाय। इसीसे वह प्रसंग नहीं सुनाया ।। १—३ ।।

सुभद्रा तु तमुत्क्रान्तमात्मजस्य वधं रणे ।
आचक्ष्व कृष्ण सौभद्रवधमित्यपतद् भुवि ।। ४ ।।

परन्तु सुभद्राने जब देखा कि मेरे पुत्रके निधनका समाचार इन्होंने नहीं सुनाया, तब उसने याद दिलाते हुए कहा—'भैया! मेरे अभिमन्युके वधकी बात भी तो बता दो।' इतना कहकर वह मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। ४ ।।

तामपश्यन्निपतितां वसुदेवः क्षितौ तदा ।
दृष्ट्वैव च पपातोर्व्यां सोऽपि दुःखेन मूर्च्छितः ।। ५ ।।

वसुदेवजीने बेटी सुभद्राको पृथ्वीपर गिरी हुई देखा। देखते ही वे भी दुःखसे मूर्च्छित हो धरतीपर गिर पड़े ।। ५ ।।

ततः स दौहित्रवधदुःखशोकसमाहतः ।
वसुदेवो महाराज कृष्णं वाक्यमथाब्रवीत् ।। ६ ।।

महाराज! तदनन्तर दौहित्रवधके दुःख-शोकसे आहत हो वसुदेवजीने श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा— ।। ६ ।।

ननु त्वं पुण्डरीकाक्ष सत्यवाग् भुवि विश्रुतः ।। ७ ।।
यद् दौहित्रवधं मेऽद्य न ख्यापयसि शत्रुहन् ।

तद् भागिनेयनिधनं तत्त्वेनाचक्ष्व मे प्रभो ।। ८ ।।

'बेटा कमलनयन! तुम तो इस भूतलपर सत्यवादीके रूपमें प्रसिद्ध हो। शत्रुसूदन! फिर क्या कारण है कि आज तुम मुझे मेरे नातीके मारे जानेका समाचार नहीं बता रहे हो। प्रभो! अपने भानजेके वधका वृत्तान्त तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ ।। ७-८ ।।

सदृशाक्षस्तव कथं शत्रुभिर्निहतो रणे ।
दुर्मरं बत वार्ष्णेय कालेऽप्राप्ते नृभिः सह ।। ९ ।।
यत्र मे हृदयं दुःखाच्छतधा न विदीर्यते ।

'वृष्णिनन्दन! अभिमन्युकी आँखें ठीक तुम्हारे ही समान सुन्दर थीं। हाय! वह रणभूमिमें शत्रुओंद्वारा कैसे मारा गया? जान पड़ता है, समय पूरा होनेके पहले मनुष्यके लिये मरना अत्यन्त कठिन होता है, तभी तो यह दारुण समाचार सुनकर भी दुःखसे मेरे हृदयके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ।। ९½ ।।

किमब्रवीत् त्वां संग्रामे सुभद्रां मातरं प्रति ।। १० ।।
मां चापि पुण्डरीकाक्ष चपलाक्षः प्रियो मम ।
आहवं पृष्ठतः कृत्वा कच्चिन्न निहतः परैः ।। ११ ।।
कच्चिन्मुखं न गोविन्द तेनाजौ विकृतं कृतम् ।

'पुण्डरीकाक्ष! संग्राममें अभिमन्युने तुमको और अपनी माता सुभद्राको क्या संदेश दिया था? चंचल नेत्रोंवाला वह मेरा प्यारा नाती मेरे लिये क्या संदेश देकर मरा था? कहीं वह युद्धमें पीठ दिखाकर तो शत्रुओंके हाथसे नहीं मारा गया? गोविन्द! उसने युद्धमें भयके कारण अपना मुख विकृत तो नहीं कर लिया था ।। १०-११ ।।

स हि कृष्ण महातेजाः श्लाघन्निव ममाग्रतः ।। १२ ।।
बालभावेन विनयमात्मनोऽकथयत् प्रभुः ।

'श्रीकृष्ण! वह महातेजस्वी और प्रभावशाली बालक अपने बालस्वभावके कारण मेरे सामने विनीतभावसे अपनी वीरताकी प्रशंसा किया करता था ।। १२½ ।।

कच्चिन्न निकृतो बालो द्रोणकर्णकृपादिभिः ।। १३ ।।
धरण्यां निहतः शेते तन्ममाचक्ष्व केशव ।
स हि द्रोणं च भीष्मं च कर्णं च बलिनां वरम् ।। १४ ।।
स्पर्धते स्म रणे नित्यं दुहितुः पुत्रको मम ।

'मेरी बेटीका वह लाड़ला अभिमन्यु रणभूमिमें सदा द्रोणाचार्य, भीष्म तथा बलवानोंमें श्रेष्ठ कर्णके साथ भी लोहा लेनेका हौसला रखता था। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि द्रोण, कर्ण और कृपाचार्य आदिने मिलकर उस बालकको कपटपूर्वक मार डाला हो और इस प्रकार धोखेसे मारा जाकर धरतीपर सो रहा हो। केशव! यह सब मुझे बताओ' ।। १३-१४ ½ ।।

एवंविधं बहु तदा विलपन्तं सुदुःखितम् ।। १५ ।।

पितरं दुःखिततरो गोविन्दो वाक्यमब्रवीत् ।

इस प्रकार पिताको अत्यन्त दुःखित होकर बहुत विलाप करते देख श्रीकृष्ण स्वयं भी बहुत दुःखी हो गये और उन्हें सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले— ।। १५½ ।।

न तेन विकृतं वक्त्रं कृतं संग्राममूर्धनि ।। १६ ।।
न पृष्ठतः कृतश्चापि संग्रामस्तेन दुस्तरः ।

'पिताजी! अभिमन्युने संग्राममें आगे रहकर शत्रुओंका सामना किया। उसने कभी भी अपना मुख विकृत नहीं किया। उस दुस्तर युद्धमें उसने कभी पीठ नहीं दिखायी ।। १६½ ।।

निहत्य पृथिवीपालान् सहस्रशतसंघशः ।। १७ ।।
खेदितो द्रोणकर्णाभ्यां दौःशासनिवशं गतः ।

'लाखों राजाओंके समूहोंको मारकर द्रोण और कर्णके साथ युद्ध करते-करते जब वह बहुत थक गया, उस समय दुःशासनके पुत्रके द्वारा मारा गया ।। १७½ ।।

एको ह्येकेन सततं युध्यमाने यदि प्रभो ।। १८ ।।
न स शक्येत संग्रामे निहन्तुमपि वज्रिणा ।

'प्रभो! यदि निरन्तर उसे एक-एक वीरके साथ ही युद्ध करना पड़ता तो रणभूमिमें वज्रधारी इन्द्र भी उसे नहीं मार सकते थे (परन्तु वहाँ तो बात ही दूसरी हो गयी) ।। १८½ ।।

समाहृते च संग्रामात् पार्थे संशप्तकैस्तदा ।। १९ ।।
पर्यवार्यत संक्रुद्धैः स द्रोणादिभिराहवे ।

'अर्जुन संशप्तकोंके साथ युद्ध करते हुए संग्राम-भूमिसे बहुत दूर हट गये थे। इस अवसरसे लाभ उठाकर क्रोधमें भरे हुए द्रोणाचार्य आदि कई वीरोंने मिलकर उस बालकको चारों ओरसे घेर लिया ।। १९½ ।।

ततः शत्रुवधं कृत्वा सुमहान्तं रणे पितः ।। २० ।।
दौहित्रस्तव वार्ष्णेय दौःशासनिवशं गतः ।

'वृष्णिकुल भूषण पिताजी! तो भी शत्रुओंका बड़ा भारी संहार करके आपका वह दौहित्र युद्धमें दुःशासन-कुमारके अधीन हुआ ।। २०½ ।।

नूनं च स गतः स्वर्गं जहि शोकं महामते ।। २१ ।।
न हि व्यसनमासाद्य सीदन्ति कृतबुद्धयः ।

'महामते! अभिमन्यु निश्चय ही स्वर्गलोकमें गया है; अतः आप उसके लिये शोक न कीजिये। पवित्र बुद्धिवाले साधु पुरुष संकटमें पड़नेपर भी इतने खिन्न नहीं होते हैं ।। २१½ ।।

द्रोणकर्णप्रभृतयो येन प्रतिसमासिताः ।। २२ ।।
रणे महेन्द्रप्रतिमाः स कथं नाप्नुयाद् दिवम् ।

'जिसने इन्द्रके समान पराक्रमी द्रोण, कर्ण आदि वीरोंका युद्धमें डटकर सामना किया है, उसे स्वर्गकी प्राप्ति कैसे नहीं होगी? ।। २२½ ।।

स शोकं जहि दुर्धर्ष मा च मन्युवशं गमः ।। २३ ।।
शस्त्रपूतां हि स गतिं गतः परपुरंजयः ।

'दुर्धर्ष वीर पिताजी! इसलिये आप शोक त्याग दीजिये! शोकके वशीभूत न होइये। शत्रुओंके नगरपर विजय पानेवाला वीरवर अभिमन्यु शस्त्राघातसे पवित्र हो उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है ।। २३½ ।।

तस्मिंस्तु निहते वीरे सुभद्रेयं स्वसा मम ।। २४ ।।
दुःखार्ताथो सुतं प्राप्य कुररीव ननाद ह ।
द्रौपदीं च समासाद्य पर्यपृच्छत दुःखिता ।। २५ ।।
आर्ये क्व दारकाः सर्वे द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ।

'उस वीरके मारे जानेपर मेरी यह बहिन सुभद्रा दुःखसे आतुर हो पुत्रके पास जाकर कुररीकी भाँति विलाप करने लगी और द्रौपदीके पास जाकर दुःखमग्न हो पूछने लगी—'आर्ये! सब बच्चे कहाँ हैं? मैं उन सबको देखना चाहती हूँ' ।। २४-२५½ ।।

अस्यास्तु वचनं श्रुत्वा सर्वास्ताः कुरुयोषितः ।। २६ ।।
भुजाभ्यां परिगृह्यैनां चुक्रुशुः परमार्तवत् ।। २७ ।।

'इसकी बात सुनकर कुरुकुलकी सारी स्त्रियाँ इसे दोनों हाथोंसे पकड़कर अत्यन्त आर्त-सी होकर करुण विलाप करने लगीं ।। २६-२७ ।।

उत्तरां चाब्रवीद् भद्रे भर्ता स क्व नु ते गतः ।
क्षिप्रमागमनं मह्यं तस्य त्वं वेदयस्व ह ।। २८ ।।

'सुभद्राने उत्तरासे भी पूछा—'भद्रे! तुम्हारा पति वह अभिमन्यु कहाँ चला गया? तुम शीघ्र उसे मेरे आगमनकी सूचना दो ।। २८ ।।

ननु नामाद्य वैराटि श्रुत्वा मम गिरं सदा ।
भवनान्निष्पतत्याशु कस्मान्नाभ्येति ते पतिः ।। २९ ।।

'विराटकुमारी! जो सदा मेरी आवाज सुनकर शीघ्र घरसे निकल पड़ता था, वही तुम्हारा पति आज मेरे पास क्यों नहीं आता है? ।। २९ ।।

अभिमन्यो कुशलिनो मातुलास्ते महारथाः ।
कुशलं चाब्रुवन् सर्वे त्वां युयुत्सुमिहागतम् ।। ३० ।।

'अभिमन्यो! तुम्हारे सभी महारथी मामा सकुशल हैं और युद्धकी इच्छासे यहाँ आये हुए तुमसे उन सबने तुम्हारा कुशल-समाचार पूछा है ।। ३० ।।

आचक्ष्व मेऽद्य संग्रामं यथापूर्वमरिंदम ।
कस्मादेवं विलपतीं नाद्येह प्रतिभाषसे ।। ३१ ।।

‘शत्रुदमन! पहलेकी भाँति आज भी तुम मुझे युद्धकी बात बताओ। मैं इस प्रकार विलाप करती हूँ तो भी आज यहाँ तुम मुझसे बात क्यों नहीं करते हो?’ ।। ३१ ।।

एवमादि तु वार्ष्णेय्यास्तस्यास्तत्परिदेवितम् ।
श्रुत्वा पृथा सुदुःखार्ता शनैर्वाक्यमथाब्रवीत् ।। ३२ ।।
सुभद्रे वासुदेवेन तथा सात्यकिना रणे ।
पित्रा च लालितो बालः स हतः कालधर्मणा ।। ३३ ।।

‘सुभद्राका इस प्रकार विलाप सुनकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हुई बुआ कुन्तीने शनैः-शनैः उसे समझाते हुए कहा—‘सुभद्रे! वासुदेव, सात्यकि और पिता अर्जुन—तीनों जिसका बहुत लाड़-प्यार करते थे, वह बालक अभिमन्यु कालधर्मसे मारा गया है (उसकी आयु पूरी हो गयी, इसलिये मृत्युके अधीन हुआ है) ।। ३२-३३ ।।

ईदृशो मर्त्यधर्मोऽयं मा शुचो यदुनन्दिनि ।
पुत्रो हि तव दुर्धर्षः सम्प्राप्तः परमां गतिम् ।। ३४ ।।

‘यदुनन्दिनि! मृत्युलोकमें जन्म लेनेवाले मनुष्योंका धर्म ही ऐसा है—उन्हें एक-न-एक दिन मृत्युके वशमें होना ही पड़ता है, इसलिये शोक न करो। तुम्हारा दुर्जय पुत्र परम गतिको प्राप्त हुआ है ।। ३४ ।।

कुले महति जातासि क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
मा शुचश्चपलाक्षं त्वं पद्मपत्रनिभेक्षणे ।। ३५ ।।

“बेटी! कमलदललोचने! तुम महात्मा क्षत्रियोंके महान् कुलमें उत्पन्न हुई हो; अतः तुम अपने चंचल नेत्रोंवाले पुत्रके लिये शोक न करो ।। ३५ ।।

उत्तरां त्वमवेक्षस्व गुर्विणीं मा शुचः शुभे ।
पुत्रमेषा हि तस्याशु जनयिष्यति भाविनी ।। ३६ ।।

“शुभे! तुम्हारी बहू उत्तरा गर्भवती है, तुम उसीकी ओर देखो, शोक न करो। वह भाविनी उत्तरा शीघ्र ही अभिमन्युके पुत्रको जन्म देगी” ।। ३६ ।।

एवमाश्वासयित्वैनां कुन्ती यदुकुलोद्वह ।
विहाय शोकं दुर्धर्षं श्राद्धमस्य ह्यकल्पयत् ।। ३७ ।।

‘यदुकुलभूषण पिताजी! इस प्रकार सुभद्राको समझा-बुझाकर दुस्तर शोकको त्यागकर कुन्तीने उसके श्राद्धकी तैयारी करायी ।। ३७ ।।

समनुज्ञाप्य धर्मज्ञं राजानं भीममेव च ।
यमौ यमोपमौ चैव ददौ दानान्यनेकशः ।। ३८ ।।

‘धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर और भीमसेनको आदेश देकर तथा यमके समान पराक्रमी नकुल-सहदेवको भी आज्ञा देकर कुन्तीदेवीने अभिमन्युके उद्देश्यसे अनेक प्रकारके दान दिलाये ।। ३८ ।।

ततः प्रदाय बह्वीर्गा ब्राह्मणाय यदूद्वह ।

समाहूय तु वार्ष्णेयी वैराटीमब्रवीदिदम् ।। ३९ ।।

'यदुकुलभूषण! तत्पश्चात् ब्राह्मणोंको बहुत-सी गौएँ दान देकर कुन्तीने विराटकुमारी उत्तरासे कहा— ।। ३९ ।।

वैराटि नेह संतापस्त्वया कार्यो ह्यनिन्दिते ।
भर्तारं प्रति सुश्रोणि गर्भस्थं रक्ष वै शिशुम् ।। ४० ।।

'अनिन्द्य गुणोंवाली विराटराजकुमारी! अब तुम्हें यहाँ पतिके लिये संताप नहीं करना चाहिये। सुन्दरि! तुम्हारे गर्भमें जो अभिमन्युका बालक है, उसकी रक्षा करो' ।। ४० ।।

एवमुक्त्वा ततः कुन्ती विरराम महाद्युते ।
तामनुज्ञाप्य चैवेमां सुभद्रां समुपानयम् ।। ४१ ।।

'महाद्युते! ऐसा कहकर कुन्तीदेवी चुप हो गयीं। उन्हींकी आज्ञासे मैं इस सुभद्रा देवीको साथ लाया हूँ ।। ४१ ।।

एवं स निधनं प्राप्तो दौहित्रस्तव मानद ।
संतापं त्यज दुर्धर्ष मा च शोके मनः कृथाः ।। ४२ ।।

'मानद! इस प्रकार आपका दौहित्र अभिमन्यु मृत्युको प्राप्त हुआ है। दुर्धर्ष वीर! आप संताप छोड़ दें और मनको शोकमग्न न करें' ।। ४२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वसुदेवसान्त्वने एकषष्टितमोऽध्यायः ।। ६१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें वसुदेवको सान्त्वनाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६१ ।।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

वसुदेव आदि यादवोंका अभिमन्युके निमित्त श्राद्ध करना तथा व्यासजीका उत्तरा और अर्जुनको समझाकर युधिष्ठिरको अश्वमेधयज्ञ करनेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु पुत्रस्य वचः शूरात्मजस्तदा ।
विहाय शोकं धर्मात्मा ददौ श्राद्धमनुत्तमम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्र श्रीकृष्णकी बात सुनकर शूरपुत्र धर्मात्मा वसुदेवजीने शोक त्याग दिया और अभिमन्युके लिये परम उत्तम श्राद्धविषयक दान दिया ।। १ ।।

तथैव वासुदेवश्च स्वस्रीयस्य महात्मनः ।
दयितस्य पितुर्नित्यमकरोदौर्ध्वदेहिकम् ।। २ ।।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने भी अपने महामनस्वी भानजे अभिमन्युका, जो उनके पिता वसुदेवजीका सदा ही परम प्रिय रहा, श्राद्धकर्म सम्पन्न किया ।। २ ।।

षष्टिं शतसहस्राणि ब्राह्मणानां महौजसाम् ।
विधिवद् भोजयामास भोज्यं सर्वगुणान्वितम् ।। ३ ।।

उन्होंने साठ लाख महातेजस्वी ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक सर्वगुणसम्पन्न उत्तम अन्न भोजन कराया ।। ३ ।।

आच्छाद्य च महाबाहुर्धनतृष्णामपानुदत् ।
ब्राह्मणानां तदा कृष्णस्तदभूल्लोमहर्षणम् ।। ४ ।।

महाबाहु श्रीकृष्णने उस समय ब्राह्मणोंको वस्त्र पहनाकर इतना धन दिया, जिससे उनकी धनविषयक तृष्णा दूर हो गयी। यह एक रोमांचकारी घटना थी ।। ४ ।।

सुवर्णं चैव गाश्चैव शयनाच्छादनानि च ।
दीयमानं तदा विप्रा वर्धतामिति चाब्रुवन् ।। ५ ।।

ब्राह्मणलोग सुवर्ण, गौ, शय्या और वस्त्रका दान पाकर अभ्युदय होनेका आशीर्वाद देने लगे ।। ५ ।।

वासुदेवोऽथ दाशार्हो बलदेवः ससात्यकिः ।
अभिमन्योस्तदा श्राद्धमकुर्वन् सत्यकस्तदा ।। ६ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण, बलदेव, सत्यक और सात्यकिने भी उस समय अभिमन्युका श्राद्ध किया ।। ६ ।।

अतीव दुःखसंतप्ता न शमं चोपलेभिरे ।
तथैव पाण्डवा वीरा नगरे नागसाह्वये ।। ७ ।।
नोपागच्छन्त वै शान्तिमभिमन्युविनाकृताः ।

वे सबके सब अत्यन्त दुःखसे संतप्त थे। उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी। उसी प्रकार हस्तिनापुरमें वीर पाण्डव भी अभिमन्युसे रहित होकर शान्ति नहीं पाते थे ।। ७$\frac{१}{२}$ ।।

सुबहूनि च राजेन्द्र दिवसानि विराटजा ।। ८ ।।
नाभुङ्क्त पतिदुःखार्ता तदभूत् करुणं महत् ।
कुक्षिस्थ एव तस्याथ गर्भो वै सम्प्रलीयत ।। ९ ।।

राजेन्द्र! विराटकुमारी उत्तराने पतिके दुःखसे आतुर हो बहुत दिनोंतक भोजन ही नहीं किया। उसकी वह दशा बड़ी ही करुणाजनक थी। उसके गर्भका बालक उदरहीमें पड़ा-पड़ा क्षीण होने लगा ।। ८-९ ।।

आजगाम ततो व्यासो ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा ।
समागम्याब्रवीद् धीमान् पृथां पृथुललोचनाम् ।। १० ।।
उत्तरां च महातेजाः शोकः संत्यज्यतामयम् ।
भविष्यति महातेजाः पुत्रस्तव यशस्विनि ।। ११ ।।

उसकी इस दशाको दिव्य दृष्टिसे जानकर महान् तेजस्वी बुद्धिमान् महर्षि व्यास वहाँ आये और विशाल नेत्रोंवाली कुन्ती तथा उत्तरासे मिलकर उन्हें समझाते हुए इस प्रकार बोले—‘यशस्विनि उत्तरे! तुम यह शोक त्याग दो। तुम्हारा पुत्र महातेजस्वी होगा ।। १०-११ ।।

प्रभावाद् वासुदेवस्य मम व्याहरणादपि ।
पाण्डवानामयं चान्ते पालयिष्यति मेदिनीम् ।। १२ ।।

'भगवान् श्रीकृष्णके प्रभावसे और मेरे आशीर्वादसे वह पाण्डवोंके बाद सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन करेगा' ।। १२ ।।

धनंजयं च सम्प्रेक्ष्य धर्मराजस्य शृण्वतः ।
व्यासो वाक्यमुवाचेदं हर्षयन्निव भारत ।। १३ ।।

भारत! तत्पश्चात् व्यासजीने धर्मराज युधिष्ठिरको सुनाते हुए अर्जुनकी ओर देखकर उनका हर्ष बढ़ाते हुए-से कहा— ।। १३ ।।

पौत्रस्तव महाभागो जनिष्यति महामनाः ।
पृथ्वीं सागरपर्यन्तां पालयिष्यति धर्मतः ।। १४ ।।
तस्माच्छोकं कुरुश्रेष्ठ जहि त्वमरिकर्शन ।
विचार्यमत्र न हि ते सत्यमेतद् भविष्यति ।। १५ ।।

'कुरुश्रेष्ठ! तुम्हें महान् भाग्यशाली और महामनस्वी पौत्र होनेवाला है, जो समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका धर्मतः पालन करेगा; अतः शत्रुसूदन! तुम शोक त्याग दो। इसमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। मेरा यह कथन सत्य होगा ।। १४-१५ ।।

यच्चापि वृष्णिवीरेण कृष्णेन कुरुनन्दन ।
पुरोक्तं तत् तथा भावि मा तेऽत्रास्तु विचारणा ।। १६ ।।

'कुरुनन्दन! वृष्णिवंशके वीर पुरुष भगवान् श्रीकृष्णने पहले जो कुछ कहा है, वह सब वैसा ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ।। १६ ।।

विबुधानां गतो लोकानक्षयानात्मनिर्जितान् ।
न स शोच्यस्त्वया वीरो न चान्यैः कुरुभिस्तथा ।। १७ ।।

'वीर अभिमन्यु अपने पराक्रमसे उपार्जित किये हुए देवताओंके अक्षय लोकोंमें गया है; अतः उसके लिये तुम्हें या अन्य कुरुवंशियोंको क्षोभ नहीं करना चाहिये' ।। १७ ।।

एवं पितामहेनोक्तो धर्मात्मा स धनंजयः ।
त्यक्त्वा शोकं महाराज हृष्टरूपोऽभवत् तदा ।। १८ ।।

महाराज! अपने पितामह व्यासजीके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर धर्मात्मा अर्जुनने शोक त्यागकर संतोषका आश्रय लिया ।। १८ ।।

पितापि तव धर्मज्ञ गर्भे तस्मिन् महामते ।
अवर्धत यथाकामं शुक्लपक्षे यथा शशी ।। १९ ।।

धर्मज्ञ! महामते! उस समय तुम्हारे पिता परीक्षित् शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति यथेष्ट वृद्धि पाने लगे ।। १९ ।।

ततः संचोदयामास व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
अश्वमेधं प्रति तदा ततः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ।। २० ।।

तदनन्तर व्यासजीने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये आज्ञा दी और स्वयं वहाँसे अदृश्य हो गये ।। २० ।।

धर्मराजोऽपि मेधावी श्रुत्वा व्यासस्य तद् वचः ।
वित्तस्यानयने तात चकार गमने मतिम् ।। २१ ।।

तात! व्यासजीका वचन सुनकर बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने धन लानेके लिये हिमालयकी यात्रा करनेका विचार किया ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वासुदेवसान्त्वने द्विषष्टितमोऽध्यायः ।। ६२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्णकी सान्त्वनाविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६२ ।।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अपने भाइयोंके साथ परामर्श करके सबको साथ ले धन ले आनेके लिये प्रस्थान करना

जनमेजय उवाच

श्रुत्वैतद् वचनं ब्रह्मन् व्यासेनोक्तं महात्मना ।
अश्वमेधं प्रति तदा किं भूयः प्रचकार ह ।। १ ।।
रत्नं च यन्मरुत्तेन निहितं वसुधातले ।
तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ।। २ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! महात्मा व्यासका कहा हुआ यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध यज्ञके सम्बन्धमें फिर क्या किया? राजा मरुत्तने जो रत्न पृथ्वीतलपर रख छोड़ा था, उसे उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया? द्विजश्रेष्ठ! यह सब मुझे बताइये ।। १-२ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन् सर्वान् समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ।। ३ ।।
अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ यमावपि ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! व्यासजीकी बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—इन सभी भाइयोंको बुलवाकर यह समयोचित वचन कहा— ।। ३½ ।।

श्रुतं वो वचनं वीराः सौहृदाद् यन्महात्मना ।। ४ ।।
कुरूणां हितकामेन प्रोक्तं कृष्णेन धीमता ।

‘वीर बन्धुओ! कौरवोंके हितकी कामना रखनेवाले बुद्धिमान् महात्मा श्रीकृष्णने सौहार्दवश जो बात कही थी, वह सब तो तुमने सुनी ही थी ।। ४½ ।।

तपोवृद्धेन महता सुहृदां भूतिमिच्छता ।। ५ ।।
गुरुणा धर्मशीलेन व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
भीष्मेण च महाप्राज्ञा गोविन्देन च धीमता ।। ६ ।।
संस्मृत्य तदहं सम्यक् कर्तुमिच्छामि पाण्डवाः ।
आयत्यां च तदात्वे च सर्वेषां तद्धि नो हितम् ।। ७ ।।

‘सुहृदोंकी भलाई चाहनेवाले महान् तपोवृद्ध महात्मा धर्मशील गुरु व्यासने, अद्भुत पराक्रमी भीष्मने तथा बुद्धिमान् गोविन्दने समय-समयपर जो सलाह दी है, उसे याद करके

मैं उनके आदेशका भलीभाँति पालन करना चाहता हूँ। महाप्राज्ञ पाण्डवो! उन महात्माओंका यह वचन भविष्य और वर्तमानमें भी हम सबके लिये हितकारक है ।। ५—७ ।।

अनुबन्धे च कल्याणं यद् वचो ब्रह्मवादिनः ।
इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः ।। ८ ।।
तच्चाचष्ट तदा व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः ।

'ब्रह्मवादी महात्मा व्यासजीका वचन परिणाममें हमारा कल्याण करनेवाला है। कौरवो! इस समय इस सारी पृथ्वीपर रत्न एवं धनका नाश हो गया है; अतः हमारी आर्थिक कठिनाई दूर करनेके लिये व्यासजीने उस दिन हमें मरुत्तके धनका पता बताया था ।। ८½ ।।

यद्येतद् वो बहुमतं मन्यध्वं वा क्षमं यदि ।। ९ ।।
तथा यथाऽऽह धर्मेण कथं वा भीम मन्यसे ।

'यदि तुमलोग उस धनको पर्याप्त समझो और उसे ले आनेकी अपनेमें सामर्थ्य देखो तो व्यासजीने जैसा कहा है, उसीके अनुसार धर्मतः उसे प्राप्त करनेका यत्न करो। अथवा भीमसेन! तुम बोलो, तुम्हारा इस सम्बन्धमें क्या विचार है?' ।। ९½ ।।

इत्युक्तवाक्ये नृपतौ तदा कुरुकुलोद्वह ।। १० ।।
भीमसेनो नृपश्रेष्ठं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।
रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया ।। ११ ।।
व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति ।

कुरुकुलशिरोमणे! राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर भीमसेनने हाथ जोड़कर उन नृपश्रेष्ठसे इस प्रकार कहा—'महाबाहो! आपने जो कुछ कहा है, व्यासजीके बताये हुए धनको लानेके विषयमें जो विचार व्यक्त किया है, वह मुझे बहुत पसंद है ।। १०-११½ ।।

यदि तत् प्राप्नुयामेह धनमाविक्षितं प्रभो ।। १२ ।।
कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम ।

'प्रभो! महाराज! यदि हमें मरुत्तका धन प्राप्त हो जाय तब तो हमारा सारा काम बन ही जाय। यही मेरा मत है ।। १२½ ।।

ते वयं प्रणिपातेन गिरीशस्य महात्मनः ।। १३ ।।
तदानयाम भद्रं ते समभ्यर्च्य कपर्दिनम् ।

'आपका कल्याण हो। हम महात्मा गिरीशके चरणोंमें प्रणाम करके उन जटाजूटधारी महेश्वरकी सम्यक् आराधना करके उस धनको ले आवें ।। १३½ ।।

तद् वित्तं देवदेवेशं तस्यैवानुचरांश्च तान् ।। १४ ।।
प्रसाद्यार्थमवाप्स्यामो नूनं वाग्बुद्धि कर्मभिः ।

'हम बुद्धि, वाणी और क्रियाद्वारा आराधनापूर्वक देवाधिदेव महादेव तथा उनके अनुचरोंको प्रसन्न करके निश्चय ही उस धनको प्राप्त कर लेंगे ।। १४½ ।।

रक्षन्ते ये च तद् द्रव्यं किन्नरा रौद्रदर्शनाः ।। १५ ।।
ते च वश्या भविष्यन्ति प्रसन्ने वृषभध्वजे ।

'जो रौद्ररूपधारी किन्नर उस धनकी रक्षा करते हैं, वे भी भगवान् शंकरके प्रसन्न होनेपर हमारे अधीन हो जायँगे ।। १५½ ।।

(स हि देवः प्रसन्नात्मा भक्तानां परमेश्वरः ।
ददात्यमरतां चापि किं पुनः काञ्चनं प्रभुः ।।

'सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाले वे सर्वसमर्थ परमेश्वर महादेव अपने भक्तोंको अमरत्व भी दे देते हैं; फिर सुवर्णकी तो बात ही क्या? ।।

वनस्थस्य पुरा जिष्णोरस्त्रं पाशुपतं महत् ।
रौद्रं ब्रह्मशिरश्चादात् प्रसन्नः किं पुनर्धनम् ।।

'पूर्वकालमें वनमें रहते समय अर्जुनपर प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने उन्हें महान् पाशुपतास्त्र, रौद्रास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र भी प्रदान किये थे। फिर धन दे देना उनके लिये कौन बड़ी बात है ।।

वयं सर्वे च तद्भक्ताः स चास्माकं प्रसीदति ।
तत्प्रसादाद् वयं राज्यं प्राप्ताः कौरवनन्दन ।।
अभिमन्योर्वधे वृत्ते प्रतिज्ञाते धनंजये ।
जयद्रथवधार्थाय स्वप्ने लोकगुरुं निशि ।।
प्रसाद्य लब्धवानस्त्रमर्जुनः सहकेशवः ।

'कौरवनन्दन! हम सब लोग उनके भक्त हैं और वे हम लोगोंपर प्रसन्न रहते हैं। उन्हींकी कृपासे हमने राज्य प्राप्त किया है। अभिमन्युका वध हो जानेपर जब अर्जुनने जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी, उस समय स्वप्नमें अर्जुनने श्रीकृष्णके साथ रहकर रातमें उन्हीं लोकगुरु महेश्वरको प्रसन्न करके दिव्यास्त्र प्राप्त किया था ।।

ततः प्रभातां रजनीं फाल्गुनस्याग्रतः प्रभुः ।।
जघान सैन्यं शूलेन प्रत्यक्षं सव्यसाचिनः ।

'तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब भगवान् शिवने अर्जुनके आगे रहकर अपने त्रिशूलसे शत्रुओंकी सेनाका संहार किया था। यह बात अर्जुनने प्रत्यक्ष देखी थी ।।

कस्तां सेनां महाराज मनसापि प्रधर्षयेत् ।।
द्रोणकर्णमुखैर्युक्तां महेष्वासैः प्रहारिभिः ।
ऋते देवान्महेष्वासाद् बहुरूपान्महेश्वरात् ।।

‘महाराज! द्रोणाचार्य और कर्ण-जैसे प्रहारकुशल महाधनुर्धरोंसे युक्त उस कौरवसेनाको महान् पाशुपतधारी अनेक रूपवाले महेश्वर महादेवके सिवा दूसरा कौन मनसे भी पराजित कर सकता था ।।

तस्यैव च प्रसादेन निहताः शत्रवस्तव ।
अश्वमेधस्य संसिद्धिं स तु सम्पादयिष्यति ।।)

‘उन्हींके कृपाप्रसादसे आपके शत्रु मारे गये हैं। वे ही अश्वमेध यज्ञको सफलतापूर्वक सम्पन्न करेंगे’ ।।

श्रुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत ।। १६ ।।
प्रीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव भारत ।
अर्जुनप्रमुखाश्चापि तथेत्येवाब्रुवन् वचः ।। १७ ।।

भारत! भीमसेनका यह कथन सुनकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए। अर्जुन आदिने भी बहुत ठीक कहकर उन्हींकी बातका समर्थन किया ।। १६-१७ ।।

कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम् ।
सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ।। १८ ।।

इस प्रकार समस्त पाण्डवोंने रत्न लानेका निश्चय करके ध्रुवसंज्ञक* नक्षत्र एवं दिनमें सेनाको यात्राके लिये तैयार होनेकी आज्ञा दी ।। १८ ।।

ततो ययुः पाण्डुसुता ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।
अर्चयित्वा सुरश्रेष्ठं पूर्वमेव महेश्वरम् ।। १९ ।।
मोदकैः पायसेनाथ मांसापूपैस्तथैव च ।
आशास्य च महात्मानं प्रययुर्मुदिता भृशम् ।। २० ।।

तदनन्तर ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर सुरश्रेष्ठ महेश्वरकी पहले ही पूजा करके मिष्टान्न, खीर, पूआ तथा फलके गूदोंसे उन महेश्वरको तृप्त करके उनका आशीर्वाद ले समस्त पाण्डवोंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक यात्रा प्रारम्भ की ।। १९-२० ।।

तेषां प्रयास्यतां तत्र मङ्गलानि शुभान्यथ ।
प्राहुः प्रहृष्टमनसो द्विजाग्र्या नागराश्च ते ।। २१ ।।

जब वे यात्राके लिये उद्यत हुए, उस समय समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों और नागरिकोंने प्रसन्नचित्त होकर उनके लिये शुभ मंगल-पाठ किया ।। २१ ।।

ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च ।
ब्राह्मणानग्निसहितान् प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ।। २२ ।।

तत्पश्चात् पाण्डवोंने अग्निसहित ब्राह्मणोंकी परिक्रमा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाकर वहाँसे प्रस्थान किया ।। २२ ।।

समनुज्ञाप्य राजानं पुत्रशोकसमाहतम् ।
धृतराष्ट्रं सभार्यं वै पृथां च पृथुलोचनाम् ।। २३ ।।

प्रस्थानके पूर्व उन्होंने पुत्रशोकसे व्याकुल राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी देवी तथा विशाललोचना कुन्तीसे आज्ञा ले ली थी ।। २३ ।।

मूले निक्षिप्य कौरव्यं युयुत्सुं धृतराष्ट्रजम् ।
सम्पूज्यमानाः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च मनीषिभिः ।। २४ ।।
(प्रययुः पाण्डवा वीरा नियमस्थाः शुचिव्रताः ।)

अपने कुलके मूलभूत धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके समीप उनकी रक्षाके लिये कुरुवंशी धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको नियुक्त करके मनीषी ब्राह्मणों और पुरवासियोंसे पूजित होते हुए वीर पाण्डवोंने वहाँसे प्रस्थान किया। वे सब-के-सब उत्तम व्रतका पालन करते हुए शौच, संतोष आदि नियमोंमें दृढ़तापूर्वक स्थित थे ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ।। ६३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्य लानेका उपक्रमविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६३ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

चतु:षष्टितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका हिमालयपर पहुँचकर वहाँ पड़ाव डालना और रातमें उपवासपूर्वक निवास करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुर्हृष्टाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
रथघोषेण महता पूरयन्तो वसुंधराम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंके साथ जो मनुष्य और वाहन थे, वे सब-के-सब बड़े हर्षमें भरे हुए थे। वे स्वयं भी अपने रथके महान् घोषसे इस पृथ्वीको गुँजाते हुए प्रसन्नतापूर्वक यात्रा कर रहे थे ।। १ ।।

संस्तूयमानाः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः ।
स्वेन सैन्येन संवीता यथादित्याः स्वरश्मिभिः ।। २ ।।

सूत, मागध और वन्दीजन अनेक प्रकारके प्रशंसासूचक वचनोंद्वारा उनके गुण गाते चलते थे। अपनी सेनासे घिरे हुए पाण्डव ऐसे जान पड़ते थे, मानो अपनी किरणमालाओंसे मण्डित सूर्य प्रकाशित हो रहे हों ।। २ ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
बभौ युधिष्ठिरस्तत्र पौर्णमास्यामिवोडुराट् ।। ३ ।।

राजा युधिष्ठिरके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे वे वहाँ पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ।। ३ ।।

जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः ।
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावत् पुरुषर्षभः ।। ४ ।।

मार्गमें बहुत-से मनुष्य प्रसन्न होकर राजा युधिष्ठिरको विजयसूचक आशीर्वाद देते थे और वे पुरुषशिरोमणि नरेश यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन यथार्थ वचनोंको ग्रहण करते थे ।। ४ ।।

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये ।
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा व्यतिष्ठत ।। ५ ।।

राजन्! राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जो बहुत-से सैनिक चल रहे थे, उनका महान् कोलाहल आकाशको स्तब्ध करके गूँज उठता था ।। ५ ।।

सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च ।
अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत ।। ६ ।।
तस्मिन् देशे च राजेन्द्र यत्र तद् द्रव्यमुत्तमम् ।

राजन्! अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों, उपवनों तथा पर्वतको लाँघकर महाराज युधिष्ठिर उस स्थानमें जा पहुँचे, जहाँ वह (राजा मरुत्तका रखा हुआ) उत्तम द्रव्य संचित था ।। ६½ ।।

चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः ।
शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम ।। ७ ।।
अग्रतो ब्राह्मणान् कृत्वा तपोविद्यादमान्वितान् ।
पुरोहितं च कौरव्य वेदवेदाङ्गपारगम् ।
आग्निवेश्यं च राजानो ब्राह्मणाः सपुरोधसः ।। ८ ।।
कृत्वा शान्तिं यथान्यायं सर्वशः पर्यवारयन् ।
कृत्वा तु मध्ये राजानममात्यांश्च यथाविधि ।। ९ ।।

कुरुवंशी भरतश्रेष्ठ! वहाँ एक समतल एवं सुखद स्थानमें पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने तप, विद्या और इन्द्रिय-संयमसे युक्त ब्राह्मणों एवं वेद-वेदांगके पारगामी विद्वान् राजपुरोहित धौम्य मुनिको आगे रखकर सैनिकोंके साथ पड़ाव डाला। बहुत-से राजा, ब्राह्मण और पुरोहितने यथोचित रीतिसे शान्तिकर्म करके युधिष्ठिर और उनके मन्त्रियोंको विधिपूर्वक बीचमें रखकर उन्हें सब ओरसे घेर रखा था ।। ७—९ ।।

षट्पदं नवसंख्यानं निवेशं चक्रिरे द्विजाः ।
मत्तानां वारणेन्द्राणां निवेशं च यथाविधि ।। १० ।।
कारयित्वा स राजेन्द्रो ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।

ब्राह्मणोंने जो छावनी वहाँ बनायी थी, उसमें पूर्वसे पश्चिमको और उत्तरसे दक्षिणको जानेवाली तीन-तीनके क्रमसे कुल छः सड़कें थीं तथा उस छावनीके नौ खण्ड थे। महाराज युधिष्ठिरने मतवाले गजराजोंके रहनेके लिये भी स्थानका विधिवत् निर्माण कराकर ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा— ।। १०½ ।।

अस्मिन् कार्ये द्विजश्रेष्ठा नक्षत्रे दिवसे शुभे ।। ११ ।।
यथा भवन्तो मन्यन्ते कर्तुमर्हन्ति तत् तथा ।
न नः कालात्ययो वै स्यादिहैव परिलम्बताम् ।। १२ ।।
इति निश्चित्य विप्रेन्द्राः क्रियतां यदनन्तरम् ।

‘विप्रवरो! किसी शुभ नक्षत्र और शुभ दिनको इस कार्यकी सिद्धिके लिये आपलोग जो भी ठीक समझें, वह उपाय करें। ऐसा न हो कि यहीं लटके रहकर हमारा बहुत अधिक समय व्यतीत हो जाय। द्विजेन्द्रगण! इस विषयमें कुछ निश्चय करके इस समय जो करना उचित हो, उसे आप लोग अविलम्ब करें’ ।। ११-१२½ ।।

श्रुत्वैतद् वचनं राज्ञो ब्राह्मणाः सपुरोधसः ।
इदमूचुर्वचो हृष्टा धर्मराजप्रियेप्सवः ।। १३ ।।

धर्मराज राजा युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर उनका प्रिय करनेकी इच्छावाले ब्राह्मण और पुरोहित प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार बोले— ।। १३ ।।

अद्यैव नक्षत्रमहश्च पुण्यं
यतामहे श्रेष्ठतमक्रियासु ।
अम्भोभिरद्येह वसाम राज-
न्नुपोष्यतां चापि भवद्भिरद्य ।। १४ ।।

'राजन्! आज ही परम पवित्र नक्षत्र और शुभ दिन है; अतः आज ही हम श्रेष्ठतम कर्म करनेका प्रयत्न आरम्भ करते हैं। हमलोग तो आज केवल जल पीकर रहेंगे और आपलोगोंको भी आज उपवास करना चाहिये' ।। १४ ।।

श्रुत्वा तु तेषां द्विजसत्तमानां
कृतोपवासा रजनीं नरेन्द्राः ।
ऊषुः प्रतीताः कुशसंस्तरेषु
यथाध्वरे प्रज्वलिता हुताशाः ।। १५ ।।

उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका यह वचन सुनकर समस्त पाण्डव रातमें उपवास करके कुशकी चटाइयोंपर निर्भय होकर सोये। वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो यज्ञमण्डपमें पाँच वेदियोंपर स्थापित पाँच अग्नि प्रज्वलित हो रहे हों ।। १५ ।।

ततो निशा सा व्यगमन्महात्मनां
संशृण्वतां विप्रसमीरिता गिरः ।
ततः प्रभाते विमले द्विजर्षभा
वचोऽब्रुवन् धर्मसुतं नराधिपम् ।। १६ ।।

तदनन्तर ब्राह्मणोंकी कही हुई बातें सुनते हुए महात्मा पाण्डवोंकी वह रात सकुशल व्यतीत हुई। फिर निर्मल प्रभातका उदय होनेपर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ।। १६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ।। ६४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्य लानेका उपक्रमविषयक चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६४ ।।

---

* ज्योतिष शास्त्रके अनुसार तीनों उत्तरा तथा रोहिणी—ये ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र हैं। दिनोंमें रविवारको ध्रुव बताया गया है। उत्तरा और रविवारका संयोग होनेपर अमृतसिद्धि नामक योग होता है; अतः इसी योगमें पाण्डवोंके प्रस्थान करनेका अनुमान किया जा सकता है।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणोंकी आज्ञासे भगवान् शिव और उनके पार्षद आदिकी पूजा करके युधिष्ठिरका उस धनराशिको खुदवाकर अपने साथ ले जाना

ब्राह्मणा ऊचुः

क्रियतामुपहारोऽद्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः ।
दत्त्वोपहारं नृपते ततः स्वार्थं यतामहे ।। १ ।।

ब्राह्मण बोले—नरेश्वर! अब आप परमात्मा भगवान् शंकरको पूजा चढ़ाइये। पूजा चढ़ानेके बाद हमें अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ।। १ ।।

श्रुत्वा तु वचनं तेषां ब्राह्मणानां युधिष्ठिरः ।
गिरीशस्य यथान्यायमुपहारमुपाहरत् ।। २ ।।

उन ब्राह्मणोंकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिरने भगवान् शंकरको विधिपूर्वक नैवेद्य अर्पण किया ।। २ ।।

आज्येन तर्पयित्वाग्निं विधिवत् संस्कृतेन च ।
मन्त्रसिद्धं चरुं कृत्वा पुरोधाः स ययौ तदा ।। ३ ।।

तत्पश्चात् उनके पुरोहितने विधिपूर्वक संस्कार किये हुए घृतके द्वारा अग्निदेवको तृप्त करके मन्त्रसिद्ध चरु तैयार किया और भेंट अर्पित करनेके लिये वे देवताके समीप गये ।। ३ ।।

स गृहीत्वा सुमनसो मन्त्रपूता जनाधिप ।
मोदकैः पायसेनाथ मांसैश्चोपाहरद् बलिम् ।। ४ ।।
सुमनोभिश्च चित्राभिर्लाजैरुच्चावचैरपि ।

जनेश्वर! उन्होंने मन्त्रपूत पुष्प लेकर मिठाई, खीर, फलके गूदे, विचित्र पुष्प, लावा (खील) तथा अन्य नाना प्रकारकी वस्तुओंद्वारा उपहार समर्पित किया ।। ४½ ।।

सर्वं स्विष्टतमं कृत्वा विधिवद् वेदपारगः ।। ५ ।।
किंकराणां ततः पश्चाच्चकार बलिमुत्तमम् ।

वेदोंके पारंगत विद्वान् पुरोहितने विधिपूर्वक देवताको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले समस्त कर्म करके फिर भगवान् शिवके पार्षदोंको उत्तम बलि (भेंट-पूजा) चढ़ायी ।। ५½ ।।

यक्षेन्द्राय कुबेराय मणिभद्राय चैव ह ।। ६ ।।
तथान्येषां च यक्षाणां भूतानां पतयश्च ये ।
कृसरेण च मांसेन निवापैस्तिलसंयुतैः ।। ७ ।।

इसके बाद यक्षराज कुबेरको, मणिभद्रको, अन्यान्य यक्षोंको और भूतोंके अधिपतियोंको खिचड़ी, फलके गूदे तथा तिलमिश्रित जलकी अंजलियाँ निवेदन करके उनकी पूजा सम्पन्न की ।। ६-७ ।।

ओदनं कुम्भशः कृत्वा पुरोधाः समुपाहरत् ।

ब्राह्मणेभ्यः सहस्राणि गवां दत्त्वा तु भूमिपः ।। ८ ।।

नक्तंचराणां भूतानां व्यादिदेश बलिं तदा ।

तदनन्तर पुरोहितने घड़ोंमें भात भरकर बलि अर्पित की। इसके बाद भूपालने ब्राह्मणोंको सहस्रों गौएँ देकर निशाचारी भूतोंको भी बलि भेंट की ।। ८½ ।।

धूपगन्धनिरुद्धं तत् सुमनोभिश्च संवृतम् ।। ९ ।।

शुशुभे स्थानमत्यर्थं देवदेवस्य पार्थिव ।

पृथ्वीनाथ! देवाधिदेव महादेवजीका वह स्थान धूपोंकी सुगन्धसे व्याप्त और फूलोंसे अलंकृत होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था ।। ९½ ।।

कृत्वा पूजां तु रुद्रस्य गणानां चैव सर्वशः ।। १० ।।

ययौ व्यासं पुरस्कृत्य नृपो रत्ननिधिं प्रति ।

भगवान् शिव और उनके पार्षदोंकी सब प्रकारसे पूजा करके महर्षि व्यासको आगे किये राजा युधिष्ठिर उस स्थानको गये, जहाँ वह रत्न एवं सुवर्णकी राशि संचित थी ।। १० ½ ।।

पूजयित्वा धनाध्यक्षं प्रणिपत्याभिवाद्य च ।। ११ ।।

सुमनोभिर्विचित्राभिरपूपैः कृसरेण च ।

शङ्खादींश्च निधीन् सर्वान् निधिपालांश्च सर्वशः ।। १२ ।।

अर्चयित्वा द्विजाग्रयान् स स्वस्ति वाच्य च वीर्यवान् ।

तेषां पुण्याहघोषेण तेजसा समवस्थितः ।। १३ ।।

प्रीतिमान् स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तद् धनम् ।

वहाँ उन्होंने नाना प्रकारके विचित्र फूल, मालपूआ तथा खिचड़ी आदिके द्वारा धनपति कुबेरकी पूजा करके उन्हें प्रणाम—अभिवादन किया। तत्पश्चात् उन्हीं सामग्रियोंसे शंख आदि निधियों तथा समस्त निधिपालोंका पूजन करके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा की। फिर उनसे स्वस्तिवाचन कराकर उन ब्राह्मणोंके पुण्याहघोषसे तेजस्वी हुए शक्तिशाली कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर बड़ी प्रसन्नताके साथ उस धनको खुदवाने लगे ।। ११—१३½ ।।

ततः पात्रीः सकरका बहुरूपा मनोरमाः ।। १४ ।।

भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ।

बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः ।। १५ ।।

कुछ ही देरमें अनेक प्रकारके विचित्र, मनोरम एवं बहुसंख्यक सहस्रों सुवर्णमय पात्र निकल आये। कठौते, सुराही, गडुआ, कड़ाह, कलश तथा कटोरे—सभी तरहके बर्तन

उपलब्ध हुए ।। १४-१५ ।।

उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
तेषां रक्षणमप्यासीन्महान् करपुटस्तथा ।। १६ ।।

धर्मराज युधिष्ठिरने उस समय उन सब बर्तनोंको भूमि खोदकर निकलवाया। उन्हें रखनेके लिये बड़ी-बड़ी संदूकें लायी गयी थीं ।। १६ ।।

नद्धं च भाजनं राजंस्तुलार्धमभवन्नृप ।
वाहनं पाण्डुपुत्रस्य तत्रासीत् तु विशाम्पते ।। १७ ।।

राजन्! एक-एक संदूकमें बंद किये हुए बर्तनोंका बोझ आधा-आधा भार होता था। प्रजानाथ! उन सबको ढोनेके लिये पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके वाहन भी वहाँ उपस्थित थे ।। १७ ।।

षष्टिरुष्ट्रसहस्राणि शतानि द्विगुणा हयाः ।
वारणाश्च महाराज सहस्रशतसम्मिताः ।। १८ ।।
शकटानि रथाश्चैव तावदेव करेणवः ।
खराणां पुरुषाणां च परिसंख्या न विद्यते ।। १९ ।।

महाराज! साठ हजार ऊँट, एक करोड़ बीस लाख घोड़े, एक लाख हाथी, एक लाख रथ, एक लाख छकड़े और उतनी ही हथिनियाँ थीं। गधों और मनुष्योंकी तो गिनती ही नहीं थी ।। १८-१९ ।।

एतद् वित्तं तदभवद् यदुद्दध्रे युधिष्ठिरः ।
षोडशाष्टौ चतुर्विंशत्सहस्रं भारलक्षणम् ।। २० ।।
एतेष्वादाय तद् द्रव्यं पुनरभ्यर्च्य पाण्डवः ।
महादेवं प्रति ययौ पुरं नागाह्वयं प्रति ।। २१ ।।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञातः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।

युधिष्ठिरने वहाँ जितना धन खुदवाया था, वह सोलह करोड़ आठ लाख और चौबीस हजार भार सुवर्ण था। उन्होंने उपर्युक्त सब वाहनोंपर धन लदवाकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने पुनः महादेवजीका पूजन किया और व्यासजीकी आज्ञा लेकर पुरोहित धौम्य मुनिको आगे करके हस्तिनापुरको प्रस्थान किया ।। २०-२१½ ।।

गोयुते गोयुते चैव न्यवसत् पुरुषर्षभः ।। २२ ।।
सा पुराभिमुखा राजन्नुवाह महती चमूः ।
कृच्छ्राद् द्रविणभारार्ता हर्षयन्ती कुरूद्वहान् ।। २३ ।।

राजन्! वे वाहनोंपर बोझ अधिक होनेके कारण दो-दो कोसपर मुकाम देते जाते थे। द्रव्यके भारसे कष्ट पाती हुई वह विशाल सेना उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंका हर्ष बढ़ाती हुई बड़ी कठिनाईसे नगरकी ओर उस धनको ले जा रही थी ।। २२-२३ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयने पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ।। ६५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें द्रव्यका आनयनविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६५ ।।

षट्षष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका हस्तिनापुरमें आगमन और उत्तराके मृत बालकको जिलानेके लिये कुन्तीकी उनसे प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान् ।
उपायाद् वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें परम पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण भी वृष्णिवंशियोंको साथ लेकर हस्तिनापुर आ गये ।। १ ।।

समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः ।
यथोक्तो धर्मपुत्रेण प्रव्रजन् स्वपुरीं प्रति ।। २ ।।

उनके द्वारका जाते समय धर्मपुत्र युधिष्ठिरने जैसी बात कही थी, उसके अनुसार अश्वमेध यज्ञका समय निकट जानकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पहले ही उपस्थित हो गये ।। २ ।।

रौक्मिणेयेन सहितो युयुधानेन चैव ह ।
चारुदेष्णेन साम्बेन गदेन कृतवर्मणा ।। ३ ।।
सारणेन च वीरेण निशठेनोल्मुकेन च ।

उनके साथ रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, गद, कृतवर्मा, सारण, वीर निशठ और उल्मुक भी थे ।। ३½ ।।

बलदेवं पुरस्कृत्य सुभद्रासहितस्तदा ।। ४ ।।
द्रौपदीमुत्तरां चैव पृथां चाप्यवलोककः ।
समाश्वासयितुं चापि क्षत्रिया निहतेश्वराः ।। ५ ।।

वे बलदेवजीको आगे करके सुभद्राके साथ पधारे थे। उनके शुभागमनका उद्देश्य था द्रौपदी, उत्तरा और कुन्तीसे मिलना तथा जिनके पति मारे गये थे, उन सभी क्षत्राणियोंको आश्वासन देना—धीरज बँधाना ।। ४-५ ।।

तानागतान् समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं विदुरश्च महामनाः ।। ६ ।।

उनके आगमनका समाचार सुनते ही राजा धृतराष्ट्र और महामना विदुरजी खड़े हो गये और आगे बढ़कर उन्होंने उन सबका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया ।। ६ ।।

तत्रैव न्यवसत् कृष्णः स्वर्चितः पुरुषोत्तमः ।
विदुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना ।। ७ ।।

विदुर और युयुत्सुसे भलीभाँति पूजित हो महातेजस्वी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वहीं रहने लगे ।। ७ ।।

वसत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय ।
जज्ञे तव पिता राजन् परिक्षित् परवीरहा ।। ८ ।।

जनमेजय! उन वृष्णिवीरोंके वहाँ निवास करते समय ही तुम्हारे पिता शत्रुवीरहन्ता परीक्षित्का जन्म हुआ था ।। ८ ।।

स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणावपीडितः ।
शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः ।। ९ ।।

महाराज! वे राजा परीक्षित् ब्रह्मास्त्रसे पीड़ित होनेके कारण चेष्टाहीन मुर्देके रूपमें उत्पन्न हुए, अतः स्वजनोंका हर्ष और शोक बढ़ानेवाले हो गये थे* ।। ९ ।।

हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निःस्वनः ।
प्रविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत् ।। १० ।।

पहले पुत्र-जन्मका समाचार सुनकर हर्षमें भरे हुए लोगोंके सिंहनादसे एक महान् कोलाहल सुनायी पड़ा, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रविष्ट हो पुनः शान्त हो गया ।। १० ।।

ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तःपुरं तदा ।
युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः ।। ११ ।।

इससे भगवान् श्रीकृष्णके मन और इन्द्रियोंमें व्यथा-सी उत्पन्न हो गयी। वे सात्यकिको साथ ले बड़ी उतावलीसे अन्तःपुरमें जा पहुँचे ।। ११ ।।

ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम् ।
क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः ।। १२ ।।

वहाँ उन्होंने अपनी बुआ कुन्तीको बड़े वेगसे आती देखा, जो बारंबार उन्हींका नाम लेकर 'वासुदेव! दौड़ो-दौड़ो' की पुकार मचा रही थी ।। १२ ।।

पृष्ठतो द्रौपदीं चैव सुभद्रां च यशस्विनीम् ।
सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप ।। १३ ।।

राजन्! उनके पीछे द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियाँ भी थीं, जो बड़े करुण स्वरसे बिलख-बिलखकर रो रही थीं ।। १३ ।।

ततः कृष्णं समासाद्य कुन्तिभोजसुता तदा ।
प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा ।। १४ ।।

नृपश्रेष्ठ! उस समय श्रीकृष्णके निकट पहुँचकर कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई गद्गद वाणीमें बोली— ।। १४ ।।

वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया ।
त्वं नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम् ।। १५ ।।

'महाबाहु वसुदेव-नन्दन! तुम्हें पाकर ही तुम्हारी माता देवकी उत्तम पुत्रवाली मानी जाती हैं। तुम्हीं हमारे अवलम्ब और तुम्हीं हमलोगोंके आधार हो। इस कुलकी रक्षा तुम्हारे ही अधीन है ।। १५ ।।

यदुप्रवीर योऽयं ते स्वस्रीयस्यात्मजः प्रभो ।
अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ।। १६ ।।

'यदुवीर! प्रभो! यह जो तुम्हारे भानजे अभिमन्युका बालक है, अश्वत्थामाके अस्त्रसे मरा हुआ ही उत्पन्न हुआ है। केशव! इसे जीवन-दान दो ।। १६ ।।

त्वया ह्येतत् प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन ।
अहं संजीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो ।। १७ ।।

'यदुनन्दन! प्रभो! अश्वत्थामाने जब सींकके बाणका प्रयोग किया था, उस समय तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं उत्तराके मरे हुए बालकको भी जीवित कर दूँगा ।। १७ ।।

सोऽयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ ।
उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव ।। १८ ।।

'तात! वही यह बालक है, जो मरा हुआ ही पैदा हुआ है। पुरुषोत्तम! इसपर अपनी कृपादृष्टि डालो। माधव! इसे जीवित करके ही उत्तरा, सुभद्रा और द्रौपदीसहित मेरी रक्षा करो ।। १८ ।।

धर्मपुत्रं च भीमं च फाल्गुनं नकुलं तथा ।
सहदेवं च दुर्धर्ष सर्वान् नस्त्रातुमर्हसि ।। १९ ।।

'दुर्धर्ष वीर! धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी भी रक्षा करो। तुम हम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करनेयोग्य हो ।। १९ ।।

अस्मिन् प्राणाःसमायत्ताः पाण्डवानां ममैव च ।
पाण्डोश्च पिण्डो दाशार्ह तथैव श्वशुरस्य मे ।। २० ।।

'मेरे और पाण्डवोंके प्राण इस बालकके ही अधीन हैं। दशार्हकुलनन्दन! मेरे पति पाण्डु तथा श्वशुर विचित्रवीर्यके पिण्डका भी यही सहारा है ।। २० ।।

अभिमन्योश्च भद्रं ते प्रियस्य सदृशस्य च ।
प्रियमुत्पादयाद्य त्वं प्रेतस्यापि जनार्दन ।। २१ ।।

'जनार्दन! तुम्हारा कल्याण हो। जो तुम्हें अत्यन्त प्रिय और तुम्हारे ही समान परम सुन्दर था, उस परलोकवासी अभिमन्युका भी प्रिय करो—उसके इस बालकको जिला दो ।। २१ ।।

उत्तरा हि पुरोक्तं वै कथयत्यरिसूदन ।
अभिमन्योर्वचः कृष्ण प्रियत्वात् तन्न संशयः ।। २२ ।।

'शत्रुसूदन श्रीकृष्ण! मेरी बहूरानी उत्तरा अभिमन्युकी पहलेकी कही हुई एक बात अत्यन्त प्रिय होनेके कारण बार-बार दुहराया करती है। उस बातकी यथार्थतामें तनिक भी

संदेह नहीं है ।। २२ ।।

अब्रवीत् किल दाशार्ह वैराटीमार्जुनिस्तदा ।
मातुलस्य कुलं भद्रे तव पुत्रो गमिष्यति ।। २३ ।।
गत्वा वृष्ण्यन्धककुलं धनुर्वेदं ग्रहीष्यति ।
अस्त्राणि च विचित्राणि नीतिशास्त्रं च केवलम् ।। २४ ।।

'दाशार्ह! अभिमन्युने उत्तरासे कभी स्नेहवश कहा था—"कल्याणी! तुम्हारा पुत्र मेरे मामाके यहाँ जायगा-वृष्णि एवं अन्धकोंके कुलमें जाकर धनुर्वेद, नाना प्रकारके विचित्र अस्त्र-शस्त्र तथा विशुद्ध नीतिशास्त्रकी शिक्षा प्राप्त करेगा" ।। २३-२४ ।।

इत्येतत् प्रणयात् तात सौभद्रः परवीरहा ।
कथयामास दुर्धर्षस्तथा चैतन्न संशयः ।। २५ ।।

'तात! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुर्धर्ष वीर सुभद्राकुमारने जो प्रेमपूर्वक यह बात कही थी, यह निस्संदेह सत्य होनी चाहिये ।। २५ ।।

तास्त्वां वयं प्रणम्येह याचामो मधुसूदन ।
कुलस्यास्य हितार्थं तं कुरु कल्याणमुत्तमम् ।। २६ ।।

'मधुसूदन! इस कुलकी भलाईके लिये हम सब लोग तुम्हारे पैरों पड़कर भीख माँगती हैं, इस बालकको जिलाकर तुम कुरुकुलका सर्वोत्तम कल्याण करो' ।। २६ ।।

एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना ।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्ता ताश्चान्याः प्रापतन् भुवि ।। २७ ।।

श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर विशाललोचना कुन्ती दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखसे आर्त हो पृथ्वीपर गिर पड़ी। दूसरी स्त्रियोंकी भी यही दशा हुई ।। २७ ।।

अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ।। २८ ।।

समर्थ महाराज! उन सबकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी और वे सभी रो-रोकर कह रही थीं कि 'हाय! श्रीकृष्णके भानजेका बालक मरा हुआ पैदा हुआ' ।। २८ ।।

एवमुक्ते ततः कुन्तीं पर्यगृह्णाज्जनार्दनः ।
भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ।। २९ ।।

भरतनन्दन! उन सबके ऐसा कहनेपर जनार्दन श्रीकृष्णने कुन्तीदेवीको सहारा देकर बैठाया और पृथ्वीपर पड़ी हुई अपनी बुआको वे सान्त्वना देने लगे ।। २९ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि परीक्षिज्जन्मकथने षट्षष्टितमोऽध्यायः ।। ६६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें परीक्षित्के जन्मका वर्णनविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६६ ।।

---

* पहले तो पुत्र-जन्मके समाचारसे सबको अपार हर्ष हुआ; किंतु उनमें जीवनका कोई चिह्न न देखकर तत्काल शोकका समुद्र उमड़ पड़ा।

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

परीक्षित्को जिलानेके लिये सुभद्राकी श्रीकृष्णसे प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

उत्थितायां पृथायां तु सुभद्रा भ्रातरं तदा ।
दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्ता वचनं चेदमब्रवीत् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीदेवीके बैठ जानेपर सुभद्रा अपने भाई श्रीकृष्णकी ओर देखकर फूट-फूटकर रोने लगी और दुःखसे आर्त होकर यों बोली — ।। १ ।।

पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं पौत्रं पार्थस्य धीमतः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गतायुषम् ।। २ ।।

'भैया कमलनयन! तुम अपने सखा बुद्धिमान् पार्थके इस पौत्रकी दशा तो देखो। कौरवोंके नष्ट हो जानेपर इसका जन्म हुआ; परंतु यह भी गतायु होकर नष्ट हो गया ।। २ ।।

इषीका द्रोणपुत्रेण भीमसेनार्थमुद्यता ।
सोत्तरायां निपतिता विजये मयि चैव ह ।। ३ ।।

'द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने भीमसेनको मारनेके लिये जो सींकका बाण उठाया था, वह उत्तरापर, तुम्हारे सखा विजयपर और मुझपर गिरा है ।। ३ ।।

सेयं विदीर्णे हृदये मयि तिष्ठति केशव ।
यन्न पश्यामि दुर्धर्ष सहपुत्रं तु तं प्रभो ।। ४ ।।

'दुर्धर्ष वीर केशव! प्रभो! वह सींक मेरे इस विदीर्ण हुए हृदयमें आज भी कसक रही है; क्योंकि इस समय मैं पुत्रसहित अभिमन्युको नहीं देख पाती हूँ ।। ४ ।।

किं नु वक्ष्यति धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चापि माद्रवत्याः सुतौ च तौ ।। ५ ।।
श्रुत्वाभिमन्योस्तनयं जातं च मृतमेव च ।
मुषिता इव वार्ष्णेय द्रोणपुत्रेण पाण्डवाः ।। ६ ।।

'अभिमन्युका बेटा जन्म लेनेके साथ ही मर गया—इस बातको सुनकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर क्या कहेंगे? भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव भी क्या सोचेंगे? श्रीकृष्ण! आज द्रोणपुत्रने पाण्डवोंका सर्वस्व लूट लिया ।। ५-६ ।।

अभिमन्युः प्रियः कृष्ण भ्रातॄणां नात्र संशयः ।
ते श्रुत्वा किं नु वक्ष्यन्ति द्रोणपुत्रास्त्रनिर्जिताः ।। ७ ।।

'श्रीकृष्ण! अभिमन्यु पाँचों भाइयोंको अत्यन्त प्रिय था—इसमें संशय नहीं है। उसके पुत्रकी यह दशा सुनकर अश्वत्थामाके अस्त्रसे पराजित हुए पाण्डव क्या कहेंगे? ।। ७ ।।

भवितातः परं दुःखं किं तदन्यज्जनार्दन ।
अभिमन्योः सुतात् कृष्ण मृताज्जातादरिंदम ।। ८ ।।

'शत्रुसूदन! जनार्दन! श्रीकृष्ण! अभिमन्यु-जैसे वीरका पुत्र मरा हुआ पैदा हो, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ।। ८ ।।

साहं प्रसादये कृष्ण त्वामद्य शिरसा नता ।
पृथेयं द्रौपदी चैव ताः पश्य पुरुषोत्तम ।। ९ ।।

'पुरुषोत्तम! श्रीकृष्ण! आज मैं तुम्हारे चरणोंपर मस्तक रखकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहती हूँ। बूआ कुन्ती और बहिन द्रौपदी भी तुम्हारे पैरोंपर पड़ी हुई हैं। इन सबकी ओर देखो ।। ९ ।।

यदा द्रोणसुतो गर्भान् पाण्डूनां हन्ति माधव ।
तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन ।। १० ।।

'शत्रुमर्दन माधव! जब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पाण्डवोंके गर्भकी भी हत्या करनेका प्रयत्न कर रहा था, उस समय तुमने कुपित होकर उससे कहा था ।। १० ।।

अकामं त्वां करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम ।
अहं संजीवयिष्यामि किरीटितनयात्मजम् ।। ११ ।।

'ब्रह्मबन्धो! नराधम! मैं तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने दूँगा। अर्जुनके पौत्रको अपने प्रभावसे जीवित कर दूँगा ।। ११ ।।

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा जानानाहं बलं तव ।
प्रसादये त्वां दुर्धर्ष जीवतामभिमन्युजः ।। १२ ।।

'भैया! तुम दुर्धर्ष वीर हो। मैं तुम्हारी उस बातको सुनकर तुम्हारे बलको अच्छी तरह जानती हूँ। इसीलिये तुम्हें प्रसन्न करना चाहती हूँ। तुम्हारे कृपा-प्रसादसे अभिमन्युका यह पुत्र जीवित हो जाय ।। १२ ।।

यद्येतत् त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम् ।
सकलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय ।। १३ ।।

'वृष्णिवंशके सिंह! यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा करके अपने मंगलमय वचनका पूर्णतः पालन नहीं करोगे तो यह समझ लो, सुभद्रा जीवित नहीं रहेगी—मैं अपने प्राण दे दूँगी ।। १३ ।।

अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम् ।
जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया ।। १४ ।।

'दुर्धर्ष वीर! यदि तुम्हारे जीते-जी अभिमन्युके इस बालकको जीवनदान न मिला तो तुम मेरे किस काम आओगे ।। १४ ।।

संजीवयैनं दुर्धर्ष मृतं त्वमभिमन्युजम् ।
सदृशाक्षसुतं वीर सस्यं वर्षन्निवाम्बुदः ।। १५ ।।

'अजेय वीर! जैसे बादल पानी बरसाकर सूखी खेतीको भी हरी-भरी कर देता है, उसी प्रकार तुम अपने ही समान नेत्रवाले अभिमन्युके इस मरे हुए पुत्रको जीवित कर दो ।। १५ ।।

त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान् सत्यविक्रमः ।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिंदम ।। १६ ।।

'शत्रुदमन केशव! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी और सत्यपराक्रमी हो; अतः तुम्हें अपनी कही हुई बातको सत्य कर दिखाना चाहिये ।। १६ ।।

इच्छन्नपि हि लोकांस्त्रीन् जीवयेथा मृतानिमान् ।
किं पुनर्दयितं जातं स्वस्रीयस्यात्मजं मृतम् ।। १७ ।।

'तुम चाहो तो मृत्युके मुखमें पड़े हुए तीनों लोकोंको जिला सकते हो, फिर अपने भानजेके इस प्यारे पुत्रको, जो मर चुका है, जीवित करना तुम्हारे लिये कौन बड़ी बात है ।। १७ ।।

प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण तस्मात् त्वां याचयाम्यहम् ।
कुरुष्व पाण्डुपुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ।। १८ ।।

'श्रीकृष्ण! मैं तुम्हारे प्रभावको जानती हूँ। इसीलिये तुमसे याचना करती हूँ। इस बालकको जीवनदान देकर तुम पाण्डवोंपर यह महान् अनुग्रह करो ।। १८ ।।

स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति वा पुनः ।
प्रपन्ना मामियं चेति दयां कर्तुमिहार्हसि ।। १९ ।।

'महाबाहो! तुम यह समझकर कि यह मेरी बहिन है अथवा जिसका बेटा मारा गया है, वह दुखिया है अथवा शरणमें आयी हुई एक दयनीय अबला है, मुझपर दया करने योग्य हो' ।। १९ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सुभद्रावाक्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ।। ६७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सुभद्राका वचनविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६७ ।।

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णका प्रसूतिकागृहमें प्रवेश, उत्तराका विलाप और अपने पुत्रको जीवित करनेके लिये प्रार्थना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्च्छितः ।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र! सुभद्राके ऐसा कहनेपर केशिहन्ता केशव दुःखसे व्याकुल हो उसे प्रसन्न करते हुए-से उच्च स्वरमें बोले—‘बहिन! ऐसा ही होगा’ ।। १ ।।

वाक्येनैतेन हि तदा तं जनं पुरुषर्षभः ।
ह्लादयामास स विभुर्घर्मार्तं सलिलैरिव ।। २ ।।

जैसे धूपसे तपे हुए मनुष्यको जलसे नहला देनेपर बड़ी शान्ति मिल जाती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने इस अमृतमय वचनके द्वारा सुभद्रा तथा अन्तःपुरकी दूसरी स्त्रियोंको महान् आह्लाद प्रदान किया ।। २ ।।

ततः स प्राविशत् तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव ।
अर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ।। ३ ।।

पुरुषसिंह! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही तुम्हारे पिताके जन्मस्थान—सूतिकागारमें गये; जो सफेद फूलोंकी मालाओंसे विधिपूर्वक सजाया गया था ।। ३ ।।

अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतोदिशम् ।
घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ।। ४ ।।

महाबाहो! उसके चारों ओर जलसे भरे हुए कलश रखे गये थे। घीसे तर किये हुए तेन्दुक नामक काष्ठके कई टुकड़े जल रहे थे तथा यत्र-तत्र सरसों बिखेरी गयी थी ।। ४ ।।

अस्त्रैश्च विमलैर्न्यस्तैः पावकैश्च समन्ततः ।
वृद्धाभिश्चापि रामाभिः परिचारार्थमावृतम् ।। ५ ।।
दक्षैश्च परितो धीर भिषग्भिः कुशलैस्तथा ।

धैर्यशाली राजन्! उस घरके चारों ओर चमकते हुए तेज हथियार रखे गये थे और सब ओर आग प्रज्वलित की गयी थी। सेवाके लिये उपस्थित हुई बूढ़ी स्त्रियोंने उस स्थानको घेर रखा था तथा अपने-अपने कार्यमें कुशल चतुर चिकित्सक भी चारों ओर मौजूद थे ।। ५½ ।।

ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ।। ६ ।।
द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत् कुशलैर्जनैः ।

तेजस्वी श्रीकृष्णने देखा कि व्यवस्थाकुशल मनुष्योंद्वारा वहाँ सब ओर राक्षसोंका निवारण करनेवाली नाना प्रकारकी वस्तुएँ विधिपूर्वक रखी गयी थीं ।। ६½ ।।

तथायुक्तं च तद् दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव ।। ७ ।।
हृष्टोऽभवद् हृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत् ।

तुम्हारे पिताके जन्मस्थानको इस प्रकार आवश्यक वस्तुओंसे सुसज्जित देख भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और 'बहुत अच्छा' कहकर उस प्रबन्धकी प्रशंसा करने लगे ।। ७½ ।।

तथा ब्रुवति वार्ष्णेये प्रहृष्टवदने तदा ।। ८ ।।
द्रौपदी त्वरिता गत्वा वैराटीं वाक्यमब्रवीत् ।

जब भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नमुख होकर उसकी सराहना कर रहे थे, उसी समय द्रौपदी बड़ी तेजीके साथ उत्तराके पास गयी और बोली— ।। ८½ ।।

अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः ।। ९ ।।
पुराणर्षिरचिन्त्यात्मा समीपमपराजितः ।

'कल्याणि! यह देखो, तुम्हारे श्वशुरतुल्य, अचिन्त्य-स्वरूप, किसीसे पराजित न होनेवाले, पुरातन ऋषि भगवान् मधुसूदन तुम्हारे पास आ रहे हैं' ।। ९½ ।।

सापि बाष्पकलां वाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह ।। १० ।।
सुसंवीताभवद् देवी देववत् कृष्णमीयुषी ।
सा तथा दूयमानेन हृदयेन तपस्विनी ।। ११ ।।
दृष्ट्वा गोविन्दमायान्तं कृपणं पर्यदेवयत् ।

यह सुनकर उत्तराने अपने आँसुओंको रोककर रोना बंद कर दिया और अपने सारे शरीरको वस्त्रोंसे ढक लिया। श्रीकृष्णके प्रति उसकी भगवद्बुद्धि थी; इसलिये उन्हें आते देख वह तपस्विनी बाला व्यथित हृदयसे करुणविलाप करती हुई गद्गद-कण्ठसे इस प्रकार बोली— ।। १०-११½ ।।

पुण्डरीकाक्ष पश्यावां बालेन हि विनाकृतौ ।
अभिमन्युं च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन ।। १२ ।।

'कमलनयन! जनार्दन! देखिये, आज मैं और मेरे पति दोनों ही संतानहीन हो गये। आर्यपुत्र तो युद्धमें वीरगतिको प्राप्त हुए हैं; परंतु मैं पुत्रशोकसे मारी गयी। इस प्रकार हम दोनों समान रूपसे ही कालके ग्रास बन गये ।। १२ ।।

वार्ष्णेय मधुहन् वीर शिरसा त्वां प्रसादये ।
द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ।। १३ ।।

'वृष्णिनन्दन! वीर मधुसूदन! मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपका कृपाप्रसाद प्राप्त करना चाहती हूँ। द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके अस्त्रसे दग्ध हुए मेरे इस पुत्रको जीवित कर

दीजिये ।। १३ ।।

यदि स्म धर्मराज्ञा वा भीमसेनेन वा पुनः ।
त्वया वा पुण्डरीकाक्ष वाक्यमुक्तमिदं भवेत् ।। १४ ।।
अजानतीमिषीकेयं जनित्रीं हन्त्विति प्रभो ।
अहमेव विनष्टा स्यां नैतदेवंगते भवेत् ।। १५ ।।

'प्रभो! पुण्डरीकाक्ष! यदि धर्मराज अथवा आर्य भीमसेन या आपने ही ऐसा कह दिया होता कि यह सींक इस बालकको न मारकर इसकी अनजान माताको ही मार डाले, तब केवल मैं ही नष्ट हुई होती। उस दशामें यह अनर्थ नहीं होता ।। १४-१५ ।।

गर्भस्थस्यास्य बालस्य ब्रह्मास्त्रेण निपातनम् ।
कृत्वा नृशंसं दुर्बुद्धिर्द्रौणिः किं फलमश्नुते ।। १६ ।।

'हाय! इस गर्भके बालकको ब्रह्मास्त्रसे मार डालनेका क्रूरतापूर्ण कर्म करके दुर्बुद्धि द्रोणपुत्र अश्वत्थामा कौन-सा फल पा रहा है ।। १६ ।।

सा त्वां प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिबर्हणम् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि गोविन्द नायं संजीवते यदि ।। १७ ।।

'गोविन्द! आप शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं। मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करके आपसे इस बालकके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ। यदि यह जीवित नहीं हुआ तो मैं भी अपने प्राण त्याग दूँगी ।। १७ ।।

अस्मिन् हि बहवः साधो ये ममासन् मनोरथाः ।
ते द्रोणपुत्रेण हताः किं नु जीवामि केशव ।। १८ ।।

'साधुपुरुष केशव! इस बालकपर मैंने जो बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने उन सबको नष्ट कर दिया। अब मैं किसलिये जीवित रहूँ? ।। १८ ।।

आसीन्मम मतिः कृष्ण पुत्रोत्सङ्गा जनार्दन ।
अभिवादयिष्ये हृष्टेति तदिदं वितथीकृतम् ।। १९ ।।

'श्रीकृष्ण! जनार्दन! मेरी बड़ी आशा थी कि अपने इस बच्चेको गोदमें लेकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके चरणोंमें अभिवादन करूँगी; किंतु अब वह व्यर्थ हो गयी ।। १९ ।।

चपलाक्षस्य दायादे मृतेऽस्मिन् पुरुषर्षभ ।
विफला मे कृताः कृष्ण हृदि सर्वे मनोरथाः ।। २० ।।

'पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण! चंचल नेत्रोंवाले पतिदेवके इस पुत्रकी मृत्यु हो जानेसे मेरे हृदयके सारे मनोरथ निष्फल हो गये ।। २० ।।

चपलाक्षः किलातीव प्रियस्ते मधुसूदन ।
सुतं पश्य त्वमस्यैनं ब्रह्मास्त्रेण निपातितम् ।। २१ ।।

'मधुसूदन! सुनती हूँ कि चंचल नेत्रोंवाले अभिमन्यु आपको बहुत ही प्रिय थे। उन्हींका बेटा आज ब्रह्मास्त्रकी मारसे मरा पड़ा है। आप इसे आँख भरकर देख लीजिये ।। २१ ।।

कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं यथास्य जनकस्तथा ।
यः पाण्डवीं श्रियं त्वक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ।। २२ ।।

‘यह बालक भी अपने पिताके ही समान कृतघ्न और नृशंस है, जो पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीको छोड़कर आज अकेला ही यमलोक चला गया ।। २२ ।।

मया चैतत् प्रतिज्ञातं रणमूर्धनि केशव ।
अभिमन्यौ हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति ।। २३ ।।

‘केशव! मैंने युद्धके मुहानेपर यह प्रतिज्ञा की थी कि ‘मेरे वीर पतिदेव! यदि आप मारे गये तो मैं शीघ्र ही परलोकमें आपसे आ मिलूँगी ।। २३ ।।

तच्च नाकरवं कृष्ण नृशंसा जीवितप्रिया ।
इदानीं मां गतां तत्र किं नु वक्ष्यति फाल्गुनिः ।। २४ ।।

‘परंतु श्रीकृष्ण! मैंने उस प्रतिज्ञाका पालन नहीं किया। मैं बड़ी कठोरहृदया हूँ। मुझे पतिदेव नहीं, ये प्राण ही प्यारे हैं। यदि इस समय मैं परलोकमें जाऊँ तो वहाँ अर्जुनकुमार मुझसे क्या कहेंगे?’ ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तरावाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ।। ६८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें उत्तराका वाक्यविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६८ ।।

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

उत्तराका विलाप और भगवान् श्रीकृष्णका उसके मृत बालकको जीवन-दान देना

वैशम्पायन उवाच

सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी ।
उत्तरा न्यपतद् भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पुत्रका जीवन चाहनेवाली तपस्विनी उत्तरा उन्मादिनी-सी होकर इस प्रकार दीनभावसे करुण विलाप करके पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। १ ।।

तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्रपरिच्छदाम् ।
चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः ।। २ ।।

जिसका पुत्ररूपी परिवार नष्ट हो गया था, उस उत्तराको पृथ्वीपर पड़ी हुई देख दुःखसे आतुर हुई कुन्तीदेवी तथा भरतवंशकी सारी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ।। २ ।।

मुहूर्तमिव राजेन्द्र पाण्डवानां निवेशनम् ।
अप्रेक्षणीयमभवदार्तस्वनविनादितम् ।। ३ ।।

राजेन्द्र! दो घड़ीतक पाण्डवोंका वह भवन आर्तनादसे गूँजता रहा। उस समय उसकी ओर देखते नहीं बनता था ।। ३ ।।

सा मुहूर्तं च राजेन्द्र पुत्रशोकाभिपीडिता ।
कश्मलाभिहता वीर वैराटी त्वभवत् तदा ।। ४ ।।

वीर राजेन्द्र! पुत्रशोकसे पीड़ित वह विराटकुमारी उत्तरा उस समय दो घड़ीतक मूर्च्छामें पड़ी रही ।। ४ ।।

प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ ।
अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ! थोड़ी देर बाद उत्तरा जब होशमें आयी, तब उस मरे हुए पुत्रको गोदमें लेकर यों कहने लगी— ।। ५ ।।

धर्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्मं नावबुध्यसे ।
यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम् ।। ६ ।।

'बेटा! तू तो धर्मज्ञ पिताका पुत्र है। फिर तेरे द्वारा जो अधर्म हो रहा है, उसे तू क्यों नहीं समझता? वृष्णिवंशके श्रेष्ठ वीर भगवान् श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं तो भी तू इन्हें प्रणाम क्यों नहीं करता? ।। ६ ।।

पुत्र गत्वा मम वचो ब्रूयास्त्वं पितरं त्विदम् ।

दुर्मरं प्राणिनां वीर कालेऽप्राप्ते कथंचन ।। ७ ।।
याहं त्वया विनाद्येह पत्या पुत्रेण चैव ह ।
मर्तव्ये सति जीवामि हतस्वस्तिरकिंचना ।। ८ ।।

'वत्स! परलोकमें जाकर तू अपने पितासे मेरी यह बात कहना—'वीर! अन्तकाल आये बिना प्राणियोंके लिये किसी तरह भी मरना बड़ा कठिन होता है। तभी तो मैं यहाँ आप-जैसे पति तथा इस पुत्रसे बिछुड़कर भी जब कि मुझे मर जाना चाहिये, अबतक जी रही हूँ; मेरा सारा मंगल नष्ट हो गया है। मैं अकिंचन हो गयी हूँ' ।।

अथवा धर्मराज्ञाहमनुज्ञाता महाभुज ।
भक्षयिष्ये विषं घोरं प्रवेक्ष्ये वा हुताशनम् ।। ९ ।।

'महाबाहो! अब मैं धर्मराजकी आज्ञा लेकर भयानक विष खा लूँगी अथवा प्रज्वलित अग्निमें समा जाऊँगी ।। ९ ।।

अथवा दुर्मरं तात यदिदं मे सहस्रधा ।
पतिपुत्रविहीनाया हृदयं न विदीर्यते ।। १० ।।

'तात! जान पड़ता है, मनुष्यके लिये मरना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि पति और पुत्रसे हीन होनेपर भी मेरे इस हृदयके हजारों टुकड़े नहीं हो रहे हैं ।। १० ।।

उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमं दुःखितां प्रपितामहीम् ।
आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे ।। ११ ।।

'बेटा! उठकर खड़ा हो जा। देख! ये तेरी परदादी (कुन्ती) कितनी दुखी हैं। ये तेरे लिये आर्त, व्यथित एवं दीन होकर शोकके समुद्रमें डूब गयी हैं ।। ११ ।।

आर्यां च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम् ।
मां च पश्य सुदुःखार्तां व्याधविद्धां मृगीमिव ।। १२ ।।

'आर्या पांचाली (द्रौपदी)-की ओर देख, अपनी दादी तपस्विनी सुभद्राकी ओर दृष्टिपात कर और व्याधके बाणोंसे बिंधी हुई हरिणीकी भाँति अत्यन्त दुःखसे आर्त हुई मुझ अपनी माँको भी देख ले ।। १२ ।।

उत्तिष्ठ पश्य वदनं लोकनाथस्य धीमतः ।
पुण्डरीकपलाशाक्षं पुरेव चपलेक्षणम् ।। १३ ।।

'बेटा! उठकर खड़ा हो जा और बुद्धिमान् जगदीश्वर श्रीकृष्णके कमलदलके समान नेत्रोंवाले मुखारविन्दकी शोभा निहार, ठीक उसी तरह जैसे पहले मैं चंचल नेत्रोंवाले तेरे पिताका मुँह निहारा करती थी' ।। १३ ।।

एवं विप्रलपन्तीं तु दृष्ट्वा निपतितां पुनः ।
उत्तरां तां स्त्रियं सर्वाः पुनरुत्थापयंस्ततः ।। १४ ।।

इस प्रकार विलाप करती हुई उत्तराको पुनः पृथ्वीपर पड़ी देख सब स्त्रियोंने उसे फिर उठाकर बिठाया ।। १४ ।।

उत्थाय च पुनर्धैर्यात् तदा मत्स्यपतेः सुता ।
प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत् ।। १५ ।।

पुनः उठकर धैर्य धारण करके मत्स्यराजकुमारीने पृथ्वीपर ही हाथ जोड़कर कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम किया ।। १५ ।।

श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः ।
उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ।। १६ ।।

उसका महान् विलाप सुनकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने आचमन करके अश्वत्थामाके चलाये हुए ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया ।। १६ ।।

प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः ।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयन् जगत् ।। १७ ।।

तत्पश्चात् विशुद्ध हृदयवाले और कभी अपनी महिमासे विचलित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने उस बालकको जीवित करनेकी प्रतिज्ञा की और सम्पूर्ण जगत्को सुनाते हुए इस प्रकार कहा— ।। १७ ।।

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ।। १८ ।।

'बेटी उत्तरा! मैं झूठ नहीं बोलता। मैंने जो प्रतिज्ञा की है, वह सत्य होकर ही रहेगी। देखो, मैं समस्त देहधारियोंके देखते-देखते अभी इस बालकको जिलाये देता हूँ ।। १८ ।।

नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ।। १९ ।।

'मैंने खेल-कूदमें भी कभी मिथ्या भाषण नहीं किया है और युद्धमें पीठ नहीं दिखायी है। इस शक्तिके प्रभावसे अभिमन्युका यह बालक जीवित हो जाय ।। १९ ।।

यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ।। २० ।।

'यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष प्रिय हों तो अभिमन्युका यह पुत्र, जो पैदा होते ही मर गया था, फिर जीवित हो जाय ।। २० ।।

यथाहं नाभिजानामि विजये तु कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ।। २१ ।।

'मैंने कभी अर्जुनसे विरोध किया हो, इसका स्मरण नहीं है; इस सत्यके प्रभावसे यह मरा हुआ बालक अभी जीवित हो जाय ।। २१ ।।

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ।। २२ ।।

'यदि मुझमें सत्य और धर्मकी निरन्तर स्थिति बनी रहती हो तो अभिमन्युका यह मरा हुआ बालक जी उठे ।। २२ ।।

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ।। २३ ।।

'मैंने कंस और केशीका धर्मके अनुसार वध किया है, इस सत्यके प्रभावसे यह बालक फिर जीवित हो जाय' ।। २३ ।।

इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ।। २४ ।।

भरतश्रेष्ठ! महाराज! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उस बालकमें चेतना आ गयी। वह धीरे-धीरे अंग-संचालन करने लगा ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि परिक्षित्संजीवने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ।। ६९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें परिक्षित्को जीवनदानविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ६९ ।।

सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा राजा परिक्षित्‌का नामकरण तथा पाण्डवोंका हस्तिनापुरके समीप आगमन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मास्त्रं तु यदा राजन् कृष्णेन प्रतिसंहृतम् ।
तदा तद् वेश्म त्वत्पित्रा तेजसाभिविदीपितम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भगवान् श्रीकृष्णने जब ब्रह्मास्त्रको शान्त कर दिया, उस समय वह सूतिकागृह तुम्हारे पिताके तेजसे देदीप्यमान होने लगा ।। १ ।।

ततो रक्षांसि सर्वाणि नेशुस्त्यक्त्वा गृहं तु तत् ।
अन्तरिक्षे च वागासीत् साधु केशव साध्विति ।। २ ।।

फिर तो बालकोंका विनाश करनेवाले समस्त राक्षस उस घरको छोड़कर भाग गये। इसी समय आकाशवाणी हुई—‘केशव! तुम्हें साधुवाद! तुमने बहुत अच्छा कार्य किया’ ।। २ ।।

तदस्त्रं ज्वलितं चापि पितामहमगात् तदा ।
ततः प्राणान् पुनर्लेभे पिता तव नरेश्वर ।। ३ ।।

साथ ही वह प्रज्वलित ब्रह्मास्त्र ब्रह्मलोकको चला गया। नरेश्वर! इस तरह तुम्हारे पिताको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ ।। ३ ।।

व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् ।
बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ।। ४ ।।

राजन्! उत्तराका वह बालक अपने उत्साह और बलके अनुसार हाथ-पैर हिलाने लगा, यह देख भरतवंशकी उन सभी स्त्रियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ।। ४ ।।

ब्राह्मणान् वाचयामासुर्गोविन्दस्यैव शासनात् ।
ततस्ता मुदिताः सर्वाः प्रशशंसुर्जनार्दनम् ।। ५ ।।

उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराया। फिर वे सब आनन्दमग्न होकर श्रीकृष्णके गुण गाने लगीं ।। ५ ।।

स्त्रियो भरतसिंहानां नावं लब्ध्वेव पारगाः ।
कुन्ती द्रुपदपुत्री च सुभद्रा चोत्तरा तथा ।। ६ ।।
स्त्रियश्चान्या नृसिंहानां बभूवुर्हृष्टमानसाः ।

जैसे नदीके पार जानेवाले मनुष्योंको नाव पाकर बड़ी खुशी होती है, उसी प्रकार भरतवंशी वीरोंकी वे स्त्रियाँ—कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा एवं नरवीरोंकी स्त्रियाँ उस बालकके जीवित होनेसे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं ।। ६½ ।।

तत्र मल्ला नटाश्चैव ग्रन्थिकाः सौख्यशायिकाः ।। ७ ।।
सूतमागधसंघाश्चाप्यस्तुवंस्तं जनार्दनम् ।
कुरुवंशस्तवाख्याभिराशीर्भिर्भरतर्षभ ।। ८ ।।

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मल्ल, नट, ज्यौतिषी, सुखका समाचार पूछनेवाले सेवक तथा सूतों और मागधोंके समुदाय कुरुवंशकी स्तुति और आशीर्वादके साथ भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान करने लगे ।। ७-८ ।।

उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् ।
अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ।। ९ ।।

भरतनन्दन! फिर प्रसन्न हुई उत्तरा यथासमय उठकर पुत्रको गोदमें लिये हुए यदुनन्दन श्रीकृष्णके समीप आयी और उन्हें प्रणाम किया ।। ९ ।।

तस्य कृष्णो ददौ हृष्टो बहुरत्नं विशेषतः ।
तथान्ये वृष्णिशार्दूला नाम चास्याकरोत् प्रभुः ।। १० ।।
पितुस्तव महाराज सत्यसंधो जनार्दनः ।

भगवान् श्रीकृष्णने भी प्रसन्न होकर उस बालकको बहुत-से रत्न उपहारमें दिये। फिर अन्य यदुवंशियोंने भी नाना प्रकारकी वस्तुएँ भेंट कीं। महाराज! इसके बाद सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णने तुम्हारे पिताका इस प्रकार नामकरण किया ।। १०½ ।।

परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः ।। ११ ।।
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत् तदा ।

‘कुरुकुलके परिक्षीण हो जानेपर यह अभिमन्युका बालक उत्पन्न हुआ है। इसलिये इसका नाम परिक्षित् होना चाहिये।’ ऐसा भगवान्‌ने कहा ।। ११½ ।।

सोऽवर्धत यथाकालं पिता तव जनाधिप ।। १२ ।।
मनःप्रह्लादनश्चासीत् सर्वलोकस्य भारत ।

नरेश्वर! इस प्रकार नामकरण हो जानेके बाद तुम्हारे पिता परिक्षित् कालक्रमसे बड़े होने लगे। भारत! वे सब लोगोंके मनको आनन्दमग्न किये रहते थे ।। १२½ ।।

मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत ।। १३ ।।
अथाजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय पाण्डवाः ।

वीर भरतनन्दन! जब तुम्हारे पिताकी अवस्था एक महीनेकी हो गयी, उस समय पाण्डवलोग बहुत-सी रत्नराशि लेकर हस्तिनापुरको लौटे ।। १३½ ।।

तान् समीपगतान् श्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुङ्गवाः ।। १४ ।।

वृष्णिवंशके प्रमुख वीरोंने जब सुना कि पाण्डव लोग नगरके समीप आ गये हैं, तब वे उनकी अगवानीके लिये बाहर निकले ।। १४ ।।

अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् ।
पताकाभिर्विचित्राभिर्ध्वजैश्च विविधैरपि ।। १५ ।।

पुरवासी मनुष्योंने फूलोंकी मालाओं, वन्दनवारों, भाँति-भाँतिकी ध्वजाओं तथा विचित्र-विचित्र पताकाओंसे हस्तिनापुरको सजाया था ।। १५ ।।

वेश्मानि समलंचक्रुः पौराश्चापि जनेश्वर ।
देवतायतनानां च पूजाः सुविविधास्तथा ।। १६ ।।
संदिदेशाथ विदुरः पाण्डुपुत्रप्रियेप्सया ।
राजमार्गाश्च तत्रासन् सुमनोभिरलंकृताः ।। १७ ।।

नरेश्वर! नागरिकोंने अपने-अपने घरोंकी भी सजावट की थी। विदुरजीने पाण्डवोंका प्रिय करनेकी इच्छासे देवमन्दिरोंमें विविध प्रकारसे पूजा करनेकी आज्ञा दी। हस्तिनापुरके सभी राजमार्ग फूलोंसे अलंकृत किये गये थे ।। १६-१७ ।।

शुशुभे तत्पुरं चापि समुद्रौघनिभस्वनम् ।
नर्तकैश्चापि नृत्यद्भिर्गायकानां च निःस्वनैः ।। १८ ।।

नाचते हुए नर्तकों और गानेवाले गायकोंके शब्दोंसे उस नगरकी बड़ी शोभा हो रही थी। वहाँ समुद्रकी जलराशिकी गर्जनाके समान कोलाहल हो रहा था ।। १८ ।।

आसीद् वैश्रवणस्येव निवासस्तत्पुरं तदा ।
वन्दिभिश्च नरै राजन् स्त्रीसहायैश्च सर्वशः ।। १९ ।।
तत्र तत्र विविक्तेषु समन्तादुपशोभितम् ।
पताका धूयमानाश्च समन्तान्मातरिश्वना ।। २० ।।
अदर्शयन्निव तदा कुरून् वै दक्षिणोत्तरान् ।

राजन्! उस समय वह नगर कुबेरकी अलकापुरीके समान प्रतीत होता था। वहाँ सब ओर एकान्त स्थानोंमें स्त्रियोंसहित बंदीजन खड़े थे, जिनसे उस पुरीकी शोभा बढ़ गयी थी। उस समय हवाके झोंकेसे नगरमें सब ओर पताकाएँ फहरा रही थीं, जो दक्षिण और उत्तर कुरु नामक देशोंकी शोभा दिखाती थीं ।। १९-२०½ ।।

अघोषयंस्तदा चापि पुरुषा राजधूर्गताः ।
सर्वराष्ट्रविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः ।। २१ ।।

राज-काज सँभालनेवाले पुरुषोंने सब ओर यह घोषणा करा दी कि आज समूचे राष्ट्रमें उत्सव मनाया जाय और सब लोग रत्नोंके आभूषण या उत्तमोत्तम गहने-कपड़े पहनकर इस उत्सवमें सम्मिलित हों ।। २१ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि पाण्डवागमने सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें पाण्डवोंका आगमनविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७० ।।

एकसप्ततितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण और उनके साथियोंद्वारा पाण्डवोंका स्वागत, पाण्डवोंका नगरमें आकर सबसे मिलना और व्यासजी तथा श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको यज्ञके लिये आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

तान् समीपगतान् श्रुत्वा पाण्डवान् शत्रुकर्शनः ।

वासुदेवः सहामात्यः प्रययौ ससुहृद्गणः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंके समीप आनेका समाचार सुनकर शत्रुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्रों और मन्त्रियोंके साथ उनसे मिलनेके लिये चले ।। १ ।।

ते समेत्य यथान्यायं प्रत्युद्याता दिदृक्षया ।

ते समेत्य यथाधर्मं पाण्डवा वृष्णिभिः सह ।। २ ।।

विविशुः सहिता राजन् पुरं वारणसाह्वयम् ।

उन सब लोगोंने पाण्डवोंसे मिलनेके लिये आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और सब यथायोग्य एक-दूसरेसे मिले। राजन्! धर्मानुसार पाण्डव वृष्णियोंसे मिलकर सब एक साथ हो हस्तिनापुरमें प्रविष्ट हुए ।। २½ ।।

महतस्तस्य सैन्यस्य खुरनेमिस्वनेन ह ।। ३ ।।

द्यावापृथिव्योः खं चैव सर्वमासीत् समावृतम् ।

उस विशाल सेनाके घोड़ोंकी टापों और रथके पहियोंकी घरघराहटके तुमुल घोषसे पृथ्वी और स्वर्गके बीचका सारा आकाश व्याप्त हो गया था ।। ३½ ।।

ते कोशानग्रतः कृत्वा विविशुः स्वपुरं तदा ।। ४ ।।

पाण्डवाः प्रीतमनसः सामात्याः ससुहृद्गणाः ।

वे खजानेको आगे करके अपनी राजधानीमें घुसे। उस समय मन्त्रियों एवं सुहृदोंसहित समस्त पाण्डवोंका मन प्रसन्न था ।। ४½ ।।

ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।। ५ ।।

कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे ।

वे यथायोग्य सबसे मिलकर राजा धृतराष्ट्रके पास गये। अपना-अपना नाम बताते हुए उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे ।। ५½ ।।

धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।। ६ ।।

कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तम ।

नृपश्रेष्ठ! भरतभूषण! धृतराष्ट्रसे मिलनेके बाद वे सुबलपुत्री गान्धारी और कुन्तीसे मिले ।। ६½ ।।

विदुरं पूजयित्वा च वैश्यापुत्रं समेत्य च ।। ७ ।।

पूज्यमानाः स्म ते वीरा व्यरोचन्त विशाम्पते ।

प्रजानाथ! फिर विदुरका सम्मान करके वैश्यापुत्र युयुत्सुसे मिलकर उन सबके द्वारा सम्मानित होते हुए वीर पाण्डव बड़ी शोभा पा रहे थे ।। ७½ ।।

ततस्तत् परमाश्चर्यं विचित्रं महदद्भुतम् ।। ८ ।।

शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत ।

भरतनन्दन! तत्पश्चात् उन वीरोंने तुम्हारे पिताके जन्मका वह आश्चर्यपूर्ण विचित्र, महान् एवं अद्भुत वृत्तान्त सुना ।। ८½ ।।

तदुपश्रुत्य तत् कर्म वासुदेवस्य धीमतः ।। ९ ।।

पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम् ।

परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णका वह अलौकिक कर्म सुनकर पाण्डवोंने उन पूजनीय देवकीनन्दन श्रीकृष्णका पूजन किया अर्थात् उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।। ९½ ।।

ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।। १० ।।

आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम् ।

तस्य सर्वे यथान्यायं पूजांचक्रुः कुरूद्वहाः ।। ११ ।।

इसके थोड़े दिनों बाद महातेजस्वी सत्यवतीनन्दन व्यासजी हस्तिनापुरमें पधारे। कुरुकुलतिलक समस्त पाण्डवोंने उनका यथोचित पूजन किया ।। १०-११ ।।

सह वृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासांचक्रिरे तदा ।

तत्र नानाविधाकाराः कथाः समभिकीर्त्य वै ।। १२ ।।

युधिष्ठिरो धर्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत् ।

फिर वृष्णि एवं अन्धकवंशी वीरोंके साथ वे उनकी सेवामें बैठ गये। वहाँ नाना प्रकारकी बातें करके धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीसे इस प्रकार कहा— ।। १२½ ।।

भवत्प्रसादाद् भगवन् यदिदं रत्नमाहृतम् ।। १३ ।।

उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ ।

‘भगवन्! आपकी कृपासे जो वह रत्न लाया गया है, उसका अश्वमेध नामक महायज्ञमें मैं उपयोग करना चाहता हूँ ।। १३½ ।।

तमनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम ।

त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः ।। १४ ।।

‘मुनिश्रेष्ठ! मैं चाहता हूँ कि इसके लिये आपकी आज्ञा प्राप्त हो जाय, क्योंकि हम सब लोग आप और महात्मा श्रीकृष्णके अधीन हैं’ ।। १४ ।।

व्यास उवाच

अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां यदनन्तरम् ।
यजस्व वाजिमेधेन विधिवत् दक्षिणावता ।। १५ ।।

व्यासजीने कहा—राजन्! मैं तुम्हें यज्ञके लिये आज्ञा देता हूँ। अब इसके बाद जो भी आवश्यक कार्य हो, उसे आरम्भ करो। विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो ।। १५ ।।

अश्वमेधो हि राजेन्द्र पावनः सर्वपाप्मनाम् ।
तेनेष्ट्वा त्वं विपाप्मा वै भविता नात्र संशयः ।। १६ ।।

राजेन्द्र! अश्वमेधयज्ञ समस्त पापोंका नाश करके यजमानको पवित्र बनानेवाला है। उसका अनुष्ठान करके तुम पापसे मुक्त हो जाओगे, इसमें संशय नहीं है ।। १६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराहरणे मतिम् ।। १७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन! व्यासजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा कुरुराज युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञ आरम्भ करनेका विचार किया ।। १७ ।।

समनुज्ञाप्य तत् सर्वं कृष्णद्वैपायनं नृपः ।
वासुदेवमथाभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ।। १८ ।।

श्रीकृष्णद्वैपायन व्याससे सब बातोंके लिये आज्ञा ले प्रवचनकुशल राजा युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णके पास जाकर इस प्रकार बोले— ।। १८ ।।

देवकी सुप्रजा देवी त्वया पुरुषसत्तम ।
यद् ब्रूयां त्वां महाबाहो तत् कृथास्त्वमिहाच्युत ।। १९ ।।

‘पुरुषोत्तम! महाबाहु अच्युत! आपको ही पाकर देवकीदेवी उत्तम संतानवाली मानी गयी हैं। मैं आपसे जो कुछ कहूँ, उसे आप यहाँ सम्पन्न करें ।। १९ ।।

त्वत्प्रभावार्जितान् भोगानश्नीम यदुनन्दन ।
पराक्रमेण बुद्ध्या च त्वयेयं निर्जिता मही ।। २० ।।

‘यदुनन्दन! हम आपके ही प्रभावसे प्राप्त हुई इस पृथ्वीका उपभोग कर रहे हैं। आपने ही अपने पराक्रम और बुद्धिबलसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीको जीता है ।। २० ।।

दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमो गुरुः ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ।। २१ ।।

‘दशार्हनन्दन! आप ही इस यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करें; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। आपके यज्ञानुष्ठान पूर्ण कर लेनेपर निश्चय ही हमारे सब पाप नष्ट हो जायँगे ।। २१ ।।

त्वं हि यज्ञोऽक्षरः सर्वस्त्वं धर्मस्त्वं प्रजापतिः ।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः ।। २२ ।।

‘आप ही यज्ञ, अक्षर, सर्वस्वरूप, धर्म, प्रजापति एवं सम्पूर्ण भूतोंकी गति हैं—यह मेरी निश्चित धारणा है’ ।। २२ ।।

वासुदेव उवाच

त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिंदम ।
त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता मतिः ।। २३ ।।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! शत्रुदमन नरेश! आप ही ऐसी बात कह सकते हैं। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके अवलम्ब हैं ।। २३ ।।

त्वं चाद्य कुरुवीराणां धर्मेण हि विराजसे ।
गुणीभूताः स्म ते राजंस्त्वं नो राजा गुरुर्मतः ।। २४ ।।

राजन्! समस्त कौरववीरोंमें एकमात्र आप ही धर्मसे सुशोभित होते हैं। हमलोग आपके अनुयायी हैं और आपको अपना राजा एवं गुरु मानते हैं ।। २४ ।।

यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य एष क्रतुस्त्वया ।
युनक्तु नो भवान् कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत ।। २५ ।।

इसलिये भारत! आप हमारी अनुमतिसे स्वयं ही इस यज्ञका अनुष्ठान कीजिये तथा हमलोगोंमेंसे जिसको जिस कामपर लगाना चाहते हों, उसे उस कामपर लगनेकी आज्ञा दीजिये ।। २५ ।।

सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्तास्मि तेऽनघ ।
भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ ।
इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति पार्थिवे ।। २६ ।।

निष्पाप नरेश! मैं आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ कहेंगे, वह सब करूँगा। आप राजा हैं, आपके द्वारा यज्ञ होनेपर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको भी यज्ञानुष्ठानका फल मिल जायगा ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि
कृष्णव्यासानुज्ञायामेकसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें श्रीकृष्ण और व्यासकी युधिष्ठिरको यज्ञ करनेके लिये आज्ञाविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७१ ।।

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

व्यासजीकी आज्ञासे अश्वकी रक्षाके लिये अर्जुनकी, राज्य और नगरकी रक्षाके लिये भीमसेन और नकुलकी तथा कुटुम्ब-पालनके लिये सहदेवकी नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ।। १ ।।
यदा कालं भवान् वेत्ति हयमेधस्य तत्त्वतः ।
दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे क्रतुः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर मेधावी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीको सम्बोधित करके कहा—‘भगवन्! जब आपको अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करनेका ठीक समय जान पड़े तभी आकर मुझे उसकी दीक्षा दें; क्योंकि मेरा यज्ञ आपके ही अधीन है’ ।। १-२ ।।

व्यास उवाच

अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ।
विधानं यद् यथाकालं तत् कर्तारो न संशयः ।। ३ ।।

व्यासजीने कहा—कुन्तीनन्दन! जब यज्ञका समय आयेगा, उस समय मैं, पैल और याज्ञवल्क्य—ये सब आकर तुम्हारे यज्ञका सारा विधि-विधान सम्पन्न करेंगे; इसमें संशय नहीं है ।। ३ ।।

चैत्र्यां हि पौर्णमास्यां तु तव दीक्षा भविष्यति ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां च यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ।। ४ ।।

पुरुषप्रवर! आगामी चैत्रकी पूर्णिमाको तुम्हें यज्ञकी दीक्षा दी जायगी, तबतक तुम उसके लिये सामग्री संचित करो ।। ४ ।।

अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः ।
मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ।। ५ ।।

अश्वविद्याके ज्ञाता सूत और ब्राह्मण यज्ञार्थकी सिद्धिके लिये पवित्र अश्वकी परीक्षा करें ।। ५ ।।

तमुत्सृज यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् ।
स पर्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव दर्शयन् ।। ६ ।।

पृथ्वीनाथ! जो अश्व चुना जाय, उसे शास्त्रीय विधिके अनुसार छोड़ो और वह तुम्हारे दीप्तिमान् यशका विस्तार करता हुआ समुद्रपर्यन्त समस्त पृथ्वीपर भ्रमण करे ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः ।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ।। ७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र! यह सुनकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने 'बहुत अच्छा' कहकर ब्रह्मवादी व्यासजीके कथनानुसार सारा कार्य सम्पन्न किया ।। ७ ।।

सम्भाराश्चैव राजेन्द्र सर्वे संकल्पिताऽभवन् ।
स सम्भारान् समाहृत्य नृपो धर्मसुतस्तदा ।। ८ ।।
न्यवेदयदमेयात्मा कृष्णद्वैपायनाय वै ।

राजेन्द्र! उन्होंने मनमें जिन-जिन सामानोंको एकत्र करनेका संकल्प किया था, उन सबको जुटाकर धर्मपुत्र अमेयात्मा राजा युधिष्ठिरने श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीको सूचना दी ।। ८½ ।।

ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।। ९ ।।
यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे ।

तब महातेजस्वी व्यासने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! हमलोग यथासमय उत्तम योग आनेपर तुम्हें दीक्षा देनेको तैयार हैं ।। ९½ ।।

स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ।। १० ।।
तत्र योग्यं भवेत् किंचिद् रौक्मं तत् क्रियतामिति ।

'कुरुनन्दन! इस बीचमें तुम सोनेके 'स्फ्य' और 'कूर्च' बनवा लो तथा और भी जो सुवर्णमय सामान आवश्यक हों, उन्हें तैयार करा डालो ।। १०½ ।।

अश्वश्चोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम् ।
सुगुप्तं चरतां चापि यथाशास्त्रं यथाविधि ।। ११ ।।

'आज शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको क्रमशः सारी पृथ्वीपर घूमनेके लिये छोड़ना चाहिये तथा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे वह सुरक्षितरूपसे सब ओर विचर सके' ।। ११ ।।

युधिष्ठिर उवाच

अयमश्वो यथा ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम् ।
चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ।। १२ ।।
पृथिवीं पर्यटन्तं हि तुरगं कामचारिणम् ।
कः पालयेदिति मुने तद् भवान् वक्तुमर्हति ।। १३ ।।

युधिष्ठिरने कहा—ब्रह्मन्! यह घोड़ा उपस्थित है। इसे किस प्रकार छोड़ा जाय, जिससे यह समूची पृथ्वीपर इच्छानुसार घूम आवे। इसकी व्यवस्था आप ही कीजिये तथा मुने! यह भी बताइये कि भूमण्डलमें इच्छानुसार घूमनेवाले इस घोड़ेकी रक्षा कौन करे? ।। १२-१३ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।। १४ ।।
जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ।। १५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र! युधिष्ठिरके इस तरह पूछनेपर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने कहा—‘राजन्! अर्जुन सब धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ हैं। वे विजयमें उत्साह रखनेवाले, सहनशील और धैर्यवान् हैं; अतः वे ही इस घोड़ेकी रक्षा करेंगे। उन्होंने निवातकवचोंका नाश किया था। वे सम्पूर्ण भूमण्डलको जीतनेकी शक्ति रखते हैं ।। १४-१५ ।।

तस्मिन् ह्यस्त्राणि दिव्यानि दिव्यं संहननं तथा ।
दिव्यं धनुश्चेषुधी च स एनमनुयास्यति ।। १६ ।।

‘उनके पास दिव्य अस्त्र, दिव्य कवच, दिव्य धनुष और दिव्य तरकस हैं; अतः वे ही इस घोड़ेके पीछे-पीछे जायँगे ।। १६ ।।

स हि धर्मार्थकुशलः सर्वविद्याविशारदः ।
यथाशास्त्रं नृपश्रेष्ठ चारयिष्यति ते हयम् ।। १७ ।।

‘नृपश्रेष्ठ! वे धर्म और अर्थमें कुशल तथा सम्पूर्ण विद्याओंमें प्रवीण हैं, इसलिये आपके यज्ञ-सम्बन्धी अश्वका शास्त्रीय विधिके अनुसार संचालन करेंगे ।। १७ ।।

राजपुत्रो महाबाहुः श्यामो राजीवलोचनः ।
अभिमन्योः पिता वीरः स एनं पालयिष्यति ।। १८ ।।

‘जिनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं, श्याम वर्ण है, कमल-जैसे नेत्र हैं, वे अभिमन्युके वीर पिता राजपुत्र अर्जुन इस घोड़ेकी रक्षा करेंगे ।। १८ ।।

भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः ।
समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशाम्पते ।। १९ ।।

‘प्रजानाथ! कुन्तीकुमार भीमसेन भी अत्यन्त तेजस्वी और अमितपराक्रमी हैं। नकुलमें भी वे ही गुण हैं। ये दोनों ही राज्यकी रक्षा करनेमें पूर्ण समर्थ हैं (अतः वे ही राज्यके कार्य देखें) ।। १९ ।।

सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान् ।
कुटुम्बतन्त्रं विधिवत् सर्वमेव महायशाः ।। २० ।।

'कुरुनन्दन! महायशस्वी बुद्धिमान् सहदेव कुटुम्ब-पालनसम्बन्धी समस्त कार्योंकी देखभाल करेंगे' ।। २० ।।

तत् तु सर्वं यथान्यायमुक्तः कुरुकुलोद्वहः ।
चकार फाल्गुनं चापि संदिदेश हयं प्रति ।। २१ ।।

व्यासजीके इस प्रकार बतलानेपर कुरुकुलतिलक युधिष्ठिरने सारा कार्य उसी प्रकार यथोचित रीतिसे सम्पन्न किया और अर्जुनको बुलाकर घोड़ेकी रक्षाके लिये इस प्रकार आदेश दिया ।। २१ ।।

युधिष्ठिर उवाच

एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यताम् ।
त्वमर्हो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ।। २२ ।।

युधिष्ठिर बोले—वीर अर्जुन! यहाँ आओ, तुम इस घोड़ेकी रक्षा करो; क्योंकि तुम्हीं इसकी रक्षा करनेके योग्य हो। दूसरा कोई मनुष्य इसके योग्य नहीं है ।। २२ ।।

ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः ।
तैर्विग्रहो यथा न स्यात् तथा कार्यं त्वयानघ ।। २३ ।।

महाबाहो! निष्पाप अर्जुन! अश्वकी रक्षाके समय जो राजा तुम्हारे सामने आवें, उनके साथ भरसक युद्ध न करना पड़े, ऐसी चेष्टा तुम्हें करनी चाहिये ।। २३ ।।

आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः ।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ।। २४ ।।

महाबाहो! मेरे इस यज्ञका समाचार तुम्हें समस्त राजाओंको बताना चाहिये और उनसे यह कहना चाहिये कि आपलोग यथासमय यज्ञमें पधारें ।। २४ ।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधत् ।। २५ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने भाई सव्यसाची अर्जुनसे ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने भीमसेन और नकुलको नगरकी रक्षाका भार सौंप दिया ।। २५ ।।

कुटुम्बतन्त्रे च तदा सहदेवं युधां पतिम् ।
अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ।। २६ ।।

फिर महाराज धृतराष्ट्रकी सम्मति लेकर युधिष्ठिरने योद्धाओंके स्वामी सहदेवको कुटुम्ब-पालन-सम्बन्धी कार्यमें नियुक्त कर दिया ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि यज्ञसामग्रीसम्पादने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें यज्ञसामग्रीका सम्पादनविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७२ ।।

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

सेनासहित अर्जुनके द्वारा अश्वका अनुसरण

वैशम्पायन उवाच

दीक्षाकाले तु सम्प्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः ।
विधिवद् दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब दीक्षाका समय आया, तब उन व्यास आदि महान् ऋत्विजोंने राजा युधिष्ठिरको विधिपूर्वक अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा दी ।। १ ।।

कृत्वा स पशुबन्धांश्च दीक्षितः पाण्डुनन्दनः ।
धर्मराजो महातेजाः सहर्त्विग्भिर्व्यरोचत ।। २ ।।

पशुबन्ध-कर्म करके यज्ञकी दीक्षा लिये हुए महातेजस्वी पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर ऋत्विजोंके साथ बड़ी शोभा पाने लगे ।। २ ।।
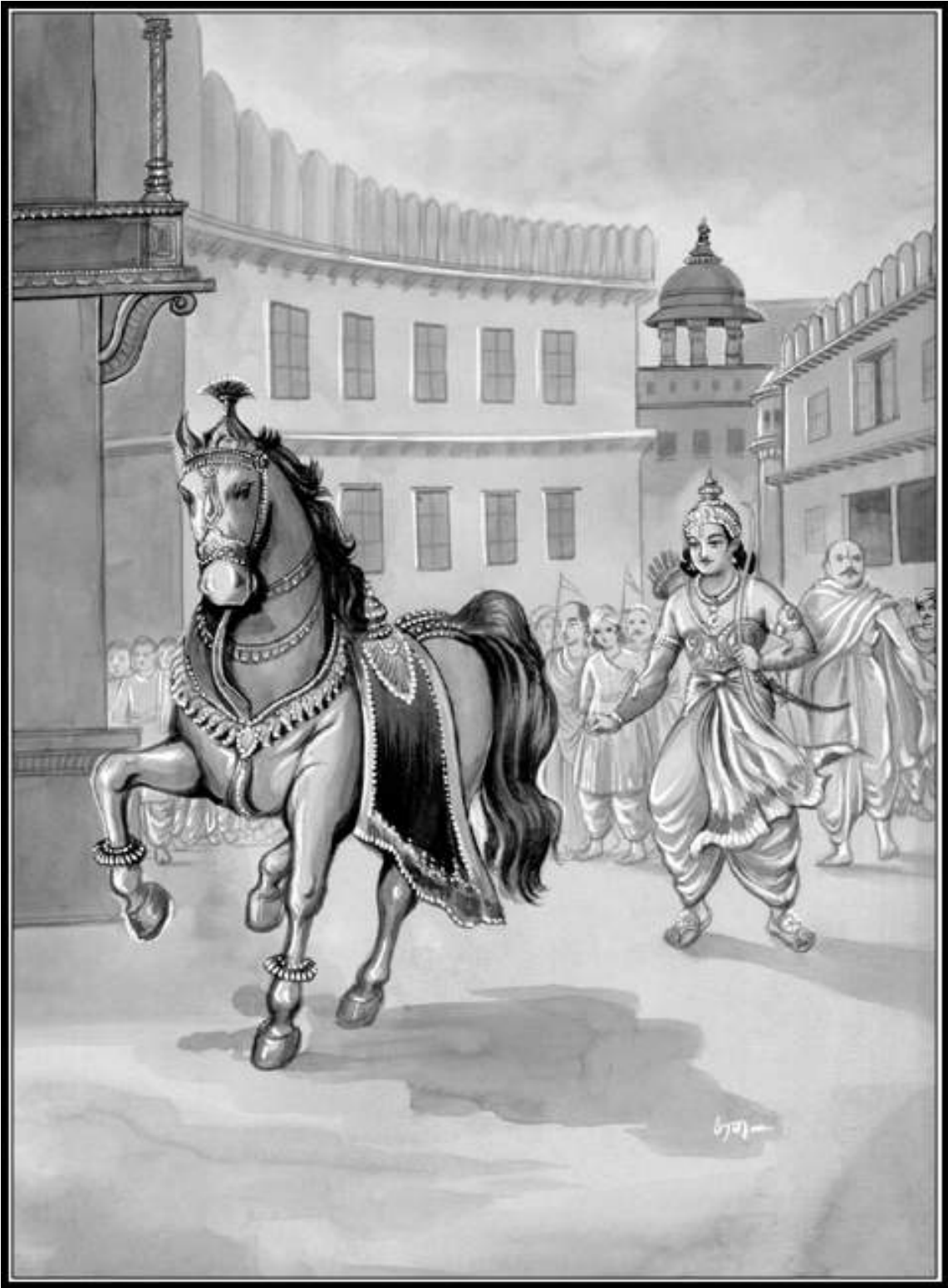
अश्वमेधयज्ञके लिये छोड़े हुए घोड़ेका अर्जुनके द्वारा अनुगमन

हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना ।
उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ।। ३ ।।

अमिततेजस्वी ब्रह्मवादी व्यासजीने अश्वमेधयज्ञके लिये चुने गये अश्वको स्वयं ही शास्त्रीय विधिके अनुसार छोड़ा ।। ३ ।।

स राजा धर्मराड् राजन् दीक्षितो विबभौ तदा ।
हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः ।। ४ ।।

राजन्! यज्ञमें दीक्षित हुए धर्मराज राजा युधिष्ठिर सोनेकी माला और कण्ठमें सोनेकी कण्ठी धारण किये प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ।। ४ ।।

कृष्णाजिनी दण्डपाणिः क्षौमवासाः स धर्मजः ।
विबभौ द्युतिमान् भूयः प्रजापतिरिवाध्वरे ।। ५ ।।

काला मृगचर्म, हाथमें दण्ड और रेशमी वस्त्र धारण किये धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अधिक कान्तिमान् हो यज्ञमण्डपमें प्रजापतिकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। ५ ।।

तथैवास्यर्त्विजः सर्वे तुल्यवेषा विशाम्पते ।
बभूवुरर्जुनश्चापि प्रदीप्त इव पावकः ।। ६ ।।

प्रजानाथ! उनके समस्त ऋत्विज् भी उन्हींके समान वेश-भूषा धारण किये सुशोभित होते थे। अर्जुन भी प्रज्वलित अग्निके समान दीप्तिमान् हो रहे थे ।। ६ ।।

श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनंजयः ।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ।। ७ ।।

भूपाल जनमेजय! श्वेत घोड़ेवाले अर्जुनने धर्मराजकी आज्ञासे उस यज्ञसम्बन्धी अश्वका विधिपूर्वक अनुसरण किया ।। ७ ।।

विक्षिपन् गाण्डिवं राजन् बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
तमश्वं पृथिवीपाल मुदा युक्तः ससार च ।। ८ ।।

पृथिवीपाल! राजन्! अर्जुनने अपने हाथोंमें गोधाके चमड़ेके बने दस्ताने पहन रखे थे। वे गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ अश्वके पीछे-पीछे जा रहे थे ।। ८ ।।

आकुमारं तदा राजन्नागमत् तत्पुरं विभो ।
द्रष्टुकामं कुरुश्रेष्ठं प्रयास्यन्तं धनंजयम् ।। ९ ।।

जनमेजय! प्रभो! उस समय यात्रा करते हुए कुरुश्रेष्ठ अर्जुनको देखनेके लिये बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सारा हस्तिनापुर वहाँ उमड़ आया था ।। ९ ।।

तेषामन्योन्यसम्मर्दादूष्मेव समजायत ।
दिदृक्षूणां हयं तं च तं चैव हयसारिणम् ।। १० ।।

यज्ञके घोड़े और उसके पीछे जानेवाले अर्जुनको देखनेकी इच्छासे लोगोंकी इतनी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी कि आपसकी धक्का-मुक्कीसे सबके बदनमें पसीने निकल

आये ।। १० ।।

ततः शब्दो महाराज दिशः खं प्रति पूरयन् ।
बभूव प्रेक्षतां नृणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ।। ११ ।।

महाराज! उस समय कुन्तीपुत्र धनंजयका दर्शन करनेवाले लोगोंके मुखसे जो शब्द निकलता था, वह सम्पूर्ण दिशाओं और आकाशमें गूँज रहा था ।। ११ ।।

एष गच्छति कौन्तेय तुरगश्चैव दीप्तिमान् ।
यमन्वेति महाबाहुः संस्पृशन् धनुरुत्तमम् ।। १२ ।।

(लोग कहते थे—) 'ये कुन्तीकुमार अर्जुन जा रहे हैं और वह दीप्तिमान् अश्व जा रहा है, जिसके पीछे महाबाहु अर्जुन उत्तम धनुष धारण किये जा रहे हैं' ।। १२ ।।

एवं शुश्राव वदतां गिरो जिष्णुरुदारधीः ।
स्वस्ति तेऽस्तु व्रजारिष्टं पुनश्चैहीति भारत ।। १३ ।।

उदारबुद्धि अर्जुनने परस्पर वार्तालाप करते हुए लोगोंकी बातें इस प्रकार सुनीं —'भारत! तुम्हारा कल्याण हो। तुम सुखसे जाओ और पुनः कुशलपूर्वक लौट आओ' ।। १३ ।।

अथापरे मनुष्येन्द्र पुरुषा वाक्यमब्रुवन् ।
नैनं पश्याम सम्मर्दे धनुरेतत् प्रदृश्यते ।। १४ ।।
एतद्धि भीमनिर्ह्रादं विश्रुतं गाण्डिवं धनुः ।
स्वस्ति गच्छत्वरिष्टो वै पन्थानमकुतोभयम् ।। १५ ।।
निवृत्तमेनं द्रक्ष्यामः पुनरेष्यति च ध्रुवम् ।

नरेन्द्र! दूसरे लोग ये बातें कहते थे—'इस भीड़में हम अर्जुनको तो नहीं देखते हैं; किंतु उनका यह धनुष दिखायी देता है। यही वह भयंकर टंकार करनेवाला विख्यात गाण्डीव धनुष है। अर्जुनकी यात्रा सकुशल हो। उन्हें मार्गमें कोई कष्ट न हो। ये निर्भय मार्गपर आगे बढ़ते रहें। ये निश्चय ही कुशलपूर्वक लौटेंगे और उस समय हम फिर इनका दर्शन करेंगे' ।। १४-१५½ ।।

एवमाद्या मनुष्याणां स्त्रीणां च भरतर्षभ ।। १६ ।।
शुश्राव मधुरा वाचः पुनः पुनरुदारधीः ।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार उदारबुद्धि अर्जुन स्त्रियों और पुरुषोंकी कही हुई मीठी-मीठी बातें बारंबार सुनते थे ।। १६½ ।।

याज्ञवल्क्यस्य शिष्यश्च कुशलो यज्ञकर्मणि ।। १७ ।।
प्रायात् पार्थेन सहितः शान्त्यर्थं वेदपारगः ।

याज्ञवल्क्य मुनिके एक विद्वान् शिष्य, जो यज्ञकर्ममें कुशल तथा वेदोंमें पारंगत थे, विघ्नकी शान्तिके लिये अर्जुनके साथ गये ।। १७½ ।।

ब्राह्मणाश्च महीपाल बहवो वेदपारगाः ।। १८ ।।

अनुजग्मुर्महात्मानं क्षत्रियाश्च विशाम्पते ।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ।। १९ ।।

महाराज! प्रजानाथ! उनके सिवा और भी बहुत-से वेदोंमें पारंगत ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने धर्मराजकी आज्ञासे विधिपूर्वक महात्मा अर्जुनका अनुसरण किया ।। १८-१९ ।।

पाण्डवैः पृथिवीमश्वो निर्जितामस्त्रतेजसा ।
चचार स महाराज यथादेशं च सत्तम ।। २० ।।

महाराज! साधुशिरोमणे! पाण्डवोंने अपने अस्त्रके प्रतापसे जिस पृथ्वीको जीता था, उसके सभी देशोंमें वह अश्व क्रमशः विचरण करने लगा ।। २० ।।

तत्र युद्धानि वृत्तानि यान्यासन् पाण्डवस्य ह ।
तानि वक्ष्यामि ते वीर विचित्राणि महान्ति च ।। २१ ।।

वीर! उन देशोंमें अर्जुनको जो बड़े-बड़े अद्‌भुत युद्ध करने पड़े, उनकी कथा तुम्हें सुना रहा हूँ ।। २१ ।।

स हयः पृथिवीं राजन् प्रदक्षिणमवर्तत ।
ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ।। २२ ।।
अवमृद्नन् स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः ।
शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ।। २३ ।।

पृथ्वीनाथ! वह घोड़ा पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करने लगा। सबसे पहले वह उत्तर दिशाकी ओर गया। फिर राजाओंके अनेक राज्योंको रौंदता हुआ वह उत्तम अश्व पूर्वकी ओर मुड़ गया। उस समय श्वेतवाहन महारथी अर्जुन धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे जा रहे थे ।।

तत्र संगणना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा ।
येऽयुध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ।। २४ ।।

महाराज! महाभारत-युद्धमें जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, ऐसे जिन-जिन क्षत्रियोंने उस समय अर्जुनके साथ युद्ध किया था, उन हजारों नरेशोंकी कोई गिनती नहीं है ।। २४ ।।

किराता यवना राजन् बहवोऽसिधनुर्धराः ।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ।। २५ ।।

राजन्! तलवार और धनुष धारण करनेवाले बहुत-से किरात, यवन और म्लेच्छ, जो पहले महाभारत-युद्धमें पाण्डवोंद्वारा परास्त किये गये थे, अर्जुनका सामना करनेके लिये आये ।। २५ ।।

आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ।। २६ ।।

हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों और वाहनोंसे युक्त बहुत-से रणदुर्मद आर्य नरेश भी पाण्डुपुत्र अर्जुनसे भिड़े थे ।।

एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते ।

अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ।। २७ ।।

पृथ्वीनाथ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंमें नाना देशोंसे आये हुए राजाओंके साथ अर्जुनको अनेक बार युद्ध करने पड़े ।। २७ ।।

यानि तूभयतो राजन् प्रतप्तानि महान्ति च ।
तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवानघ ।। २८ ।।

निष्पाप नरेश! जो युद्ध दोनों पक्षके योद्धाओंके लिये अधिक कष्टदायक और महान् थे, अर्जुनके उन्हीं युद्धोंका मैं यहाँ तुमसे वर्णन करूँगा ।। २८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनके द्वारा अश्वका अनुसरणविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७३ ।।

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा त्रिगर्तोंकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

त्रिगर्तैरभवद् युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः ।
महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुरुक्षेत्रके युद्धमें जो त्रिगर्त वीर मारे गये थे, उनके महारथी पुत्रों और पौत्रोंने किरीटधारी अर्जुनके साथ वैर बाँध लिया था। त्रिगर्तदेशमें जानेपर अर्जुनका उन त्रिगर्तोंके साथ घोर युद्ध हुआ था ।। १ ।।

ते समाज्ञाय सम्प्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम् ।
विषयान्तं ततो वीरा दंशिताः पर्यवारयन् ।। २ ।।
रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः ।
परिवार्य हयं राजन् ग्रहीतुं सम्प्रचक्रमुः ।। ३ ।।

'पाण्डवोंका यज्ञसम्बन्धी उत्तम अश्व हमारे राज्यकी सीमामें आ पहुँचा है' यह जानकर त्रिगर्तवीर कवच आदिसे सुसज्जित हो पीठपर तरकस बाँधे सजे-सजाये अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथपर बैठकर निकले और उस अश्वको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया। राजन्! घोड़ेको घेरकर वे उसे पकड़नेका उद्योग करने लगे ।। २-३ ।।

ततः किरीटी संचिन्त्य तेषां तत्र चिकीर्षितम् ।
वारयामास तान् वीरान् सान्त्वपूर्वमरिंदमः ।। ४ ।।

शत्रुओंका दमन करनेवाले अर्जुन यह जान गये कि वे क्या करना चाहते हैं। उनके मनोभावका विचार करके वे उन्हें शान्तिपूर्वक समझाते हुए युद्धसे रोकने लगे ।। ४ ।।

तदनादृत्य ते सर्वे शरैरभ्यहनंस्तदा ।
तमोरजोभ्यां संछन्नांस्तान् किरीटी न्यवारयत् ।। ५ ।।

किंतु वे सब उनकी बातकी अवहेलना करके उन्हें बाणोंद्वारा चोट पहुँचाने लगे। तमोगुण और रजोगुणके वशीभूत हुए उन त्रिगर्तोंको किरीटीने युद्धसे रोकनेकी पूरी चेष्टा की ।। ५ ।।

तानब्रवीत् ततो जिष्णुः प्रहसन्निव भारत ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञाः श्रेयो जीवितमेव च ।। ६ ।।

भारत! तदनन्तर विजयशील अर्जुन हँसते हुए-से बोले—'धर्मको न जाननेवाले पापात्माओ! लौट जाओ। जीवनकी रक्षामें ही तुम्हारा कल्याण है' ।। ६ ।।

स हि वीरः प्रयास्यन् वै धर्मराजेन वारितः ।
हतबान्धवा न ते पार्थ हन्तव्याः पार्थिवा इति ।। ७ ।।

वीर अर्जुनने ऐसा इसलिये कहा कि चलते समय धर्मराज युधिष्ठिरने यह कहकर मना कर दिया था कि ‘कुन्तीनन्दन! जिन राजाओंके भाई-बन्धु कुरुक्षेत्रके युद्धमें मारे गये हैं, उनका तुम्हें वध नहीं करना चाहिये’ ।। ७ ।।

स तदा तद् वचः श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः ।
तान् निवर्तध्वमित्याह न न्यवर्तन्त चापि ते ।। ८ ।।

बुद्धिमान् धर्मराजके इस आदेशको सुनकर उसका पालन करते हुए ही अर्जुनने त्रिगर्तोंको लौट जानेकी आज्ञा दी तथापि वे नहीं लौटे ।। ८ ।।

ततस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे ।
विचित्य शरजालेन प्रजहास धनंजयः ।। ९ ।।

तब उस युद्धस्थलमें त्रिगर्तराज सूर्यवर्माके सारे अंगोंमें बाण धँसाकर अर्जुन हँसने लगे ।। ९ ।।

ततस्ते रथघोषेण रथनेमिस्वनेन च ।
पूरयन्तो दिशः सर्वा धनंजयमुपाद्रवन् ।। १० ।।

यह देख त्रिगर्तदेशीय वीर रथकी घरघराहट और पहियोंकी आवाजसे सारी दिशाओंको गुँजाते हुए वहाँ अर्जुनपर टूट पड़े ।। १० ।।

सूर्यवर्मा ततः पार्थे शराणां नतपर्वणाम् ।
शतान्यमुञ्चद् राजेन्द्र लघ्वस्त्रमभिदर्शयन् ।। ११ ।।

राजेन्द्र! तदनन्तर सूर्यवर्माने अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए अर्जुनपर झुकी हुई गाँठवाले एक सौ बाणोंका प्रहार किया ।। ११ ।।

तथैवान्ये महेष्वासा ये च तस्यानुयायिनः ।
मुमुचुः शरवर्षाणि धनंजयवधैषिणः ।। १२ ।।

इसी प्रकार उसके अनुयायी वीरोंमें भी जो दूसरे-दूसरे महान् धनुर्धर थे, वे भी अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। १२ ।।

स तान् ज्यामुखनिर्मुक्तैर्बहुभिः सुबहून् शरान् ।
चिच्छेद पाण्डवो राजंस्ते भूमौ न्यपतंस्तदा ।। १३ ।।

राजन्! पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपने धनुषकी प्रत्यंचासे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा शत्रुओंके बहुत-से बाणोंको काट डाला। वे कटे हुए बाण टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ।। १३ ।।

केतुवर्मा तु तेजस्वी तस्यैवावरजो युवा ।
युयुधे भ्रातुरर्थाय पाण्डवेन यशस्विना ।। १४ ।।

(सूर्यवर्माके परास्त होनेपर) उसका छोटा भाई केतुवर्मा जो एक तेजस्वी नवयुवक था, अपने भाईका बदला लेनेके लिये यशस्वी वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ।। १४ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य केतुवर्माणमाहवे ।
अभ्यघ्नन्निशितैर्बाणैर्बीभत्सुः परवीरहा ।। १५ ।।

केतुवर्माको युद्धस्थलमें धावा करते देख शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे उसे मार डाला ।। १५ ।।

केतुवर्मण्यभिहते धृतवर्मा महारथः ।
रथेनाशु समुत्पत्य शरैर्जिष्णुमवाकिरत् ।। १६ ।।

केतुवर्माके मारे जानेपर महारथी धृतवर्मा रथके द्वारा शीघ्र ही वहाँ आ धमका और अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ।। १६ ।।

तस्य तां शीघ्रतामीक्ष्य तुतोषातीव वीर्यवान् ।
गुडाकेशो महातेजा बालस्य धृतवर्मणः ।। १७ ।।

धृतवर्मा अभी बालक था तो भी उसकी उस फुर्तीको देखकर महातेजस्वी पराक्रमी अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ।।

न संदधानं ददृशे नाददानं च तं तदा ।
किरन्तमेव स शरान् ददृशे पाकशासनिः ।। १८ ।।

वह कब बाण हाथमें लेता है और कब उसे धनुषपर चढ़ाता है, उसको इन्द्रकुमार अर्जुन भी नहीं देख पाते थे। उन्हें केवल इतना ही दिखायी देता था कि वह बाणोंकी वर्षा कर रहा है ।। १८ ।।

स तु तं पूजयामास धृतवर्माणमाहवे ।
मनसा तु मुहूर्तं वै रणे समभिहर्षयन् ।। १९ ।।

उन्होंने रणभूमिमें थोड़ी देरतक मन-ही-मन धृतवर्माकी प्रशंसा की और युद्धमें उसका हर्ष एवं उत्साह बढ़ाते रहे ।। १९ ।।

तं पन्नगमिव क्रुद्धं कुरुवीरः स्मयन्निव ।
प्रीतिपूर्वं महाबाहुः प्राणैर्न व्यपरोपयत् ।। २० ।।

यद्यपि धृतवर्मा सर्पके समान क्रोधमें भरा हुआ था तो भी कुरुवीर महाबाहु अर्जुन प्रेमपूर्वक मुसकराते हुए युद्ध करते थे। उन्होंने उसके प्राण नहीं लिये ।। २० ।।

स तथा रक्ष्यमाणो वै पार्थेनामिततेजसा ।
धृतवर्मा शरं दीप्तं मुमोच विजये तदा ।। २१ ।।

इस प्रकार अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा जानबूझकर छोड़ दिये जानेपर धृतवर्माने उनके ऊपर एक अत्यन्त प्रज्वलित बाण चलाया ।। २१ ।।

स तेन विजयस्तूर्णमासीद् विद्धः करे भृशम् ।
मुमोच गाण्डिवं मोहात् तत् पपाताथ भूतले ।। २२ ।।

उस बाणने तुरन्त आकर अर्जुनके हाथमें गहरी चोट पहुँचायी। उन्हें मूर्च्छा आ गयी और उनका गाण्डीव धनुष हाथसे छूटकर पृथ्वीपर जा पड़ा ।। २२ ।।

धनुषः पततस्तस्य सव्यसाचिकराद् विभो ।
बभूव सदृशं रूपं शक्रचापस्य भारत ।। २३ ।।

प्रभो! भरतनन्दन! अर्जुनके हाथसे गिरते हुए उस धनुषका रूप इन्द्रधनुषके समान प्रतीत होता था ।। २३ ।।

तस्मिन् निपतिते दिव्ये महाधनुषि पार्थिवः ।
जहास सस्वनं हासं धृतवर्मा महाहवे ।। २४ ।।

उस दिव्य महाधनुषके गिर जानेपर महासमरमें खड़ा हुआ धृतवर्मा ठहाका मारकर जोर-जोरसे हँसने लगा ।। २४ ।।

ततो रोषार्दितो जिष्णुः प्रमृज्य रुधिरं करात् ।
धनुरादत्त तद् दिव्यं शरवर्षैर्ववर्ष च ।। २५ ।।

इससे अर्जुनका रोष बढ़ गया। उन्होंने हाथसे रक्त पोंछकर उस दिव्य धनुषको पुनः उठा लिया और धृतवर्मापर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। २५ ।।

ततो हलहलाशब्दो दिवस्पृगभवत् तदा ।
नानाविधानां भूतानां तत्कर्माणि प्रशंसताम् ।। २६ ।।

फिर तो अर्जुनके उस पराक्रमकी प्रशंसा करते हुए नाना प्रकारके प्राणियोंका कोलाहल समूचे आकाशमें व्याप्त हो गया ।। २६ ।।

ततः सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं कालान्तकयमोपमम् ।
जिष्णुं त्रैगर्तका योधाः परीताः पर्यवारयन् ।। २७ ।।

अर्जुनको काल, अन्तक और यमराजके समान कुपित हुआ देख त्रिगर्तदेशीय योद्धाओंने चारों ओरसे आकर उन्हें घेर लिया ।। २७ ।।

अभिसृत्य परीप्सार्थं ततस्ते धृतवर्मणः ।
परिवव्रुर्गुडाकेशं तत्राक्रुद्ध्यद् धनंजयः ।। २८ ।।

धृतवर्माकी रक्षाके लिये सहसा आक्रमण करके त्रिगर्तोंने गुडाकेश अर्जुनको जब सब ओरसे घेर लिया, तब उन्हें बड़ा क्रोध हुआ ।। २८ ।।

ततो योधान् जघानाशु तेषां स दश चाष्ट च ।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्बहुभिः शरैः ।। २९ ।।

फिर तो उन्होंने इन्द्रके वज्रकी भाँति दुस्सह लौहनिर्मित बहुसंख्यक बाणोंद्वारा बात-की-बातमें उनके अठारह प्रमुख योद्धाओंको यमलोक पहुँचा दिया ।। २९ ।।

तान् सम्प्रभग्नान् सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो धनंजयः ।
शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ।। ३० ।।

तब तो त्रिगर्तोंमें भगदड़ मच गयी। उन्हें भागते देख अर्जुनने जोर-जोरसे हँसते हुए बड़ी उतावलीके साथ सर्पाकार बाणोंद्वारा उन सबको मारना आरम्भ किया ।। ३० ।।

ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्तकमहारथाः ।

दिशोऽभिदुद्रुवू राजन् धनंजयशरार्दिताः ।। ३१ ।।

राजन्! धनंजयके बाणोंसे पीड़ित हुए समस्त त्रिगर्तदेशीय महारथियोंका युद्धविषयक उत्साह नष्ट हो गया; अतः वे चारों दिशाओंमें भाग चले ।। ३१ ।।

तमूचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम् ।
तवास्म किंकराः सर्वे सर्वे वै वशगास्तव ।। ३२ ।।

उनमेंसे कितने ही संशप्तकसूदन पुरुषसिंह अर्जुनसे इस प्रकार कहने लगे—'कुन्तीनन्दन! हम सब आपके आज्ञाकारी सेवक हैं और सभी सदा आपके अधीन रहेंगे ।। ३२ ।।

आज्ञापयस्व नः पार्थ प्रह्वान् प्रेष्यानवस्थितान् ।
करिष्यामः प्रियं सर्वं तव कौरवनन्दन ।। ३३ ।।

'पार्थ! हम सभी सेवक विनीत भावसे आपके सामने खड़े हैं। आप हमें आज्ञा दें। कौरवनन्दन! हम सब लोग आपके समस्त प्रिय कार्य सदा करते रहेंगे' ।। ३३ ।।

एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत् तदा ।
जीवितं रक्षत नृपाः शासनं प्रतिगृह्यताम् ।। ३४ ।।

उनकी ये बातें सुनकर अर्जुनने उनसे कहा—'राजाओ! अपने प्राणोंकी रक्षा करो। इसका एक ही उपाय है, हमारा शासन स्वीकार कर लो' ।। ३४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि त्रिगर्तपराभवे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें त्रिगर्तोंकी पराजयविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७४ ।।

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका प्राग्ज्योतिषपुरके राजा वज्रदत्तके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत् स हयोत्तमः ।
भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ।। १ ।।
स हयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम् ।
युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः ।। २ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर वह उत्तम अश्व प्राग्ज्योतिषपुरके पास पहुँचकर विचरने लगा। वहाँ भगदत्तका पुत्र वज्रदत्त राज्य करता था, जो युद्धमें बड़ा ही कठोर था। भरतश्रेष्ठ! जब उसे पता लगा कि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरका अश्व मेरे राज्यकी सीमामें आ गया है, तब राजा वज्रदत्त नगरसे बाहर निकला और युद्धके लिये तैयार हो गया ।। १-२ ।।

सोऽभिनिर्याय नगराद् भगदत्तसुतो नृपः ।
अश्वमायान्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ।। ३ ।।

नगरसे निकलकर भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्तने अपनी ओर आते हुए घोड़ेको बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे साथ लेकर वह नगरकी ओर चला ।। ३ ।।

तमालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा ।
गाण्डीवं विक्षिपंस्तूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ।। ४ ।।

उसको ऐसा करते देख कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुनने गाण्डीव धनुषपर टंकार देते हुए सहसा वेगपूर्वक उसपर धावा किया ।। ४ ।।

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैरिषुभिर्मोहितो नृपः ।
हयमुत्सृज्य तं वीरस्ततः पार्थमुपाद्रवत् ।। ५ ।।
पुनः प्रविश्य नगरं दंशितः स नृपोत्तमः।
आरुह्य नागप्रवरं निर्ययौ रणकर्कशः ।। ६ ।।

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंके प्रहारसे व्याकुल हो वीर राजा वज्रदत्तने उस घोड़ेको तो छोड़ दिया और स्वयं पुनः नगरमें प्रवेश करके कवच आदिसे सुसज्जित हो एक श्रेष्ठ गजराजपर चढ़कर वह रणकर्कश नरेश युद्धके लिये बाहर निकला। आते ही उसने पार्थपर धावा बोल दिया ।। ५-६ ।।

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
दोधूयता चामरेण श्वेतेन च महारथः ।। ७ ।।
ततः पार्थं समासाद्य पाण्डवानां महारथम् ।

आह्वयामास बीभत्सुं बाल्यान्मोहाच्च संयुगे ।। ८ ।।

उसने मस्तकपर श्वेत छत्र धारण कर रखा था। सेवक श्वेत चवँर खुला रहे थे। पाण्डव महारथी पार्थके पास पहुँचकर उस महारथी नरेशने बालचापल्य और मूर्खताके कारण उन्हें युद्धके लिये ललकारा ।। ७-८ ।।

स वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः श्वेताश्वं प्रति पार्थिवः ।। ९ ।।

क्रोधमें भरे हुए राजा वज्रदत्तने श्वेतवाहन अर्जुनकी ओर अपने पर्वताकार विशालकाय गजराजको, जिसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी, बढ़ाया ।। ९ ।।

विक्षरन्तं महामेघं परवारणवारणम् ।
शास्त्रवत् कल्पितं संख्ये विवशं युद्धदुर्मदम् ।। १० ।।

वह महान् मेघके समान मदकी वर्षा करता था। शत्रुपक्षके हाथियोंको रोकनेमें समर्थ था। उसे शास्त्रीय विधिके अनुसार युद्धके लिये तैयार किया गया था। वह स्वामीके अधीन रहनेवाला और युद्धमें दुर्धर्ष था ।। १० ।।

प्रचोद्यमानः स गजस्तेन राज्ञा महाबलः ।
तदाङ्कुशेन विबभावुत्पतिष्यन्निवाम्बरम् ।। ११ ।।

राजा वज्रदत्तने जब अंकुशसे मारकर उस महाबली हाथीको आगे बढ़नेके लिये प्रेरित किया, तब वह इस तरह आगेकी ओर झपटा, मानो वह आकाशमें उड़ जायगा ।। ११ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य क्रुद्धो राजन् धनंजयः ।
भूमिष्ठो वारणगतं योधयामास भारत ।। १२ ।।

राजन्! भरतनन्दन! उसे इस प्रकार आक्रमण करते देख अर्जुन कुपित हो उठे। वे पृथ्वीपर स्थित होते हुए भी हाथीपर चढ़े हुए वज्रदत्तके साथ युद्ध करने लगे ।। १२ ।।

वज्रदत्तस्ततः क्रुद्धो मुमोचाशु धनंजये ।
तोमरानग्निसंकाशान् शलभानिव वेगितान् ।। १३ ।।

उस समय वज्रदत्तने कुपित होकर तुरंत ही अर्जुनपर अग्निके समान प्रज्वलित तोमर चलाये, जो वेगसे उड़नेवाले पतंगोंके समान जान पड़ते थे ।। १३ ।।

अर्जुनस्तानसम्प्राप्तान् गाण्डीवप्रभवैः शरैः ।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव खगमैस्तदा ।। १४ ।।

वे तोमर अभी पास भी नहीं आने पाये थे कि अर्जुनने गाण्डीव धनुषद्वारा छोड़े गये आकाशचारी बाणोंद्वारा आकाशमें ही एक-एक तोमरके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर डाले ।। १४ ।।

स तान् दृष्ट्वा तथा छिन्नांस्तोमरान् भगदत्तजः ।
इषूनसक्तांस्त्वरितः प्राहिणोत् पाण्डवं प्रति ।। १५ ।।

इस प्रकार उन तोमरोंके टुकड़े-टुकड़े हुए देख भगदत्तके पुत्रने पाण्डुनन्दन अर्जुनपर शीघ्रतापूर्वक लगातार बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। १५ ।।

ततोऽर्जुनस्तूर्णतरं रुक्मपुङ्खानजिह्मगान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो भगदत्तात्मजं प्रति ।। १६ ।।
स तैर्विद्धो महातेजा वज्रदत्तो महामृधे ।
भृशाहतः पपातोर्व्यां न त्वेनमजहात् स्मृतिः ।। १७ ।।

तब कुपित हुए अर्जुनने तुरंत ही सोनेके पंखोंसे युक्त सीधे जानेवाले बाण वज्रदत्तपर चलाये। उन बाणोंसे अत्यन्त आहत और घायल होकर उस महासमरमें महातेजस्वी वज्रदत्त हाथीकी पीठसे पृथ्वीपर गिर पड़ा; परंतु इतनेपर भी वह बेहोश नहीं हुआ ।। १६-१७ ।।

ततः स पुनरारुह्य वारणप्रवरं रणे ।
अव्यग्रः प्रेषयामास जयार्थी विजयं प्रति ।। १८ ।।

तदनन्तर वज्रदत्तनें पुनः उस श्रेष्ठ गजराजपर आरूढ़ हो रणभूमिमें बिना किसी घबराहटके विजयकी अभिलाषा रखकर अर्जुनकी ओर उस हाथीको बढ़ाया ।। १८ ।।

तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितज्वलनोपमान् ।। १९ ।।

यह देख अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने उस हाथीके ऊपर केंचुलसे निकले हुए सर्पोंके समान भयंकर तथा प्रज्वलित अग्निके तुल्य तेजस्वी बाणोंका प्रहार किया ।। २९ ।।

स तैर्विद्धो महानागो विस्रवन् रुधिरं वभौ ।
गैरिकाक्तमिवाम्भोऽद्रिर्बहुप्रस्रवणं तदा ।। २० ।।

उन बाणोंसे घायल होकर वह महानाग खूनकी धारा बहाने लगा। उस समय वह गेरूमिश्रित जलकी धारा बहानेवाले अनेक झरनोंसे युक्त पर्वतके समान जान पड़ता था ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तयुद्धे पञ्चसप्ततिमोऽध्यायः ।। ७५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनका वज्रदत्तके साथ युद्धविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७५ ।।

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वज्रदत्तकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

एवं त्रिरात्रमभवत् तद् युद्धं भरतर्षभ ।
अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! जैसे इन्द्रका वृत्रासुरके साथ युद्ध हुआ था, उसी प्रकार अर्जुनका राजा वज्रदत्तके साथ तीन दिन तीन रात युद्ध होता रहा ।। १ ।।

ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः ।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ।। २ ।।

तदनन्तर चौथे दिन महाबली वज्रदत्त ठहाका मारकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला — ।। २ ।।

अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।
त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि ।। ३ ।।

'अर्जुन! अर्जुन! खड़े रहो। आज मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा। तुम्हें मारकर पिताका विधिपूर्वक तर्पण करूँगा ।। ३ ।।

त्वया वृद्धो मम पिता भगदत्तः पितुः सखा ।
हतो वृद्धो मम पिता शिशुं मामद्य योधय ।। ४ ।।

'मेरे वृद्ध पिता भगदत्त तुम्हारे बापके मित्र थे, तो भी तुमने उनकी हत्या की। मेरे पिता बूढ़े थे, इसलिये तुम्हारे हाथसे मारे गये। आज उनका बालक मैं तुम्हारे सामने उपस्थित हूँ; मेरे साथ युद्ध करो' ।। ४ ।।

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः ।
प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ।। ५ ।।

कुरुनन्दन! ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए राजा वज्रदत्तने पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर अपने हाथीको हाँक दिया ।। ५ ।।

सम्प्रेष्यमाणो नागेन्द्रो वज्रदत्तेन धीमता ।
उत्पतिष्यन्निवाकाशमभिदुद्राव पाण्डवम् ।। ६ ।।

बुद्धिमान् वज्रदत्तके द्वारा हाँके जानेपर वह गजराज पाण्डुपुत्र अर्जुनकी ओर इस प्रकार दौड़ा, मानो आकाशमें उड़ जाना चाहता हो ।। ६ ।।

अग्रहस्तसुमुक्तेन शीकरेण स नागराट् ।
समौक्षत गुडाकेशं शैलं नीलमिवाम्बुदः ।। ७ ।।

उस गजराजने अपनी सूँडसे छोड़े गये जलकणोंद्वारा गुडाकेश अर्जुनको भिगो दिया। मानो मेघने नील पर्वतपर जलके फुहारे डाल दिये हों ।। ७ ।।

स तेन प्रेषितो राज्ञा मेघवद् विनदन् मुहुः ।
मुखाडम्बरसंह्रादैरभ्यद्रवत फाल्गुनम् ।। ८ ।।

राजासे प्रेरित होकर बारंबार मेघके समान गम्भीर गर्जना करता हुआ वह हाथी अपने मुखके चीत्कारपूर्ण कोलाहलके साथ अर्जुनपर टूट पड़ा ।। ८ ।।

स नृत्यन्निव नागेन्द्रो वज्रदत्तप्रचोदितः ।
आससाद द्रुतं राजन् कौरवाणां महारथम् ।। ९ ।।

राजन्! वज्रदत्तका हाँका हुआ वह गजराज नृत्य-सा करता हुआ तुरंत कौरव महारथी अर्जुनके पास जा पहुँचा ।। ९ ।।

तमायान्तमथालक्ष्य वज्रदत्तस्य वारणम् ।
गाण्डीवमाश्रित्य बली न व्यकम्पत शत्रुहा ।। १० ।।

वज्रदत्तके उस हाथीको आते देख शत्रुओंका संहार करनेवाले बलवान् अर्जुन गाण्डीवका सहारा लेकर तनिक भी विचलित नहीं हुए ।। १० ।।

चुक्रोध बलवच्चापि पाण्डवस्तस्य भूपतेः ।
कार्यविघ्नमनुस्मृत्य पूर्ववैरं च भारत ।। ११ ।।

भरतनन्दन! वज्रदत्तके कारण जो कार्यमें विघ्न पड़ रहा था, उसको तथा पहलेके वैरको याद करके पाण्डुपुत्र अर्जुन उस राजापर अत्यन्त कुपित हो उठे ।। ११ ।।

ततस्तं वारणं क्रुद्धः शरजालेन पाण्डवः ।
निवारयामास तदा वेलेव मकरालयम् ।। १२ ।।

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने बाणसमूहोंद्वारा उस हाथीको उसी तरह रोक दिया, जैसे तटकी भूमि उमड़ते हुए समुद्रको रोक देती है ।। १२ ।।

स नागप्रवरः श्रीमानर्जुनेन निवारितः ।
तस्थौ शरैर्विनुन्नाङ्गः श्वाविच्छललितो यथा ।। १३ ।।

उसके सारे अंगोंमें बाण धँसे हुए थे। अर्जुनके द्वारा रोका गया वह शोभाशाली गजराज काँटोंवाली साहीके समान खड़ा हो गया ।। १३ ।।

निवारितं गजं दृष्ट्वा भगदत्तसुतो नृपः ।
उत्ससर्ज शितान् बाणानर्जुनं क्रोधमूर्च्छितः ।। १४ ।।

अपने हाथीको रोका गया देख भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्त क्रोधसे व्याकुल हो उठा और अर्जुनपर तीखे बाणोंकी वर्षा करने लगा ।। १४ ।।

अर्जुनस्तु महाबाहुः शरैररिनिघातिभिः ।
वारयामास तान् बाणांस्तदद्भुतमिवाभवत् ।। १५ ।।

परंतु महाबाहु अर्जुनने अपने शत्रुघाती सायकोंद्वारा उन सारे बाणोंको पीछे लौटा दिया। वह एक अद्‌भुत-सी घटना हुई ।। १५ ।।

ततः पुनरभिक्रुद्धो राजा प्राग्ज्योतिषाधिपः ।
प्रेषयामास नागेन्द्रं बलवत् पर्वतोपमम् ।। १६ ।।

तब प्राग्ज्योतिषपुरके स्वामी राजा वज्रदत्तने अत्यन्त कुपित हो अपने पर्वताकार गजराजको पुनः बलपूर्वक आगे बढ़ाया ।। १६ ।।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलवत् पाकशासनिः ।
नाराचमग्निसंकाशं प्राहिणोद् वारणं प्रति ।। १७ ।।

उसे बलपूर्वक आक्रमण करते देख इन्द्रकुमार अर्जुनने उस हाथीके ऊपर एक अग्निके समान तेजस्वी नाराच चलाया ।। १७ ।।

स तेन वारणो राजन् मर्मस्वभिहतो भृशम् ।
पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ।। १८ ।।

राजन्! उस नाराचने हाथीके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी। वह वज्रके मारे हुए पर्वतकी भाँति सहसा पृथ्वीपर ढह पड़ा ।। १८ ।।

स पतन् शुशुभे नागो धनंजयशराहतः ।
विशन्निव महाशैलो महीं वज्रप्रपीडितः ।। १९ ।।

अर्जुनके बाणोंसे घायल होकर गिरता हुआ वह हाथी ऐसी शोभा पाने लगा, मानो वज्रके आघातसे अत्यन्त पीड़ित हुआ महान् पर्वत पृथ्वीमें समा जाना चाहता हो ।। १९ ।।

तस्मिन् निपतिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः ।
तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृपम् ।। २० ।।

वज्रदत्तके उस हाथीके धराशायी होते ही राजा वज्रदत्त स्वयं भी पृथ्वीपर जा पड़ा। उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनने उससे कहा—‘राजन्! तुम्हें डरना नहीं चाहिये’ ।। २० ।।

अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः ।
राजानस्ते न हन्तव्या धनंजय कथंचन ।। २१ ।।

जब मैं घरसे प्रस्थित हुआ, उस समय महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने मुझसे कहा —‘धनंजय! तुम्हें किसी तरह भी राजाओंका वध नहीं करना चाहिये’ ।। २१ ।।

सर्वमेतन्नरव्याघ्र भवत्येतावता कृतम् ।
योधाश्चापि न हन्तव्या धनंजय रणे त्वया ।। २२ ।।

“पुरुषसिंह! इतना करनेसे सब कुछ हो जायगा। अर्जुन! तुम्हें युद्ध ठानकर योद्धाओंका वध कदापि नहीं करना चाहिये ।। २२ ।।

वक्तव्याश्चापि राजानः सर्वे सहसुहृज्जनैः ।
युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भवद्भिरनुभूयताम् ।। २३ ।।

‘तुम सभी राजाओंसे कह देना कि आप सब लोग अपने सुहृदोंके साथ पधारें और युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञ-सम्बन्धी उत्सवका आनन्द लें’ ।। २३ ।।

इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां नराधिप ।
उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान् गच्छ पार्थिव ।। २४ ।।

‘नरेश्वर! भाईके इस वचनको सुनकर इसे शिरोधार्य करके मैं तुम्हें मार नहीं रहा हूँ। भूपाल! उठो, तुम्हें कोई भय नहीं है। तुम सकुशल अपने घरको लौट जाओ ।। २४ ।।

आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम् ।
यदाश्वमेधो भविता धर्मराजस्य धीमतः ।। २५ ।।

‘महाराज! आगामी चैत्रमासकी उत्तम पूर्णिमा तिथि उपस्थित होनेपर तुम हस्तिनापुरमें आना। उस समय बुद्धिमान् धर्मराजका वह उत्तम यज्ञ होगा’ ।। २५ ।।

एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा ।
तथेत्येवाब्रवीद् वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ।। २६ ।।

अर्जुनके ऐसा कहनेपर उनसे परास्त हुए भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्तने कहा—‘बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा’ ।। २६ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तपराजये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ।। ७६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें वज्रदत्तकी पराजयविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७६ ।।

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका सैन्धवोंके साथ युद्ध

वैशम्पायन उवाच

(जित्वा प्रसाद्य राजानं भगदत्तसुतं तदा ।
विसृज्य याते तुरगे सैन्धवान् प्रति भारत ।।)
सैन्धवैरभवद् युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः ।
हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन! महाराज भगदत्तके पुत्र राजा वज्रदत्तको पराजित और प्रसन्न करनेके पश्चात् उसे विदा करके जब अर्जुनका घोड़ा सिंधुदेशमें गया, तब महाभारत-युद्धमें मरनेसे बचे हुए सिंधुदेशीय योद्धाओं तथा मारे गये राजाओंके पुत्रोंके साथ किरीटधारी अर्जुनका घोर संग्राम हुआ ।। १ ।।

तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम् ।
प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ।। २ ।।

यज्ञके घोड़ेको और श्वेतवाहन अर्जुनको अपने राज्यके भीतर आया हुआ सुनकर वे सिंधुदेशीय क्षत्रिय अमर्षमें भरकर उन पाण्डवप्रवर अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ।। २ ।।

अश्वं च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः ।
न भयं चक्रिरे पार्थाद् भीमसेनादनन्तरात् ।। ३ ।।

वे विषके समान भयंकर क्षत्रिय अपने राज्यके भीतर आये हुए उस घोड़ेको पकड़कर भीमसेनके छोटे भाई अर्जुनसे तनिक भी भयभीत नहीं हुए ।। ३ ।।

तेऽविदूराद् धनुष्पाणिं यज्ञियस्य हयस्य च ।
बीभत्सुं प्रत्यपद्यन्त पदातिनमवस्थितम् ।। ४ ।।

यज्ञसम्बन्धी घोड़ेसे थोड़ी ही दूरपर अर्जुन हाथमें धनुष लिये पैदल ही खड़े थे। वे सभी क्षत्रिय उनके पास जा पहुँचे ।। ४ ।।

ततस्ते तं महावीर्या राजानः पर्यवारयन् ।
जिगीषन्तो नरव्याघ्रं पूर्वं विनिकृता युधि ।। ५ ।।

वे महापराक्रमी क्षत्रिय पहले युद्धमें अर्जुनसे परास्त हो चुके थे और अब उन पुरुषसिंह पार्थको जीतना चाहते थे। अतः उन सबने उन्हें घेर लिया ।। ५ ।।

ते नामान्यपि गोत्राणि कर्माणि विविधानि च ।
कीर्तयन्तस्तदा पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ।। ६ ।।

वे अर्जुनसे अपने नाम, गोत्र और नाना प्रकारके कर्म बताते हुए उनपर बाणोंकी बौछार करने लगे ।। ६ ।।

ते किरन्तः शरव्रातान् वारणप्रतिवारणान् ।
रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्यवारयन् ।। ७ ।।

वे ऐसे बाणसमूहोंकी वर्षा करते थे, जो हाथियोंको भी आगे बढ़नेसे रोक देनेवाले थे। उन्होंने रणभूमिमें विजयकी अभिलाषा रखकर कुन्तीकुमारको घेर लिया ।। ७ ।।

ते समीक्ष्य च तं कृष्णमुग्रकर्माणमाहवे ।
सर्वे युयुधिरे वीरा रथस्थास्तं पदातिनम् ।। ८ ।।

युद्धमें भयानक कर्म करनेवाले अर्जुनको पैदल देखकर वे सभी वीर रथपर आरूढ़ हो उनके साथ युद्ध करने लगे ।। ८ ।।

ते तमाजघ्निरे वीरं निवातकवचान्तकम् ।
संशप्तकनिहन्तारं हन्तारं सैन्धवस्य च ।। ९ ।।

निवातकवचोंका विनाश, संशप्तकोंका संहार और जयद्रथका वध करनेवाले वीर अर्जुनपर स्वैन्धवोंने सब ओरसे प्रहार आरम्भ कर दिया ।। ९ ।।

ततो रथसहस्रेण हयानामयुतेन च ।
कोष्ठकीकृत्य बीभत्सुं प्रहृष्टमनसोऽभवन् ।। १० ।।

एक हजार रथ और दस हजार घोड़ोंसे अर्जुनको घेरकर उन्हें कोष्ठबद्ध-सा करके वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हो रहे थे ।। १० ।।

तं स्मरन्तो वधं वीराः सिन्धुराजस्य चाहवे ।
जयद्रथस्य कौरव्य समरे सव्यसाचिना ।। ११ ।।

कुरुनन्दन! कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें सव्यसाची अर्जुनके द्वारा जो सिंधुराज जयद्रथका वध हुआ था, उसकी याद उन वीरोंको कभी भूलती नहीं थी ।। ११ ।।

ततः पर्जन्यवत् सर्वे शरवृष्टीरवासृजन् ।
तैः कीर्णः शुशुभे पार्थो रविर्मेघान्तरे यथा ।। १२ ।।

वे सब योद्धा मेघके समान अर्जुनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे। उन बाणोंसे आच्छादित होकर कुन्ती-नन्दन अर्जुन बादलोंमें छिपे हुए सूर्यकी भाँति शोभा पा रहे थे ।। १२ ।।

स शरैः समवच्छन्नश्चकाशे पाण्डवर्षभः ।
पञ्चरान्तरसंचारी शकुन्त इव भारत ।। १३ ।।

भरतनन्दन! बाणोंसे आच्छादित हुए पाण्डवप्रवर अर्जुन पींजड़ेके भीतर फुदकनेवाले पक्षीकी भाँति जान पड़ते थे ।। १३ ।।

ततो हाहाकृतं सर्वं कौन्तेये शरपीडिते ।
त्रैलोक्यमभवद् राजन् रविरासीच्च निष्प्रभः ।। १४ ।।

राजन्! कुन्तीकुमार अर्जुन जब इस प्रकार बाणोंसे पीड़ित हो गये, तब उनकी ऐसी अवस्था देख त्रिलोकी हाहाकार कर उठी और सूर्यदेवकी प्रभा फीकी पड़ गयी ।। १४ ।।

ततो ववौ महाराज मारुतो लोमहर्षणः ।
राहुरग्रसदादित्यं युगपत् सोममेव च ।। १५ ।।

महाराज! उस समय रोंगटे खड़े कर देनेवाली प्रचण्ड वायु चलने लगी। राहुने एक ही समय सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको ग्रस लिये ।। १५ ।।

उल्काश्च जघ्निरे सूर्यं विकीर्यन्त्यः समन्ततः ।
वेपथुश्चाभवद् राजन् कैलासस्य महागिरेः ।। १६ ।।

चारों ओर बिखरकर गिरती हुई उल्काएँ सूर्यसे टकराने लगीं। राजन्! उस समय महापर्वत कैलास भी काँपने लगा ।। १६ ।।

मुमुचुः श्वासमत्युष्णं दुःखशोकसमन्विताः ।
सप्तर्षयो जातभयास्तथा देवर्षयोऽपि च ।। १७ ।।

सप्तर्षियों और देवर्षियोंको भी भय होने लगा। वे दुःख और शोकसे संतप्त हो अत्यन्त गरम-गरम साँस छोड़ने लगे ।। १७ ।।

शशं चाशु विनिर्भिद्य मण्डलं शशिनोऽपतत् ।
विपरीता दिशश्चापि सर्वा धूमाकुलास्तथा ।। १८ ।।

पूर्वोक्त उल्काएँ चन्द्रमामें स्थित हुए शश-चिह्नका भेदन करके चन्द्रमण्डलके चारों ओर गिरने लगीं । सम्पूर्ण दिशाएँ धूमाच्छन्न होकर विपरीत प्रतीत होने लगीं ।। १८ ।।

रासभारुणसंकाशा धनुष्मन्तः सविद्युतः ।
आवृत्य गगनं मेघा मुमुचुर्मांसशोणितम् ।। १९ ।।

गधेके समान रंग और लाल रंगके सम्मिश्रणसे जो रंग हो सकता है, वैसे वर्णवाले मेघ आकाशको घेरकर रक्त और मांसकी वर्षा करने लगे। उनमें इन्द्रधनुषका भी दर्शन होता था और बिजलियाँ भी कौंधती थीं ।। १९ ।।

एवमासीत् तदा वीरे शरवर्षेण संवृते ।
फाल्गुने भरतश्रेष्ठ तदद्भुतमिवाभवत् ।। २० ।।

भरतश्रेष्ठ! वीर अर्जुनके उस समय शत्रुओंकी बाण-वर्षासे आच्छादित हो जानेपर ऐसे-ऐसे उत्पात प्रकट होने लगे। वह अद्‌भुत-सी बात हुई ।। २० ।।

तस्य तेनावकीर्णस्य शरजालेन सर्वतः ।
मोहात् पपात गाण्डीवमावापश्च करादपि ।। २१ ।।

उस बाणसमूहके द्वारा सब ओरसे आच्छादित हुए अर्जुनपर मोह छा गया। उस समय उनके हाथसे गाण्डीव धनुष और दस्ताने गिर पड़े ।। २१ ।।

तस्मिन् मोहमनुप्राप्ते शरजालं महत् तदा ।
सैन्धवा मुमुचुस्तूर्णं गतसत्त्वे महारथे ।। २२ ।।

महारथी अर्जुन जब मोहग्रस्त एवं अचेत हो गये, उस समय भी सिंधुदेशीय योद्धा उनपर वेगपूर्वक महान् बाणसमूहकी वर्षा करते रहे ।। २२ ।।

ततो मोहसमापन्नं ज्ञात्वा पार्थं दिवौकसः ।

सर्वे वित्रस्तमनसस्तस्य शान्तिकृतोऽभवन् ।। २३ ।।

अर्जुनको मोहके वशीभूत हुआ जान सम्पूर्ण देवता मन-ही-मन संत्रस्त हो गये और उनके लिये शान्तिका उपाय करने लगे ।। २३ ।।

ततो देवर्षयः सर्वे तथा सप्तर्षयोऽपि च ।

ब्रह्मर्षयश्च विजयं जेपुः पार्थस्य धीमतः ।। २४ ।।

फिर तो समस्त देवर्षि, सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि मिलकर बुद्धिमान् अर्जुनकी विजयके लिये मन्त्र-जप करने लगे ।। २४ ।।

ततः प्रदीपिते देवैः पार्थतेजसि पार्थिव ।

तस्थावचलवद् धीमान् संग्रामे परमास्त्रवित् ।। २५ ।।

पृथ्वीनाथ! तदनन्तर देवताओंके प्रयत्नसे अर्जुनका तेज पुनः उद्दीप्त हो उठा और उत्तम अस्त्र-विद्याके ज्ञाता परम बुद्धिमान् धनंजय संग्रामभूमिमें पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ।। २५ ।।

विचकर्ष धनुर्दिव्यं ततः कौरवनन्दनः ।

यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महांस्तस्य पुनः पुनः ।। २६ ।।

फिर तो कौरवनन्दन अर्जुनने अपने दिव्य धनुषकी प्रत्यंचा खींची। उस समय उससे बार-बार मशीनकी तरह बड़े जोर-जोरसे टंकार-ध्वनि होने लगी ।। २६ ।।

ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान् प्रति प्रभुः ।

ववर्ष धनुषा पार्थो वर्षाणीव पुरंदरः ।। २७ ।।

इसके बाद जैसे इन्द्र पानीकी वर्षा करते हैं, उसी तरह प्रभावशाली पार्थने अपने धनुषद्वारा शत्रुओंपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ।। २७ ।।

ततस्ते सैन्धवा योधाः सर्व एव सराजकाः ।

नादृश्यन्त शरैः कीर्णाः शलभैरिव पादपाः ।। २८ ।।

फिर तो पार्थके बाणोंसे आच्छादित हो समस्त सैन्धव योद्धा टिड्डियोंसे ढँके हुए वृक्षोंकी भाँति अपने राजासहित अदृश्य हो गये ।। २८ ।।

तस्य शब्देन वित्रेसुर्भयार्ताश्च विदुद्रुवुः ।

मुमुचुश्चाश्रु शोकार्ताः शुशुचुश्चापि सैन्धवाः ।। २९ ।।

कितने ही गाण्डीवकी टंकार-ध्वनिसे ही थर्रा उठे। बहुतेरे भयसे व्याकुल होकर भाग गये और अनेक सैन्धव योद्धा शोकसे आतुर होकर आँसू बहाने एवं शोक करने लगे ।। २९ ।।

तांस्तु सर्वान् नरव्याघ्रःसैन्धवान् व्यचरद् बली ।

अलातचक्रवद् राजन् शरजालैः समार्पयत् ।। ३० ।।

राजन्! उस समय महाबली पुरुषसिंह अर्जुन अलातचक्रकी भाँति घूम-घूमकर सारे सैन्धवोंपर बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगे ।। ३० ।।

तदिन्द्रजालप्रतिमं बाणजालममित्रहा ।
विसृज्य दिक्षु सर्वासु महेन्द्र इव वज्रभृत् ।। ३१ ।।

शत्रुसूदन अर्जुनने वज्रधारी महेन्द्रकी भाँति सम्पूर्ण दिशाओंसे इन्द्रजालके समान बाणोंका जाल-सा फैला दिया ।। ३१ ।।

मेघजालनिभं सैन्यं विदार्य शरवृष्टिभिः ।
विबभौ कौरवश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः ।। ३२ ।।

जैसे शरत्कालके सूर्य मेघोंकी घटाको छिन्न-भिन्न करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार कौरवश्रेष्ठ अर्जुन अपने बाणोंकी वृष्टिसे शत्रुसेनाको विदीर्ण करके अत्यन्त शोभा पाने लगे ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सैन्धवयुद्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सैन्धवोंके साथ अर्जुनका युद्धविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७७ ।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुनका सैन्धवोंके साथ युद्ध और दुःशलाके अनुरोधसे उसकी समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

ततो गाण्डीवभृच्छूरो युद्धाय समुपस्थितः ।
विबभौ युधि दुर्धर्षो हिमवानचलो यथा ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर गाण्डीवधारी शूरवीर अर्जुन युद्धके लिये उद्यत हो गये। वे शत्रुओंके लिये दुर्जय थे और युद्धभूमिमें हिमवान् पर्वतके समान अचल भावसे डटे रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ।। १ ।।

ततस्ते सैन्धवा योधाः पुनरेव व्यवस्थिताः ।
व्यमुञ्चन्त सुसंरब्धा शरवर्षाणि भारत ।। २ ।।

भरतनन्दन! तदनन्तर सिन्धुदेशीय योद्धा फिरसे संगठित होकर खड़े हो गये और अत्यन्त क्रोधमें भरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे ।। २ ।।

तान् प्रहस्य महाबाहुः पुनरेव व्यवस्थितान् ।
ततः प्रोवाच कौन्तेयो मुमूर्षून् श्लक्ष्णया गिरा ।
युध्यध्वं परया शक्त्या यतध्वं विजये मम ।। ३ ।।

उस समय महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुन पुनः मरनेकी इच्छासे खड़े हुए सैन्धवोंको सम्बोधित करके हँसते हुए मधुर वाणीमें बोले—‘वीरो! तुम पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो और मुझपर विजय पानेका प्रयत्न करते रहो ।। ३ ।।

कुरुध्वं सर्वकार्याणि महद् वो भयमागतम् ।
एष योत्स्यामि सर्वांस्तु निवार्य शरवागुराम् ।। ४ ।।

‘तुम अपने सारे कार्य पूरे कर लो। तुमलोगोंपर महान् भय आ पहुँचा है। यह देखो—मैं तुम्हारे बाणोंका जाल छिन्न-भिन्न करके तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करनेको उद्यत हूँ ।। ४ ।।

तिष्ठध्वं युद्धमनसो दर्पं शमयितास्मि वः ।
एतावदुक्त्वा कौरव्यो रोषाद् गाण्डीवभृत् तदा ।। ५ ।।
ततोऽथ वचनं स्मृत्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत ।
न हन्तव्या रणे तात क्षत्रिया विजिगीषवः ।। ६ ।।
जेतव्याश्चेति यत् प्रोक्तं धर्मराज्ञा महात्मना ।
चिन्तयामास स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ।। ७ ।।

'मनमें युद्धका हौसला लेकर खड़े रहो। मैं तुम्हारा घमण्ड चूर किये देता हूँ।' भारत! गाण्डीवधारी कुरुनन्दन अर्जुन शत्रुओंसे ऐसा वचन कहकर अपने बड़े भाईकी कही हुई बातें याद करने लगे। महात्मा धर्मराजने कहा था कि 'तात! रणभूमिमें विजयकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रियोंका वध न करना। साथ ही उन्हें पराजित भी करना।' इस बातको याद करके पुरुषप्रवर अर्जुन इस प्रकार चिन्ता करने लगे ।। ५—७ ।।

इत्युक्तोऽहं नरेन्द्रेण न हन्तव्या नृपा इति ।
कथं तन्न मृषेदं स्याद् धर्मराजवचः शुभम् ।। ८ ।।
न हन्येरंश्च राजानो राज्ञश्चाज्ञा कृता भवेत् ।
इति संचिन्त्य स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ।। ९ ।।
प्रोवाच वाक्यं धर्मज्ञः सैन्धवान् युद्धदुर्मदान् ।

'अहो! महाराजने कहा था कि क्षत्रियोंका वध न करना। धर्मराजका वह मंगलमय वचन कैसे मिथ्या न हो। राजालोग मारे न जायँ और राजा युधिष्ठिरकी आज्ञाका पालन हो जाय, इसके लिये क्या करना चाहिये।' ऐसा सोचकर धर्मके ज्ञाता पुरुषप्रवर अर्जुनने रणोन्मत्त सैन्धवोंसे इस प्रकार कहा— ।। ८-९½ ।।

श्रेयो वदामि युष्माकं न हिंसेयमवस्थितान् ।। १० ।।
यश्च वक्ष्यति संग्रामे तवास्मीति पराजितः ।
एतच्छ्रुत्वा वचो मह्यं कुरुध्वं हितमात्मनः ।। ११ ।।

'योद्धाओ! मैं तुम्हारे कल्याणकी बात बता रहा हूँ। तुममेंसे जो कोई अपनी पराजय स्वीकार करते हुए रणभूमिमें यह कहेगा कि मैं आपका हूँ, आपने मुझे युद्धमें जीत लिया है, वह सामने खड़ा रहे तो भी मैं उसका वध नहीं करूँगा। मेरी यह बात सुनकर तुम्हें जिसमें अपना हित दिखायी पड़े, वह करो ।। १०-११ ।।

ततोऽन्यथा कृच्छ्रगता भविष्यथ मयार्दिताः ।
एवमुक्त्वा तु तान् वीरान् युयुधे कुरुपुङ्गवः ।। १२ ।।
अर्जुनोऽतीव संक्रुद्धः संक्रुद्धैर्विजिगीषुभिः ।

'यदि मेरे कथनके विपरीत तुमलोग युद्धके लिये उद्यत हुए तो मुझसे पीड़ित होकर भारी संकटमें पड़ जाओगे।' उन वीरोंसे ऐसा कहकर कुरुकुलतिलक अर्जुन अत्यन्त कुपित हो क्रोधमें भरे हुए विजयाभिलाषी सैन्धवोंके साथ युद्ध करने लगे ।। १२½ ।।

शतं शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम् ।। १३ ।।
मुमुचुः सैन्धवा राजंस्तदा गाण्डीवधन्वनि ।

राजन्! उस समय सैन्धवोंने गाण्डीवधारी अर्जुनपर झुकी हुई गाँठवाले एक करोड़ बाणोंका प्रहार किया ।। १३½ ।।

शरानापततः क्रूरानाशीविषविषोपमान् ।। १४ ।।
चिच्छेद निशितैर्बाणैरन्तरा स धनंजयः ।

विषधर सर्पोंके समान उन कठोर बाणोंको अपनी ओर आते देख अर्जुनने तीखे सायकोंद्वारा उन सबको बीचसे काट डाला ।। १४½ ।।

छित्त्वा तु तानाशु चैव कङ्कपत्रान् शिलाशितान् ।। १५ ।।
एकैकमेषां समरे बिभेद निशितैः शरैः ।

सानपर चढ़ाकर तेज किये गये उन कंकपत्रयुक्त बाणोंके तुरन्त ही टुकड़े-टुकड़े करके समरांगणमें अर्जुनने सैन्धव वीरोंमेंसे प्रत्येकको पैने बाण मारकर घायल कर दिया ।। १५½ ।।

ततः प्रासांश्च शक्तीश्च पुनरेव धनंजयम् ।। १६ ।।
जयद्रथं हतं स्मृत्वा चिक्षिपुः सैन्धवा नृपाः ।

तदनन्तर जयद्रथ-वधका स्मरण करके सैन्धवोंने अर्जुनपर पुनः बहुत-से प्रासों और शक्तियोंका प्रहार किया ।। १६½ ।।

तेषां किरीटी संकल्पं मोघं चक्रे महाबलः ।। १७ ।।
सर्वांस्तानन्तराच्छित्त्वा तदा चुक्रोश पाण्डवः ।

परंतु महाबली किरीटधारी पाण्डुकुमार अर्जुनने उनका सारा मनसूबा व्यर्थ कर दिया। उन्होंने उन सभी प्रासों और शक्तियोंको बीचसे ही काटकर बड़े जोरसे गर्जना की ।। १७½ ।।

तथैवापततां तेषां योधानां जयगृद्धिनाम् ।। १८ ।।
शिरांसि पातयामास भल्लैः संनतपर्वभिः ।

साथ ही विजयकी अभिलाषा लेकर आक्रमण करनेवाले उन सैन्धव योद्धाओंके मस्तकोंको वे झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा काट-काटकर गिराने लगे ।। १८½ ।।

तेषां प्रद्रवतां चापि पुनरेवाभिधावताम् ।। १९ ।।
निवर्ततां च शब्दोऽभूत् पूर्णस्येव महोदधेः ।

उनमेंसे कुछ लोग भागने लगे, कुछ लोग फिरसे धावा करने लगे और कुछ लोग युद्धसे निवृत्त होने लगे। उन सबका कोलाहल जलसे भरे हुए महासागरकी गम्भीर गर्जनाके समान हो रहा था ।। १९½ ।।

ते वध्यमानास्तु तदा पार्थेनामिततेजसा ।। २० ।।
यथाप्राणं यथोत्साहं योधयामासुरर्जुनम् ।

अमित तेजस्वी अर्जुनके द्वारा मारे जानेपर भी सैन्धव योद्धा बल और उत्साहपूर्वक उनके साथ जूझते ही रहे ।। २०½ ।।

ततस्ते फाल्गुनेनाजौ शरैः संनतपर्वभिः ।। २१ ।।
कृता विसंज्ञा भूयिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः ।

थोड़ी ही देरमें अर्जुनने युद्धस्थलमें झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा अधिकांश सैन्धव वीरोंको संज्ञाशून्य कर दिया। उनके वाहन और सैनिक भी थकावटसे खिन्न हो रहे थे ।। २१ ½ ।।

तांस्तु सर्वान् परिग्लानान् विदित्वा धृतराष्ट्रजा ।। २२ ।।
दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा ।
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनाथागमत् तदा ।। २३ ।।
शान्त्यर्थं सर्वयोधानामभ्यगच्छत पाण्डवम् ।

समस्त सैन्धव वीरोंको कष्ट पाते जान धृतराष्ट्रकी पुत्री दुःशला अपने बेटे सुरथके वीर बालकको जो उसका पौत्र था, साथ ले रथपर सवार हो रणभूमिमें पाण्डुकुमार अर्जुनके पास आयी। उसके आनेका उद्देश्य यह था कि सब योद्धा युद्ध छोड़कर शान्त हो जायँ ।। २२-२३ ½ ।।

सा धनंजयमासाद्य रुरोदार्तस्वरं तदा ।। २४ ।।
धनंजयोऽपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः ।

वह अर्जुनके पास आकर आर्तस्वरसे फूट-फूटकर रोने लगी। शक्तिशाली अर्जुनने भी उसे सामने देख अपना धनुष नीचे डाल दिया ।। २४ ½ ।।

समुत्सृज्य धनुः पार्थो विधिवद् भगिनीं तदा ।। २५ ।।
प्राह किं करवाणीति सा च तं प्रत्युवाच ह ।

धनुष त्यागकर कुन्तीकुमारने विधिपूर्वक बहिनका सत्कार किया और पूछा—‘बहिन! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ?’ तब दुःशलाने उत्तर दिया— ।।

एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्यात्मजः शिशुः ।। २६ ।।
अभिवादयते पार्थ तं पश्य पुरुषर्षभ ।

‘भैया! भरतश्रेष्ठ! यह तुम्हारे भानजे सुरथका औरस पुत्र है। पुरुषप्रवर पार्थ! इसकी ओर देखो, यह तुम्हें प्रणाम करता है’ ।। २६½ ।।

इत्युक्तस्तस्य पितरं स पप्रच्छार्जुनस्तथा ।। २७ ।।
क्वासाविति ततो राजन् दुःशला वाक्यमब्रवीत् ।

राजन्! दुःशलाके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उस बालकके पिताके विषयमें जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछा—‘बहिन! सुरथ कहाँ है?’ तब दुःशला बोली— ।। २७½ ।।

पितृशोकाभिसंतप्तो विषादार्तोऽस्य वै पिता ।। २८ ।।
पञ्चत्वमगमद् वीरो यथा तन्मे निशामय ।

‘भैया! इस बालकका पिता वीर सुरथ पितृशोकसे संतप्त और विषादसे पीड़ित हो जिस प्रकार मृत्युको प्राप्त हुआ है, वह मुझसे सुनो ।। २८½ ।।

स पूर्वं पितरं श्रुत्वा हतं युद्धे त्वयानघ ।। २९ ।।
त्वामागतं च संश्रुत्य युद्धाय हयसारिणम् ।
पितुश्च मृत्युदुःखार्तोऽजहात् प्राणान् धनंजय ।। ३० ।।

‘निष्पाप अर्जुन! मेरे पुत्र सुरथने पहलेसे सुन रखा था कि अर्जुनके हाथसे ही मेरे पिताकी मृत्यु हुई है। इसके बाद जब उसके कानोंमें यह समाचार पड़ा है कि तुम घोड़के

पीछे-पीछे युद्धके लिये यहाँतक आ पहुँचे हो तो वह पिताकी मृत्युके दुःखसे आतुर हो अपने प्राणोंका परित्याग कर बैठा है ।। २९-३० ।।

प्राप्तो बीभत्सुरित्येव नाम श्रुत्वैव तेऽनघ ।
विषादार्तः पपातोर्व्यां ममार च ममात्मजः ।। ३१ ।।

'अनघ! 'अर्जुन आये' इन शब्दोंके साथ तुम्हारा नाममात्र सुनकर ही मेरा बेटा विषादसे पीड़ित हो पृथ्वीपर गिरा और मर गया ।। ३१ ।।

तं दृष्ट्वा पतितं तत्र ततस्तस्यात्मजं प्रभो ।
गृहीत्वा समनुप्राप्ता त्वामद्य शरणैषिणी ।। ३२ ।।

'प्रभो! उसको ऐसी अवस्थामें पड़ा हुआ देख उसके पुत्रको साथ ले मैं शरण खोजती हुई आज तुम्हारे पास आयी हूँ' ।। ३२ ।।

इत्युक्त्वाऽऽर्तस्वरं सा तु मुमोच धृतराष्ट्रजा ।
दीना दीनं स्थितं पार्थमब्रवीच्चाप्यधोमुखम् ।। ३३ ।।

ऐसा कहकर धृतराष्ट्र-पुत्री दुःशला दीन होकर आर्तस्वरसे विलाप करने लगी। उसकी दीनदशा देख अर्जुन भी दीन भावसे अपना मुँह नीचे किये खड़े रहे। उस समय दुःशला उनसे फिर बोली— ।। ३३ ।।

स्वसारं समवेक्षस्व स्वस्रीयात्मजमेव च ।
कर्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयां कुरु कुलोद्वह ।। ३४ ।।

'भैया! तुम कुरुकुलमें श्रेष्ठ और धर्मको जाननेवाले हो, अतः दया करो। अपनी इस दुखिया बहिनकी ओर देखो और भानजेके बेटेपर भी कृपादृष्टि करो ।। ३४ ।।

विस्मृत्य कुरुराजानं तं च मन्दं जयद्रथम् ।
अभिमन्योर्यथा जातः परिक्षित् परवीरहा ।। ३५ ।।
तथायं सुरथाज्जातो मम पौत्रो महाभुजः ।

'मन्दबुद्धि दुर्योधन और जयद्रथको भूलकर हमें अपनाओ। जैसे अभिमन्युसे शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले परीक्षित्का जन्म हुआ है, उसी प्रकार सुरथसे यह मेरा महाबाहु पौत्र उत्पन्न हुआ है ।। ३५½ ।।

तमादाय नरव्याघ्र सम्प्राप्तास्मि तवान्तिकम् ।। ३६ ।।
शमार्थं सर्वयोधानां शृणु चेदं वचो मम ।

'पुरुषसिंह! मैं इसीको लेकर समस्त योद्धाओंको शान्त करनेके लिये आज तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम मेरी यह बात सुनो ।। ३६½ ।।

आगतोऽयं महाबाहो तस्य मन्दस्य पुत्रकः ।। ३७ ।।
प्रसादमस्य बालस्य तस्मात् त्वं कर्तुमर्हसि ।

'महाबाहो! यह उस मन्दबुद्धि जयद्रथका पौत्र तुम्हारी शरणमें आया है। अतः इस बालकपर तुम्हें कृपा करनी चाहिये ।। ३७½ ।।

एष प्रसाद्य शिरसा प्रशमार्थमरिंदम ।। ३८ ।।
याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनंजय ।

‘शत्रुदमन महाबाहु धनंजय! यह तुम्हारे चरणोंमें सिर रखकर तुम्हें प्रसन्न करके तुमसे शान्तिके लिये याचना करता है। अब तुम शान्त हो जाओ ।। ३८½ ।।

बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः ।। ३९ ।।
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः ।

‘यह अबोध बालक है, कुछ नहीं जानता है। इसके भाई-बन्धु नष्ट हो चुके हैं। अतः धर्मज्ञ अर्जुन! तुम इसके ऊपर कृपा करो। क्रोधके वशीभूत न होओ ।। ३९½ ।।

तमनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम् ।। ४० ।।
आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

‘इस बालकका पितामह (जयद्रथ) अनार्य, नृशंस और तुम्हारा अपराधी था। उसको भूल जाओ और इस बालकपर कृपा करो’ ।। ४०½ ।।

एवं ब्रुवत्यां करुणं दुःशलायां धनंजयः ।। ४१ ।।
संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रं च पार्थिवम् ।
उवाच दुःखशोकार्तः क्षत्रधर्मं व्यगर्हयत् ।। ४२ ।।

जब दुःशला इस प्रकार करुणायुक्त वचन कहने लगी, तब अर्जुन राजा धृतराष्ट्र और गान्धारी देवीको याद करके दुःख और शोकसे पीड़ित हो क्षत्रिय-धर्मकी निन्दा करने लगे— ।। ४१-४२ ।।

यस्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम् ।
इत्युक्त्वा बहु सान्त्वादिप्रसादमकरोज्जयः ।। ४३ ।।
परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज गृहान् प्रति ।। ४४ ।।

‘उस क्षात्र-धर्मको धिक्कार है, जिसके लिये मैंने अपने सारे बान्धवजनोंको यमलोक पहुँचा दिया।’ ऐसा कहकर अर्जुनने दुःशलाको बहुत सान्त्वाना दी और उसके प्रति अपने कृपाप्रसादका परिचय दिया। फिर प्रसन्नतापूर्वक उससे गले मिलकर उसे घरकी ओर विदा किया ।। ४३-४४ ।।

दुःशला चापि तान् योधान् निवार्य महतो रणात् ।
सम्पूज्य पार्थं प्रययौ गृहानेव शुभानना ।। ४५ ।।

तदनन्तर सुमुखी दुःशलाने उस महान् समरसे अपने समस्त योद्धाओंको पीछे लौटाया और अर्जुनकी प्रशंसा करती हुई वह अपने घरको लौट गयी ।। ४५ ।।

एवं निर्जित्य तान् वीरान् सैन्धवान् स धनंजयः ।
अन्वधावत धावन्तं हयं कामविचारिणम् ।। ४६ ।।

इस प्रकार सैन्धव वीरोंको परास्त करके अर्जुन इच्छानुसार विचरने और दौड़नेवाले उस घोड़ेके पीछे-पीछे स्वयं भी दौड़ने लगे ।। ४६ ।।

ततो मृगमिवाकाशे यथा देवः पिनाकधृक् ।
ससार तं तथा वीरो विधिवद् यज्ञियं हयम् ।। ४७ ।।

जैसे पिनाकधारी महादेवजी आकाशमें मृगके पीछे दौड़े थे, उसी प्रकार वीर अर्जुनने उस यज्ञसम्बन्धी घोड़ेका विधिपूर्वक अनुसरण किया ।। ४७ ।।

स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान् देशान् यथाक्रमम् ।
विचचार यथाकामं कर्म पार्थस्य वर्धयन् ।। ४८ ।।

वह अश्व यथेष्टगतिसे क्रमशः सभी देशोंमें घूमता और अर्जुनके पराक्रमका विस्तार करता हुआ इच्छानुसार विचरने लगा ।। ४८ ।।

क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन् पुरुषर्षभ ।
मणिपूरपतेर्देशमुपायात् सहपाण्डवः ।। ४९ ।।

पुरुषप्रवर जनमेजय! इस प्रकार क्रमशः विचरण करता हुआ वह अश्व अर्जुनसहित मणिपुर-नरेशके राज्यमें जा पहुँचा ।। ४९ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि सैन्धवपराजये अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ।। ७८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें सैन्धवोंकी पराजयविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७८ ।।

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुन और बभ्रुवाहनका युद्ध एवं अर्जुनकी मृत्यु

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं पितरं बभ्रुवाहनः ।
निर्ययौ विनयेनाथ ब्राह्मणार्थपुरःसरः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मणिपुरनरेश बभ्रुवाहनने जब सुना कि मेरे पिता आये हैं, तब वह ब्राह्मणोंको आगे करके बहुत-सा धन साथमें लेकर बड़ी विनयके साथ उनके दर्शनके लिये नगरसे बाहर निकला ।। १ ।।

मणिपूरेश्वरं त्वेवमुपयातं धनंजयः ।
नाभ्यनन्दत् स मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।। २ ।।

मणिपुर-नरेशको इस प्रकार आया देख परम बुद्धिमान् धनंजयने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय लेकर उसका आदर नहीं किया ।। २ ।।

उवाच च स धर्मात्मा समन्युः फाल्गुनस्तदा ।
प्रक्रियेयं न ते युक्ता बहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः ।। ३ ।।

उस समय धर्मात्मा अर्जुन कुछ कुपित होकर बोले—'बेटा! तेरा यह ढंग ठीक नहीं है। जान पड़ता है, तू क्षत्रिय-धर्मसे बहिष्कृत हो गया है ।। ३ ।।

संरक्ष्यमाणं तुरगं यौधिष्ठिरमुपागतम् ।
यज्ञियं विषयान्ते मां नायौत्सीः किं नु पुत्रक ।। ४ ।।

'पुत्र! मैं महाराज युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी अश्वकी रक्षा करता हुआ तेरे राज्यके भीतर आया हूँ। फिर भी तू मुझसे युद्ध क्यों नहीं करता? ।। ४ ।।

धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धिं क्षत्रधर्मबहिष्कृतम् ।
यो मां युद्धाय सम्प्राप्तं साम्नैव प्रत्यगृह्णथाः ।। ५ ।।

'तुझ दुर्बुद्धिको धिक्कार है, तू निश्चय ही क्षत्रियधर्मसे भ्रष्ट हो गया है, क्योंकि युद्धके लिये आये हुए मेरा स्वागत-सत्कार तू सामनीतिसे कर रहा है ।।

न त्वया पुरुषार्थो हि कश्चिदस्तीह जीवता ।
यस्त्वं स्त्रीवद् यथाप्राप्तं मां साम्ना प्रत्यगृह्णथाः ।। ६ ।।

'तूने संसारमें जीवित रहकर भी कोई पुरुषार्थ नहीं किया। तभी तो एक स्त्रीकी भाँति तू यहाँ युद्धके लिये आये हुए मुझे शान्तिपूर्वक साथ लेनेके लिये चेष्टा कर रहा है ।। ६ ।।

यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते ।
प्रक्रियेयं भवेद् युक्ता तावत् तव नराधम ।। ७ ।।

‘दुर्बुद्धे! नराधम! यदि मैं हथियार रखकर खाली हाथ तेरे पास आता तो इस ढंगसे मिलना ठीक हो सकता था’ ।। ७ ।।

तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगात्मजा ।
अमृष्यमाणा भित्त्वोर्वीमुलूपी समुपागमत् ।। ८ ।।

पतिदेव अर्जुन जब अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे ऐसी बात कह रहे थे, उस समय नागकन्या उलूपी उस बातको सुनकर उनके अभिप्रायको जान गयी और उनके द्वारा किये गये पुत्रके तिरस्कारको सहन न कर सकनेके कारण वह धरती छेदकर वहाँ चली आयी ।। ८ ।।

सा ददर्श ततः पुत्रं विमृशन्तमधोमुखम् ।
संतर्ज्यमानमसकृत् पित्रा युद्धार्थिना प्रभो ।। ९ ।।
ततः सा चारुसर्वाङ्गी समुपेत्योरगात्मजा ।
उलूपी प्राह वचनं धर्म्यं धर्मविशारदम् ।। १० ।।

प्रभो! उसने देखा कि पुत्र बभ्रुवाहन नीचे मुँह किये किसी सोच-विचारमें पड़ा हुआ है और युद्धार्थी पिता उसे बारंबार डाँट-फटकार रहे हैं। तब मनोहर अंगोंवाली नागकन्या उलूपी धर्म-निपुण बभ्रुवाहनके पास आकर यह धर्मसम्मत बात बोली— ।। ९-१० ।।

उलूपीं मां निबोध त्वं मातरं पन्नगात्मजाम् ।
कुरुष्व वचनं पुत्र धर्मस्ते भविता परः ।। ११ ।।

‘बेटा! तुम्हें विदित होना चाहिये कि मैं तुम्हारी विमाता नागकन्या उलूपी हूँ। तुम मेरी आज्ञाका पालन करो। इससे तुम्हें महान् धर्मकी प्राप्ति होगी’ ।। ११ ।।

युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्मदम् ।
एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ।। १२ ।।

‘तुम्हारे पिता कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर और युद्धके मदसे उन्मत्त रहनेवाले हैं। अतः इनके साथ अवश्य युद्ध करो। ऐसा करनेसे ये तुमपर प्रसन्न होंगे। इसमें संशय नहीं है’ ।। १२ ।।

एवं दुर्मर्षितो राजा स मात्रा बभ्रुवाहनः ।
मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ।। १३ ।।

भरतश्रेष्ठ! माताके द्वारा इस प्रकार अमर्ष दिलाये जानेपर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहनने मन-ही-मन युद्ध करनेका निश्चय किया ।। १३ ।।

संनह्य काञ्चनं वर्म शिरस्त्राणं च भानुमत् ।
तूणीरशतसम्बाधमारुरोह रथोत्तमम् ।। १४ ।।

सुवर्णमय कवच पहनकर तेजस्वी शिरस्त्राण (टोप) धारण करके वह सैकड़ों तरकसोंसे भरे हुए उत्तम रथपर आरूढ़ हुआ ।। १४ ।।

सर्वोपकरणोपेतं युक्तमश्वैर्मनोजवैः ।
सचक्रोपस्करं श्रीमान् हेमभाण्डपरिष्कृतम् ।। १५ ।।
परमार्चितमुच्छ्रित्य ध्वजं सिंहं हिरण्मयम् ।

प्रययौ पार्थमुद्दिश्य स राजा बभ्रुवाहनः ।। १६ ।।

उस रथमें सब प्रकारकी युद्ध-सामग्री सजाकर रखी गयी थी। मनके समान वेगशाली घोड़े जुते हुए थे। चक्र और अन्य आवश्यक सामान भी प्रस्तुत थे। सोनेके भाण्ड उसकी शोभा बढ़ाते थे। सुवर्णसे ही उस रथका निर्माण हुआ था। उसपर सिंहके चिह्नवाली ऊँची ध्वजा फहरा रही थी। उस परम पूजित उत्तम रथपर सवार हो श्रीमान् राजा बभ्रुवाहन अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा ।। १५-१६ ।।

ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम् ।
ग्राहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ।। १७ ।।

पार्थद्वारा सुरक्षित उस यज्ञसम्बन्धी अश्वके पास जाकर उस वीरने अश्वशिक्षाविशारद पुरुषोंद्वारा उसे पकड़वा लिया ।। १७ ।।

गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनंजयः ।
पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ।। १८ ।।

घोड़ेको पकड़ा गया देख अर्जुन मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। यद्यपि वे भूमिपर खड़े थे तो भी रथपर बैठे हुए अपने पुत्रको युद्धके मैदानमें आगे बढ़नेसे रोकने लगे ।। १८ ।।

स तत्र राजा तं वीरं शरसंघैरनेकशः ।
अर्दयामास निशितैराशीविषविषोपमैः ।। १९ ।।

राजा बभ्रुवाहनने वहाँ अपने वीर पिताको विषैले साँपोंके समान जहरीले और तेज किये हुए सैकड़ों बाण-समूहोंद्वारा बींधकर अनेक बार पीड़ित किया ।। १९ ।।

तयोः समभवद् युद्धं पितुः पुत्रस्य चातुलम् ।
देवासुररणप्रख्यमुभयोः प्रीयमाणयोः ।। २० ।।

वे पिता और पुत्र दोनों प्रसन्न होकर लड़ रहे थे। उन दोनोंका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था। उसकी इस जगत्‌में कहीं भी तुलना नहीं थी ।। २० ।।

किरीटिनं प्रविव्याध शरेणानतपर्वणा ।
जत्रुदेशे नरव्याघ्रं प्रहसन् बभ्रुवाहनः ।। २१ ।।

बभ्रुवाहनने हँसते-हँसते पुरुषसिंह अर्जुनके गलेकी हँसलीमें झुकी हुई गाँठवाले एक बाणद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ।। २१ ।।

सोऽभ्यगात् सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः ।
विनिर्भिद्य च कौन्तेयं प्रविवेश महीतलम् ।। २२ ।।

जैसे साँप बाँबीमें घुस जाता है, उसी प्रकार वह बाण अर्जुनके शरीरमें पंखसहित घुस गया और उसे छेदकर पृथ्वीमें समा गया ।। २२ ।।

स गाढवेदनो धीमानालम्ब्य धनुरुत्तमम् ।
दिव्यं तेजः समाविश्य प्रमीत इव सोऽभवत् ।। २३ ।।

इससे अर्जुनको बड़ी वेदना हुई। बुद्धिमान् अर्जुन अपने उत्तम धनुषका सहारा लेकर दिव्य तेजमें स्थित हो मुर्देके समान हो गये ।। २३ ।।

स संज्ञामुपलभ्याथ प्रशस्य पुरुषर्षभः ।
पुत्रं शक्रात्मजो वाक्यमिदमाह महाद्युतिः ।। २४ ।।

थोड़ी देर बाद होशमें आनेपर महातेजस्वी पुरुषप्रवर इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने पुत्रकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा— ।। २४ ।।

साधु साधु महाबाहो वत्स चित्राङ्गदात्मज ।
सदृशं कर्म ते दृष्ट्वा प्रीतिमानस्मि पुत्रक ।। २५ ।।

'महाबाहु चित्रांगदाकुमार! तुम्हें साधुवाद। वत्स! तुम धन्य हो। पुत्र! तुम्हारे योग्य पराक्रम देखकर मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ ।। २५ ।।

विमुञ्चाम्येष ते बाणान् पुत्र युद्धे स्थिरो भव ।
इत्येवमुक्त्वा नाराचैरभ्यवर्षदमित्रहा ।। २६ ।।

'अच्छा बेटा! अब मैं तुमपर बाण छोड़ता हूँ। तुम सावधान एवं स्थिर हो जाओ।' ऐसा कहकर शत्रुसूदन अर्जुनने बभ्रुवाहनपर नाराचोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ।। २६ ।।

तान् स गाण्डीवनिर्मुक्तान् वज्राशनिसमप्रभान् ।
नाराचानच्छिनद् राजा भल्लैःसर्वांस्त्रिधा द्विधा ।। २७ ।।

परंतु राजा बभ्रुवाहनने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए वज्र और बिजलीके समान तेजस्वी उन समस्त नाराचोंको अपने भल्लोंद्वारा मारकर प्रत्येकके दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर दिये ।। २७ ।।

तस्य पार्थः शरैर्दिव्यैर्ध्वजं हेमपरिष्कृतम् ।
सुवर्णतालप्रतिमं क्षुरेणापाहरद् रथात् ।। २८ ।।
हयांश्चास्य महाकायान् महावेगानरिंदम ।
चकार राजन् निर्जीवान् प्रहसन्निव पाण्डवः ।। २९ ।।

राजन्! तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने हँसते हुए-से अपने क्षुर नामक दिव्य बाणोंद्वारा बभ्रुवाहनके रथसे सुनहरे तालवृक्षके समान ऊँची सुवर्णभूषित ध्वजा काट गिरायी। शत्रुदमन नरेश! साथ ही उन्होंने उसके महान् वेगशाली विशालकाय घोड़ोंके भी प्राण ले लिये ।। २८-२९ ।।

स रथादवतीर्याथ राजा परमकोपनः ।
पदातिः पितरं क्रुद्धो योधयामास पाण्डवम् ।। ३० ।।

तब रथसे उतरकर परम क्रोधी राजा बभ्रुवाहन कुपित हो पैदल ही अपने पिता पाण्डुपुत्र अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ।। ३० ।।

सम्प्रीयमाणः पार्थानामृषभः पुत्रविक्रमात् ।
नात्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधरात्मजः ।। ३१ ।।

कुन्तीपुत्रोंमें श्रेष्ठ इन्द्रकुमार अर्जुन अपने बेटेके पराक्रमसे बहुत प्रसन्न हुए थे। इसलिये वे उसे अधिक पीड़ा नहीं देते थे ।। ३१ ।।

स मन्यमानो विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः ।
शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद् बली ।। ३२ ।।

बलवान् बभ्रुवाहन पिताको युद्धसे विरत मानकर विषधर सर्पोंके समान विषैले बाणोंद्वारा उन्हें पुनः पीड़ा देने लगा ।। ३२ ।।

ततः स बाल्यात् पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा ।
निशितेन सुपुङ्खेन बलवद् बभ्रुवाहनः ।। ३३ ।।

उसने बालोचित अविवेकके कारण परिणामपर विचार किये बिना ही सुन्दर पाँखवाले एक तीखे बाणद्वारा पिताकी छातीमें एक गहरा आघात किया ।। ३३ ।।

विवेश पाण्डवं राजन् मर्म भित्त्वातिदुःखकृत् ।
स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ।। ३४ ।।
महीं जगाम मोहार्तस्ततो राजन् धनंजयः ।

राजन्! वह अत्यन्त दुःखदायी बाण पाण्डुपुत्र अर्जुनके मर्म-स्थलको विदीर्ण करके भीतर घुस गया। महाराज! पुत्रके चलाये हुए उस बाणसे अत्यन्त घायल होकर कुरुनन्दन अर्जुन मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े ।।

तस्मिन् निपतिते वीरे कौरवाणां धुरंधरे ।। ३५ ।।
सोऽपि मोहं जगामाथ ततश्चित्राङ्गदासुतः ।

कौरव-धुरंधर वीर अर्जुनके धराशायी होनेपर चित्रांगदाकुमार बभ्रुवाहन भी मूर्च्छित हो गया ।। ३५½ ।।

व्यायम्य संयुगे राजा दृष्ट्वा च पितरं हतम् ।। ३६ ।।
पूर्वमेव स बाणौघैर्गाढविद्धोऽर्जुनेन ह ।
पपात सोऽपि धरणीमालिङ्ग्य रणमूर्धनि ।। ३७ ।।

राजा बभ्रुवाहन युद्धस्थलमें बड़ा परिश्रम करके लड़ा था। वह भी अर्जुनके बाणसमूहोंद्वारा पहलेसे ही बहुत घायल हो चुका था। अतः पिताको मारा गया देख वह भी युद्धके मुहानेपर अचेत होकर गिर पड़ा और पृथ्वीका आलिंगन करने लगा ।। ३६-३७ ।।

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रं च पतितं भुवि ।
चित्राङ्गदा परित्रस्ता प्रविवेश रणाजिरे ।। ३८ ।।

पतिदेव मारे गये और पुत्र भी संज्ञाशून्य होकर पृथ्वीपर पड़ा है। यह देख चित्रांगदाने संतप्त हृदयसे समरांगणमें प्रवेश किया ।। ३८ ।।

शोकसंतप्तहृदया रुदती वेपती भृशम् ।
मणिपूरपतेर्माता ददर्श निहतं पतिम् ।। ३९ ।।

मणिपुर-नरेशकी माताका हृदय शोकसे संतप्त हो उठा था! रोती और काँपती हुई चित्रांगदाने देखा कि पतिदेव मारे गये ।। ३९ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुनबभ्रुवाहनयुद्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ।। ७९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुन और बभ्रुवाहनका युद्धविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ७९ ।।

अशीतितमोऽध्यायः

चित्रांगदाका विलाप, मूर्च्छासे जगनेपर बभ्रुवाहनका शोकोद्गार और उलूपीके प्रयत्नसे संजीवनीमणिके द्वारा अर्जुनका पुनः जीवित होना

वैशम्पायन उवाच

ततो बहुतरं भीरुर्विलप्य कमलेक्षणा ।
मुमोह दुःखसंतप्ता पपात च महीतले ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भीरु स्वभाववाली कमलनयनी चित्रांगदा पतिवियोग-दुःखसे संतप्त होकर बहुत विलाप करती हुई मूर्च्छित हो गयी और पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। १ ।।

प्रतिलभ्य च सा संज्ञां देवी दिव्यवपुर्धरा ।
उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् ।। २ ।।

कुछ देर बाद होशमें आनेपर दिव्यरूपधारिणी देवी चित्रांगदाने नागकन्या उलूपीको सामने खड़ी देख इस प्रकार कहा— ।। २ ।।

उलूपि पश्य भर्तारं शयानं निहतं रणे ।

त्वत्कृते मम पुत्रेण बाणेन समितिंजयम् ।। ३ ।।

'उलूपी! देखो, हम दोनोंके स्वामी मारे जाकर रणभूमिमें सो रहे हैं। तुम्हारी प्रेरणासे ही मेरे बेटेने समरविजयी अर्जुनका वध किया है ।। ३ ।।

ननु त्वमार्यधर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता ।

यत्त्वस्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे ।। ४ ।।

'बहिन! तुम तो आर्यधर्मको जाननेवाली और पतिव्रता हो। तथापि तुम्हारी ही करतूतसे ये तुम्हारे पति इस समय रणभूमिमें मरे पड़े हैं ।। ४ ।।

किंतु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनंजयः ।

क्षमस्व याच्यमाना वै जीवयस्व धनंजयम् ।। ५ ।।

'किंतु यदि ये अर्जुन सर्वथा तुम्हारे अपराधी हों तो भी आज क्षमा कर दो। मैं तुमसे इनके प्राणोंकी भीख माँगती हूँ। तुम धनंजयको जीवित कर दो ।। ५ ।।

ननु त्वमार्ये धर्मज्ञा त्रैलोक्यविदिता शुभे ।

यद् घातयित्वा पुत्रेण भर्तारं नानुशोचसि ।। ६ ।।

'आर्ये! शुभे! तुम धर्मको जाननेवाली और तीनों लोकोंमें विख्यात हो। तो भी आज पुत्रसे पतिकी हत्या कराकर तुम्हें शोक या पश्चात्ताप नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है? ।। ६ ।।

नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि ।

पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम् ।। ७ ।।

'नागकुमारी! मेरा पुत्र भी मरा पड़ा है, तो भी मैं उसके लिये शोक नहीं करती। मुझे केवल पतिके लिये शोक हो रहा है, जिनका मेरे यहाँ इस तरह आतिथ्य-सत्कार किया गया' ।। ७ ।।

इत्युक्त्वा सा तदा देवीमुलूपीं पन्नगात्मजाम् ।

भर्तारमभिगम्येदमित्युवाच यशस्विनी ।। ८ ।।

नागकन्या उलूपीदेवीसे ऐसा कहकर यशस्विनी चित्राङ्गदा उस समय पतिके निकट गयी और उन्हें सम्बोधित करके इस प्रकार विलाप करने लगी— ।। ८ ।।

उत्तिष्ठ कुरुमुख्यस्य प्रियमुख्य मम प्रिय ।

अयमश्वो महाबाहो मया ते परिमोक्षितः ।। ९ ।।

'कुरुराजके प्रियतम और मेरे प्राणाधार! उठो। महाबाहो! मैंने तुम्हारा यह घोड़ा छुड़वा दिया है ।। ९ ।।

ननु त्वया नाम विभो धर्मराजस्य यज्ञियः ।

अयमश्वोऽनुसर्तव्यः स शेषे किं महीतले ।। १० ।।

'प्रभो! तुम्हें तो महाराज युधिष्ठिरके यज्ञ-सम्बन्धी अश्वके पीछे-पीछे जाना है; फिर यहाँ पृथ्वीपर कैसे सो रहे हो? ।। १० ।।

त्वयि प्राणा ममायत्ताः कुरूणां कुरुनन्दन ।
स कस्मात् प्राणदोऽन्येषां प्राणात् संत्यक्तवानसि ।। ११ ।।

'कुरुनन्दन! मेरे और कौरवोंके प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं। तुम तो दूसरोंके प्राणदाता हो, तुमने स्वयं कैसे प्राण त्याग दिये?' ।। ११ ।।

उलूपि साधु पश्येमं पतिं निपतितं भुवि ।
पुत्रं चेमं समुत्साद्य घातयित्वा न शोचसि ।। १२ ।।

(इतना कहकर वह फिर उलूपीसे बोली—) 'उलूपी! ये पतिदेव भूतलपर पड़े हैं। तुम इन्हें अच्छी तरह देख लो। तुमने इस बेटेको उकसाकर स्वामीकी हत्या करायी है। क्या इसके लिये तुम्हें शोक नहीं होता? ।। १२ ।।

कामं स्वपितु बालोऽयं भूमौ मृत्युवशं गतः ।
लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु ।। १३ ।।

'मृत्युके वशमें पड़ा हुआ मेरा यह बालक चाहे सदाके लिये भूमिपर सोता रह जाय, किंतु निद्राके स्वामी, विजय पानेवाले अरुणनयन अर्जुन अवश्य जीवित हों—यही उत्तम है ।। १३ ।।

नापराधोऽस्ति सुभगे नराणां बहुभार्यता ।
प्रमदानां भवत्येष मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ।। १४ ।।

'सुभगे! कोई पुरुष बहुत-सी स्त्रियोंको पत्नी बनाकर रखे, तो उनके लिये यह अपराध या दोषकी बात नहीं होती। स्त्रियाँ यदि ऐसा करें (अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध रखें) तो यह उनके लिये अवश्य दोष या पापकी बात होती है। अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्रूर नहीं होनी चाहिये ।। १४ ।।

सख्यं चैतत् कृतं धात्रा शश्वदव्ययमेव तु ।
सख्यं समभिजानीहि सत्यं सङ्गतमस्तु ते ।। १५ ।।

'विधाताने पति और पत्नीकी मित्रता सदा रहनेवाली और अटूट बनायी है। (तुम्हारा भी इनके साथ वही सम्बन्ध है।) इस सख्यभावके महत्त्वको समझो और ऐसा उपाय करो जिससे तुम्हारी इनके साथ की हुई मैत्री सत्य एवं सार्थक हो ।। १५ ।।

पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै ।
जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ।। १६ ।।

'तुम्हींने बेटेको लड़ाकर उसके द्वारा इन पतिदेवकी हत्या करवायी है। यह सब करके यदि आज तुम पुनः इन्हें जीवित करके न दिखा दोगी तो मैं भी प्राण त्याग दूँगी ।। १६ ।।

साहं दुःखान्विता देवि पतिपुत्रविनाकृता ।

इहैव प्रायमाशिष्ये प्रेक्षन्त्यास्ते न संशयः ।। १७ ।।

'देवि! मैं पति और पुत्र दोनोंसे वञ्चित होकर दुःखमें डूब गयी हूँ। अतः अब यहीं तुम्हारे देखते-देखते मैं आमरण उपवास करूँगी, इसमें संशय नहीं है' ।। १७ ।।

इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नी चैत्रवाहनी ।
ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ।। १८ ।।

नरेश्वर! नागकन्यासे ऐसा कहकर उसकी सौत चित्रवाहनकुमारी चित्रांगदा आमरण उपवासका संकल्प लेकर चुपचाप बैठ गयी ।। १८ ।।

वैशम्पायन उवाच

ततो विलप्य विरता भर्तुः पादौ प्रगृह्य सा ।
उपविष्टाभवद् दीना सोच्छ्वासं पुत्रमीक्षती ।। १९ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विलाप करके उससे विरत हो चित्रांगदा अपने पतिके दोनों चरण पकड़कर दीनभावसे बैठ गयी और लंबी साँस खींच-खींचकर अपने पुत्रकी ओर भी देखने लगी ।। १९ ।।

ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ।। २० ।।

थोड़ी ही देरमें राजा बभ्रुवाहनको पुनः चेत हुआ। वह अपनी माताको रणभूमिमें बैठी देख इस प्रकार विलाप करने लगा— ।। २० ।।

इतो दुःखतरं किं नु यन्मे माता सुखैधिता ।
भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ।। २१ ।।

'हाय! जो अबतक सुखोंमें पली थी, वही मेरी माता चित्रांगदा आज मृत्युके अधीन होकर पृथ्वीपर पड़े हुए अपने वीर पतिके साथ मरनेका निश्चय करके बैठी हुई है। इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है? ।। २१ ।।

निहन्तारं रणेऽरीणां सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
मया विनिहतं संख्ये प्रेक्षते दुर्मरं बत ।। २२ ।।

'संग्राममें जिनका वध करना दूसरेके लिये नितान्त कठिन है, जो युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेवाले तथा सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं, उन्हीं मेरे पिता अर्जुनको आज यह मेरे ही हाथों मरकर पड़ा देख रही है ।। २२ ।।

अहोऽस्या हृदयं देव्या दृढं यन्न विदीर्यते ।
व्यूढोरस्कं महाबाहुं प्रेक्षन्त्या निहतं पतिम् । २३ ।।
दुर्मरं पुरुषेणेह मन्ये ह्यध्वन्यनागते ।

‘चौड़ी छाती और विशाल भुजावाले अपने पतिको मारा गया देखकर भी जो मेरी माता चित्रांगदा देवीका दृढ़ हृदय विदीर्ण नहीं हो जाता है। इससे मैं यह मानता हूँ कि अन्तकाल आये बिना मनुष्यका मरना बहुत कठिन है ।। २३$\frac{१}{२}$ ।।

यत्र नाहं न मे माता विप्रयुज्येत जीवितात् ।। २४ ।।

हा हा धिक् कुरुवीरस्य संनाहं काञ्चनं भुवि ।
अपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यत ।। २५ ।।

‘तभी तो इस संकटके समय भी मेरे और मेरी माताके प्राण नहीं निकलते। हाय! हाय! मुझे धिक्कार है, लोगों! देख लो! मुझ पुत्रके द्वारा मारे गये कुरुवीर अर्जुनका सुनहरा कवच यहाँ पृथ्वीपर फेंका पड़ा है’ ।। २४-२५ ।।

भो भो पश्यत मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि ।
शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ।। २६ ।।

‘हे ब्राह्मणो! देखो, मुझ पुत्रके द्वारा मार गिराये गये मेरे वीर पिता अर्जुन वीरशय्यापर सो रहे हैं ।। २६ ।।

ब्राह्मणाः कुरुमुख्यस्य ये मुक्ता हयसारिणः ।
कुर्वन्ति शान्तिं कामस्य रणे योऽयं मया हतः ।। २७ ।।

‘कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके घोड़ेके पीछे-पीछे चलनेवाले जो ब्राह्मणलोग शान्तिकर्म करनेके लिये नियुक्त हुए हैं, वे इनके लिये कौन-सी शान्ति करते थे, जो ये रणभूमिमें मेरेद्वारा मार डाले गये! ।। २७ ।।

व्यादिशन्तु च किं विप्राः प्रायश्चित्तमिहाद्य मे ।
सुनृशंसस्य पापस्य पितृहन्तू रणाजिरे ।। २८ ।।

‘ब्राह्मणो! मैं अत्यन्त क्रूर, पापी और समरांगणमें पिताकी हत्या करनेवाला हूँ। बताइये, मेरे लिये अब यहाँ कौन-सा प्रायश्चित्त है? ।। २८ ।।

दुश्चरा द्वादशसमा हत्वा पितरमद्य वै ।
ममेह सुनृशंसस्य संवीतस्यास्य चर्मणा ।। २९ ।।
शिरःकपाले चास्यैव युञ्जतः पितुरद्य मे ।
प्रायश्चित्तं हि नास्त्यन्यद्धत्वाद्य पितरं मम ।। ३० ।।

‘आज पिताकी हत्या करके मेरे लिये बारह वर्षोंतक कठोर व्रतका पालन करना अत्यन्त कठिन है। मुझ क्रूर पितृघातीके लिये यहाँ यही प्रायश्चित्त है कि मैं इन्हींके चमड़ेसे अपने शरीरको आच्छादित करके रहूँ और अपने पिताके मस्तक एवं कपालको धारण किये बारह वर्षोंतक विचरता रहूँ। पिताका वध करके अब मेरे लिये दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है ।। २९-३० ।।

पश्य नागोत्तमसुते भर्तारं निहतं मया ।
कृतं प्रियं मया तेऽद्य निहत्य समरेऽर्जुनम् ।। ३१ ।।

'नागराजकुमारी! देखो, युद्धमें मैंने तुम्हारे स्वामीका वध किया है। सम्भव है आज समरांगणमें इस तरह अर्जुनकी हत्या करके मैंने तुम्हारा प्रिय कार्य किया हो ।। ३१ ।।

सोऽहमद्य गमिष्यामि गतिं पितृनिषेविताम् ।
न शक्नोम्यात्मनाऽऽत्मानमहं धारयितुं शुभे ।। ३२ ।।

'परंतु शुभे! अब मैं इस शरीरको धारण नहीं कर सकता। आज मैं भी उस मार्गपर जाऊँगा, जहाँ मेरे पिताजी गये हैं ।। ३२ ।।

सा त्वं मयि मृते मातस्तथा गाण्डीवधन्वनि ।
भव प्रीतिमती देवि सत्येनात्मानमालभे ।। ३३ ।।

'मातः! देवि! मेरे तथा गाण्डीवधारी अर्जुनके मर जानेपर तुम भलीभाँति प्रसन्न होना। मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि पिताजीके बिना मेरा जीवन असम्भव है' ।। ३३ ।।

इत्युक्त्वा स ततो राजा दुःखशोकसमाहतः ।
उपस्पृश्य महाराज दुःखाद् वचनमब्रवीत् ।। ३४ ।।

महाराज! ऐसा कहकर दुःख और शोकसे पीड़ित हुए राजा बभ्रुवाहनने आचमन किया और बड़े दुःखसे इस प्रकार कहा— ।। ३४ ।।

शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे ।। ३५ ।।

'संसारके समस्त चराचर प्राणियो! आप मेरी बात सुनें। नागराजकुमारी माता उलूपी! तुम भी सुन लो। मैं सच्ची बात बता रहा हूँ ।। ३५ ।।

यदि नोत्तिष्ठति जयः पिता मे नरसत्तमः ।
अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये कलेवरम् ।। ३६ ।।

'यदि मेरे पिता नरश्रेष्ठ अर्जुन आज जीवित हो पुनः उठकर खड़े नहीं हो जाते तो मैं इस रणभूमिमें ही उपवास करके अपने शरीरको सुखा डालूँगा ।। ३६ ।।

न हि मे पितरं हत्वा निष्कृतिर्विद्यते क्वचित् ।
नरकं प्रतिपत्स्यामि ध्रुवं गुरुवधार्दितः ।। ३७ ।।

'पिताकी हत्या करके मेरे लिये कहीं कोई उद्धारका उपाय नहीं है। गुरुजन (पिता)-के वधरूपी पापसे पीड़ित हो मैं निश्चय ही नरकमें पड़ूँगा' ।। ३७ ।।

वीरं हि क्षत्रियं हत्वा गोशतेन प्रमुच्यते ।
पितरं तु निहत्यैवं दुर्लभा निष्कृतिर्मम ।। ३८ ।।

'किसी एक वीर क्षत्रियका वध करके विजेता वीर सौ गोदान करनेसे उस पापसे छुटकारा पाता है; परंतु पिताकी हत्या करके इस प्रकार उस पापसे छुटकारा मिल जाय, यह मेरे लिये सर्वथा दुर्लभ है ।। ३८ ।।

एष एको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनंजयः ।
पिता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ।। ३९ ।।

‘ये पाण्डुपुत्र धनंजय अद्वितीय वीर, महान् तेजस्वी, धर्मात्मा तथा मेरे पिता थे। इनका वध करके मैंने महान् पाप किया है। अब मेरा उद्धार कैसे हो सकता है?’ ।। ३९ ।।

इत्येवमुक्त्वा नृपते धनंजयसुतो नृपः ।
उपस्पृश्याभवत् तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ।। ४० ।।

नरेश्वर! ऐसा कहकर धनंजयकुमार परम बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन पुनः आचमन करके आमरण उपवासका व्रत लेकर चुपचाप बैठ गया ।। ४० ।।

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे तदा ।
पितृशोकसमाविष्टे सह मात्रा परंतप ।। ४१ ।।
उलूपी चिन्तयामास तदा संजीवनं मणिम् ।
स चोपातिष्ठत तदा पन्नगानां परायणम् ।। ४२ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले जनमेजय! पिताके शोकसे संतप्त हुआ मणिपुरनरेश बभ्रुवाहन जब माताके साथ आमरण उपवासका व्रत लेकर बैठ गया, तब उलूपीने संजीवनमणिका स्मरण किया। नागोंके जीवनकी आधारभूत वह मणि उसके स्मरण करते ही वहाँ आ गयी ।। ४१-४२ ।।

तं गृहीत्वा तु कौरव्य नागराजपतेः सुता ।
मनःप्रह्लादनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ।। ४३ ।।

कुरुनन्दन! उस मणिको लेकर नागराजकुमारी उलूपी सैनिकोंके मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली बात बोली— ।। ४३ ।।

उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैव विष्णुस्त्वया जितः ।
अजेयः पुरुषैरेष तथा देवैः सवासवैः ।। ४४ ।।

‘बेटा बभ्रुवाहन! उठो, शोक न करो! ये अर्जुन तुम्हारे द्वारा परास्त नहीं हुए हैं। ये तो सभी मनुष्यों और इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अजेय हैं ।। ४४ ।।

मया तु मोहनी नाम मायैषा सम्प्रदर्शिता ।
प्रियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः ।। ४५ ।।

‘यह तो मैंने आज तुम्हारे यशस्वी पिता पुरुषप्रवर धनंजयका प्रिय करनेके लिये मोहनी माया दिखलायी है ।। ४५ ।।

जिज्ञासुर्ह्येष पुत्रस्य बलस्य तव कौरवः ।
संग्रामे युद्ध्यतो राजन्नागतः परवीरहा ।। ४६ ।।
तस्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिचोदितः ।
मा पापमात्मनः पुत्र शङ्केथा ह्यण्वपि प्रभो ।। ४७ ।।

'राजन्! तुम इनके पुत्र हो। ये शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले कुरुकुलतिलक अर्जुन संग्राममें जूझते हुए तुम-जैसे बेटेका बल-पराक्रम जानना चाहते थे। वत्स! इसीलिये मैंने तुम्हें युद्धके लिये प्रेरित किया है। सामर्थ्यशाली पुत्र! तुम अपनेमें अणुमात्र पापकी भी आशंका न करो ।। ४६-४७ ।।

ऋषिरेष महानात्मा पुराणः शाश्वतोऽक्षरः ।
नैनं शक्तो हि संग्रामे जेतुं शक्रोऽपि पुत्रक ।। ४८ ।।

'ये महात्मा नर पुरातन ऋषि, सनातन एवं अविनाशी हैं। बेटा! युद्धमें इन्हें इन्द्र भी नहीं जीत सकते ।। ४८ ।।

अयं तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो विशाम्पते ।
मृतान् मृतान् पन्नगेन्द्रान् यो जीवयति नित्यदा ।। ४९ ।।
एनमस्योरसि त्वं च स्थापयस्व पितुः प्रभो ।
संजीवितं तदा पार्थं स त्वं द्रष्टासि पाण्डवम् ।। ५० ।।

'प्रजानाथ! मैं यह दिव्यमणि ले आयी हूँ। यह सदा युद्धमें मरे हुए नागराजोंको जीवित किया करती है। प्रभो! तुम इसे लेकर अपने पिताकी छातीपर रख दो। फिर तुम पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार अर्जुनको जीवित हुआ देखोगे' ।। ४९-५० ।।

इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि मणिं तदा ।
पार्थस्यामिततेजाः स पितुः स्नेहादपापकृत् ।। ५१ ।।

उलूपीके ऐसा कहनेपर निष्पाप कर्म करनेवाले अमित तेजस्वी बभ्रुवाहनने अपने पिता पार्थकी छातीपर स्नेहपूर्वक वह मणि रख दी ।। ५१ ।।

तस्मिन् न्यस्ते मणौ वीरो जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः ।
चिरसुप्त इवोत्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ।। ५२ ।।

उस मणिके रखते ही शक्तिशाली वीर अर्जुन देरतक सोकर जगे हुए मनुष्यकी भाँति अपनी लाल आँखें मलते हुए पुनः जीवित हो उठे ।। ५२ ।।

तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् ।
समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ।। ५३ ।।

अपने मनस्वी पिता महात्मा अर्जुनको सचेत एवं स्वस्थ होकर उठा हुआ देख बभ्रुवाहनने उनके चरणोंमें प्रणाम किया ।। ५३ ।।

उत्थिते पुरुषव्याघ्रे पुनर्लक्ष्मीवति प्रभो ।
दिव्याः सुमनसः पुण्या ववृषे पाकशासनः ।। ५४ ।।

प्रभो! पुरुषसिंह श्रीमान् अर्जुनके पुनः उठ जानेपर पाकशासन इन्द्रने उनके ऊपर दिव्य एवं पवित्र फूलोंकी वर्षा की ।। ५४ ।।

अनाहता दुन्दुभयो विनेदुर्मेघनिःस्वनाः ।
साधु साध्विति चाकाशे बभूव सुमहान् स्वनः ।। ५५ ।।

मेघके समान गम्भीर ध्वनि करनेवाली देव-दुन्दुभियाँ बिना बजाये ही बज उठीं और आकाशमें साधुवादकी महान् ध्वनि गूँजने लगी ।। ५५ ।।

उत्थाय च महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनंजयः ।
बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्धनि ।। ५६ ।।

महाबाहु अर्जुन भलीभाँति स्वस्थ होकर उठे और बभ्रुवाहनको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघने लगे ।। ५६ ।।

ददर्श चापि दूरेऽस्य मातरं शोककर्शिताम् ।
उलूप्या सह तिष्ठन्तीं ततोऽपृच्छद् धनंजयः ।। ५७ ।।

उससे थोड़ी ही दूरपर बभ्रुवाहनकी शोकाकुल माता चित्रांगदा उलूपीके साथ खड़ी थी। अर्जुनने जब उसे देखा, तब बभ्रुवाहनसे पूछा— ।। ५७ ।।

किमिदं लक्ष्यते सर्वं शोकविस्मयहर्षवत् ।
रणाजिरममित्रघ्न यदि जानासि शंस मे ।। ५८ ।।

'शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर पुत्र! यह सारा समरांगण शोक, विस्मय और हर्षसे युक्त क्यों दिखायी देता है? यदि जानते हो तो मुझे बताओ ।। ५८ ।।

जननी च किमर्थं ते रणभूमिमुपागता ।
नागेन्द्रदुहिता चेयमुलूपी किमिहागता ।। ५९ ।।

'तुम्हारी माता किसलिये रणभूमिमें आयी है? तथा इस नागराजकन्या उलूपीका आगमन भी यहाँ किसलिये हुआ है? ।। ५९ ।।

जानाम्यहमिदं युद्धं त्वया मद्वचनात् कृतम् ।
स्त्रीणामागमने हेतुमहमिच्छामि वेदितुम् ।। ६० ।।

'मैं तो इतना ही जानता हूँ कि तुमने मेरे कहनेसे यह युद्ध किया है; परंतु यहाँ स्त्रियोंके आनेका क्या कारण है? यह मैं जानना चाहता हूँ' ।। ६० ।।

तमुवाच तथा पृष्टो मणिपूरपतिस्तदा ।
प्रसाद्य शिरसा विद्वानुलूपी पृच्छ्यतामियम् ।। ६१ ।।

पिताके इस प्रकार पूछनेपर विद्वान् मणिपुरनरेशने पिताके चरणोंमें सिर रखकर उन्हें प्रसन्न किया और कहा—'पिताजी! यह वृत्तान्त आप माता उलूपीसे पूछिये' ।। ६१ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे अर्जुनप्रत्युज्जीवने अशीतितमोऽध्यायः ।। ८० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वानुसरणके प्रसंगमें अर्जुनका पुनर्जीवनविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८० ।।

एकाशीतितमोऽध्यायः

उलूपीका अर्जुनके पूछनेपर अपने आगमनका कारण एवं अर्जुनकी पराजयका रहस्य बताना, पुत्र और पत्नीसे विदा लेकर पार्थका पुनः अश्वके पीछे जाना

अर्जुन उवाच

किमागमनकृत्यं ते कौरव्यकुलनन्दिनि ।
मणिपूरपतेर्मातुस्तथैव च रणाजिरे ।। १ ।।

अर्जुन बोले—कौरव्य नामके कुलको आनन्दित करनेवाली उलूपी! इस रणभूमिमें तुम्हारे और मणिपुरनरेश बभ्रुवाहनकी माता चित्रांगदाके आनेका क्या कारण है? ।। १ ।।

कच्चित् कुशलकामासि राज्ञोऽस्य भुजगात्मजे ।
मम वा चपलापाङ्गि कच्चित् त्वं शुभमिच्छसि ।। २ ।।

नागकुमारी! तुम इस राजा बभ्रुवाहनका कुशल-मंगल तो चाहती हो न? चंचल कटाक्षवाली सुन्दरी! तुम मेरे कल्याणकी भी इच्छा रखती हो न? ।। २ ।।

कच्चित् ते पृथुलश्रोणि नाप्रियं प्रियदर्शने ।
अकार्षमहमज्ञानादयं वा बभ्रुवाहनः ।। ३ ।।

स्थूल नितम्बवाली प्रियदर्शने! मैंने या इस बभ्रुवाहनने अनजानमें तुम्हारा कोई अप्रिय तो नहीं किया है? ।। ३ ।।

कच्चिन्नु राजपुत्री ते सपत्नी चैत्रवाहनी ।
चित्राङ्गदा वरारोहा नापराध्यति किंचन ।। ४ ।।

तुम्हारी सौत चित्रवाहनकुमारी वरारोहा राजपुत्री चित्रांगदाने तो तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है? ।। ४ ।।

तमुवाचोरगपतेर्दुहिता प्रहसन्निव ।
न मे त्वमपराद्धोऽसि न हि मे बभ्रुवाहनः ।। ५ ।।
न जनित्री तथास्येयं मम या प्रेष्यवत् स्थिता ।
श्रूयतां यद् यथा चेदं मया सर्वं विचेष्टितम् ।। ६ ।।

अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर नागराजकन्या उलूपी हँसती हुई-सी बोली—'प्राणवल्लभ! आपने या बभ्रुवाहनने मेरा कोई अपराध नहीं किया है। बभ्रुवाहनकी माताने भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा है। यह तो सदा दासीकी भाँति मेरी आज्ञाके अधीन रहती है। यहाँ आकर मैंने जो-जो जिस प्रकार काम किया है, वह बतलाती हूँ; सुनिये ।। ५-६ ।।

न मे कोपस्त्वया कार्यः शिरसा त्वां प्रसादये ।

त्वत्प्रियार्थं हि कौरव्य कृतमेतन्मया विभो ।। ७ ।।

'प्रभो! कुरुनन्दन! पहले तो मैं आपके चरणोंमें सिर रखकर आपको प्रसन्न करना चाहती हूँ। यदि मुझसे कोई दोष बन गया हो तो भी उसके लिये आप मुझपर क्रोध न करें; क्योंकि मैंने जो कुछ किया है, वह आपकी प्रसन्नताके लिये ही किया है ।। ७ ।।

यत्तच्छृणु महाबाहो निखिलेन धनंजय ।
महाभारतयुद्धे यत् त्वया शान्तनवो नृपः ।। ८ ।।
अधर्मेण हतः पार्थ तस्यैषा निष्कृतिः कृता ।

'महाबाहु धनंजय! आप मेरी कही हुई सारी बातें ध्यान देकर सुनिये। पार्थ! महाभारत-युद्धमें आपने जो शान्तनुकुमार महाराज भीष्मको अधर्मपूर्वक मारा है, उस पापका यह प्रायश्चित्त कर दिया गया ।। ८½ ।।

न हि भीष्मस्त्वया वीर युद्ध्यमानो हि पातितः ।। ९ ।।
शिखण्डिना तु संयुक्तस्तमाश्रित्य हतस्त्वया ।

'वीर! आपने अपने साथ जूझते हुए भीष्मजीको नहीं मारा है, वे शिखण्डीके साथ उलझे हुए थे। उस दशामें शिखण्डीकी आड़ लेकर आपने उनका वध किया था ।। ९½ ।।

तस्य शान्तिमकृत्वा त्वं त्यजेथा यदि जीवितम् ।। १० ।।
कर्मणा तेन पापेन पतेथा निरये ध्रुवम् ।

'उसकी शान्ति किये बिना ही यदि आप प्राणोंका परित्याग करते तो उस पापकर्मके प्रभावसे निश्चय ही नरकमें पड़ते ।। १०½ ।।

एषा तु विहिता शान्तिः पुत्राद् यां प्राप्तवानसि ।
वसुभिर्वसुधापाल गङ्गया च महामते ।। ११ ।।

'महामते! पृथ्वीपाल! पूर्वकालमें वसुओं तथा गंगाजीने इसी रूपमें उस पापकी शान्ति निश्चित की थी; जिसे आपने अपने पुत्रसे पराजयके रूपमें प्राप्त किया है ।। ११ ।।

पुरा हि श्रुतमेतत् ते वसुभिः कथितं मया ।
गङ्गायास्तीरमाश्रित्य हते शान्तनवे नृप ।। १२ ।।

'पहलेकी बात है, एक दिन मैं गंगाजीके तटपर गयी थी। नरेश्वर! वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्मजीके मारे जानेके बाद वसुओंने गंगातटपर आकर आपके सम्बन्धमें जो यह बात कही थी, उसे मैंने अपने कानों सुना था ।। १२ ।।

आप्लुत्य देवा वसवः समेत्य च महानदीम् ।
इदमूचुर्वचो घोरं भागीरथ्या मते तदा ।। १३ ।।

'वसु नामक देवता महानदी गंगाके तटपर एकत्र हो स्नान करके भागीरथीकी सम्मतिसे यह भयानक वचन बोले— ।। १३ ।।

एष शान्तनवो भीष्मो निहतः सव्यसाचिना ।
अयुध्यमानः संग्रामे संसक्तोऽन्येन भाविनि ।

तदनेनानुषङ्गेण वयमद्य धनंजयम् ।। १४ ।।
शापेन योजयामेति तथास्त्विति च साब्रवीत् ।

"भाविनि! ये शान्तनुनन्दन भीष्म संग्राममें दूसरेके साथ उलझे हुए थे। अर्जुनके साथ युद्ध नहीं कर रहे थे तो भी सव्यसाची अर्जुनने इनका वध किया है। इस अपराधके कारण हमलोग आज अर्जुनको शाप देना चाहते हैं।" यह सुनकर गंगाजीने कहा—'हाँ, ऐसा ही होना चाहिये' ।।

तदहं पितुरावेद्य प्रविश्य व्यथितेन्द्रिया ।। १५ ।।
अभवं स च तच्छ्रुत्वा विषादमगमत् परम् ।

अर्जुन अपने पुत्र बभ्रुवाहनको छातीसे लगा रहे हैं

‘उनकी बातें सुनकर मेरी सारी इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं और पातालमें प्रवेश करके मैंने अपने पितासे यह सारा समाचार कह सुनाया। यह सुनकर पिताजीको भी बड़ा खेद हुआ ।। १५½ ।।

पिता तु मे वसून् गत्वा त्वदर्थे समयाचत ।। १६ ।।

पुनः पुनः प्रसाद्यैतांस्त एनमिदमब्रुवन् ।

‘वे तत्काल वसुओंके पास जाकर उन्हें बारंबार प्रसन्न करके आपके लिये उनसे बारंबार क्षमा-याचना करने लगे। तब वसुगण उनसे इस प्रकार बोले— ।। १६½ ।।

पुत्रस्तस्य महाभाग मणिपूरेश्वरो युवा ।। १७ ।।

स एनं रणमध्यस्थः शरैः पातयिता भुवि ।

एवं कृते स नागेन्द्र मुक्तशापो भविष्यति ।। १८ ।।

“महाभाग नागराज! मणिपुरका नवयुवक राजा बभ्रुवाहन अर्जुनका पुत्र है। वह युद्ध-भूमिमें खड़ा होकर अपने बाणोंद्वारा जब उन्हें पृथ्वीपर गिरा देगा, तब अर्जुन हमारे शापसे मुक्त हो जायँगे ।। १७-१८ ।।

गच्छेति वसुभिश्चोक्तो मम चेदं शशंस सः ।

तच्छ्रुत्वा त्वं मया तस्माच्छापादसि विमोक्षितः ।। १९ ।।

‘‘अच्छा अब जाओ’ वसुओंके ऐसा कहनेपर मेरे पिताने आकर मुझसे यह बात बतायी। इसे सुनकर मैंने इसीके अनुसार चेष्टा की है और आपको उस शापसे छुटकारा दिलाया है ।। १९ ।।

न हि त्वां देवराजोऽपि समरेषु पराजयेत् ।

आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात् तेनेहासि पराजितः ।। २० ।।

‘प्राणनाथ! देवराज इन्द्र भी आपको युद्धमें परास्त नहीं कर सकते, पुत्र तो अपना आत्मा ही है, इसीलिये इसके हाथसे यहाँ आपकी पराजय हुई है ।। २० ।।

न हि दोषो मम मतः कथं वा मन्यसे विभो ।

इत्येवमुक्तो विजयः प्रसन्नात्माब्रवीदिदम् ।। २१ ।।

‘प्रभो! मैं समझती हूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है। अथवा आपकी क्या धारणा है? क्या यह युद्ध कराकर मैंने कोई अपराध किया है?’

उलूपीके ऐसा कहनेपर अर्जुनका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने कहा— ।। २१ ।।

सर्वं मे सुप्रियं देवि यदेतत् कृतवत्यसि ।

इत्युक्त्वा सोऽब्रवीत् पुत्रं मणिपूरपतिं जयः ।। २२ ।।

चित्राङ्गदायाः शृण्वत्याः कौरव्यदुहितुस्तदा ।

‘देवि! तुमने जो यह कार्य किया है, यह सब मुझे अत्यन्त प्रिय है।’ यों कहकर अर्जुनने चित्रांगदा तथा उलूपीके सुनते हुए अपने पुत्र मणिपुरनरेश बभ्रुवाहनसे कहा— ।। २२½ ।।

युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परिचैत्रीं भविष्यति ।। २३ ।।

तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ।। २४ ।।

'नरेश्वर! आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको महाराज युधिष्ठिरके यज्ञका आरम्भ होगा। उसमें तुम अपनी इन दोनों माताओं और मन्त्रियोंके साथ अवश्य आना' ।।

इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः ।
उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ।। २५ ।।

अर्जुनके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहनने नेत्रोंमें आँसू भरकर पितासे इस प्रकार कहा— ।। २५ ।।

उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ।। २६ ।।

'धर्मज्ञ! आपकी आज्ञासे मैं अश्वमेध महायज्ञमें अवश्य उपस्थित होऊँगा और ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका काम करूँगा ।। २६ ।।

मम त्वनुग्रहार्थाय प्रविशस्व पुरं स्वकम् ।
भार्याभ्यां सह धर्मज्ञ मा भूत् तेऽत्र विचारणा ।। २७ ।।

'इस समय आपसे एक प्रार्थना है—धर्मज्ञ! आज मुझपर कृपा करनेके लिये अपनी इन दोनों धर्मपत्नियोंके साथ इस नगरमें प्रवेश कीजिये। इस विषयमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ।। २७ ।।

उषित्वेह निशामेकां सुखं स्वभवने प्रभो ।
पुनरश्वानुगमनं कर्तासि जयतां वर ।। २८ ।।

'प्रभो! विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ! यहाँ भी आपका ही घर है। अपने उस घरमें एक रात सुखपूर्वक निवास करके कल सबेरे फिर घोड़ेके पीछे-पीछे जाइयेगा' ।। २८ ।।

इत्युक्तः स तु पुत्रेण तदा वानरकेतनः ।
स्मयन् प्रोवाच कौन्तेयस्तदा चित्राङ्गदासुतम् ।। २९ ।।

पुत्रके ऐसा कहनेपर कुन्तीनन्दन कपिध्वज अर्जुनने मुसकराते हुए चित्राङ्गदाकुमारसे कहा— ।। २९ ।।

विदितं ते महाबाहो यथा दीक्षां चराम्यहम् ।
न स तावत् प्रवेक्ष्यामि पुरं ते पृथुलोचन ।। ३० ।।

'महाबाहो! यह तो तुम जानते ही हो कि मैं दीक्षा ग्रहण करके विशेष नियमोंके पालनपूर्वक विचर रहा हूँ। अतः विशाललोचन! जबतक यह दीक्षा पूर्ण नहीं हो जाती तबतक मैं तुम्हारे नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा ।। ३० ।।

यथाकामं व्रजत्येष यज्ञियाश्वो नरर्षभ ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि न स्थानं विद्यते मम ।। ३१ ।।

'नरश्रेष्ठ! यह यज्ञका घोड़ा अपनी इच्छाके अनुसार चलता है (इसे कहीं भी रोकनेका नियम नहीं है); अतः तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब जाऊँगा। इस समय मेरे ठहरनेके लिये

कोई स्थान नहीं है' ।। ३१ ।।

स तत्र विधिवत् तेन पूजितः पाकशासनिः ।
भार्याभ्यामभ्यनुज्ञातः प्रायाद् भरतसत्तमः ।। ३२ ।।

तदनन्तर वहाँ बभ्रुवाहनने भरतवंशके श्रेष्ठ पुरुष इन्द्रकुमार अर्जुनकी विधिवत् पूजा की और वे अपनी दोनों भार्याओंकी अनुमति लेकर वहाँसे चल दिये ।। ३२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे एकाशीतितमोऽध्यायः ।। ८१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वका अनुसरणविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८१ ।।

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

मगधराज मेघसन्धिकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

स तु वाजी समुद्रान्तां पर्येत्य वसुधामिमाम् ।
निवृत्तोऽभिमुखो राजन् येन वारणसाह्वयम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इसके बाद वह घोड़ा समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीकी परिक्रमा करके उस दिशाकी ओर मुँह करके लौटा, जिस ओर हस्तिनापुर था ।। १ ।।

अनुगच्छंश्च तुरगं निवृत्तोऽथ किरीटभृत् ।
यदृच्छया समापेदे पुरं राजगृहं तदा ।। २ ।।

किरीटधारी अर्जुन भी घोड़ेका अनुसरण करते हुए लौट पड़े और दैवेच्छासे राजगृह नामक नगरमें आ पहुँचे ।। २ ।।

तमभ्याशगतं दृष्ट्वा सहदेवात्मजः प्रभो ।
क्षत्रधर्मे स्थितो वीरः समरायाजुहाव ह ।। ३ ।।

प्रभो! अर्जुनको अपने नगरके निकट आया देख क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हुए वीर सहदेवकुमार राजा मेघसन्धिने उन्हें युद्धके लिये आमन्त्रित किया ।। ३ ।।

ततः पुरात् स निष्क्रम्य रथी धन्वी शरी तली ।
मेघसन्धिः पदातिं तं धनंजयमुपाद्रवत् ।। ४ ।।

तत्पश्चात् स्वयं भी धनुष-बाण और दस्तानेसे सुसज्जित हो रथपर बैठकर नगरसे बाहर निकला। मेघसन्धिने पैदल आते हुए धनंजयपर धावा किया ।। ४ ।।

आसाद्य च महातेजा मेघसन्धिर्धनंजयम् ।
बालभावान्महाराज प्रोवाचेदं न कौशलात् ।। ५ ।।

महाराज! धनंजयके पास पहुँचकर महातेजस्वी मेघसन्धिने बुद्धिमानीके कारण नहीं, मूर्खतावश निम्नांकित बात कही— ।। ५ ।।

किमयं चार्यते वाजी स्त्रीमध्य इव भारत ।
हयमेनं हरिष्यामि प्रयतस्व विमोक्षणे ।। ६ ।।

'भरतनन्दन! इस घोड़ेके पीछे क्यों फिर रहे हो! यह तो ऐसा जान पड़ता है, मानो स्त्रियोंके बीच चल रहा हो। मैं इसका अपहरण कर रहा हूँ। तुम इसे छुड़ानेका प्रयत्न करो ।। ६ ।।

अदत्तानुनयो युद्धे यदि त्वं पितृभिर्मम ।
करिष्यामि तवातिथ्यं प्रहर प्रहरामि च ।। ७ ।।

'यदि युद्धमें मेरे पिता आदि पूर्वजोंने कभी तुम्हारा स्वागत-सत्कार नहीं किया है तो आज मैं इस कमीको पूर्ण करूँगा। युद्धके मैदानमें तुम्हारा यथोचित आतिथ्य-सत्कार करूँगा। पहले मुझपर प्रहार करो, फिर मैं तुमपर प्रहार करूँगा' ।। ७ ।।

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं प्रहसन्निव पाण्डवः ।
विघ्नकर्ता मया वार्य इति मे व्रतमाहितम् ।। ८ ।।
भ्रात्रा ज्येष्ठेन नृपते तवापि विदितं ध्रुवम् ।
प्रहरस्व यथाशक्ति न मन्युर्विद्यते मम ।। ९ ।।

उसके ऐसा कहनेपर पाण्डुपुत्र अर्जुनने उसे हँसते हुए-से इस प्रकार उत्तर दिया —'नरेश्वर! मेरे बड़े भाईने मेरे लिये इस व्रतकी दीक्षा दिलायी है कि जो मेरे मार्गमें विघ्न डालनेको उद्यत हो, उसे रोको। निश्चय ही यह बात तुम्हें भी विदित है। अतः तुम अपनी शक्तिके अनुसार मुझपर प्रहार करो। मेरे मनमें तुमपर कोई रोष नहीं है' ।। ८-९ ।।

इत्युक्तः प्राहरत् पूर्वं पाण्डवं मगधेश्वरः ।
किरन् शरसहस्राणि वर्षाणीव सहस्रदृक् ।। १० ।।

अर्जुनके ऐसा कहनेपर मगधनरेशने पहले उनपर प्रहार किया। जैसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्र जलकी वर्षा करते हैं, उसी प्रकार मेघसन्धि अर्जुनपर सहस्रों बाणोंकी झड़ी लगाने लगा ।। १० ।।

ततो गाण्डीवभृच्छूरो गाण्डीवप्रहितैः शरैः ।
चकार मोघांस्तान् बाणान् सयत्नान् भरतर्षभ ।। ११ ।।

भरतश्रेष्ठ! तब गाण्डीवधारी शूरवीर अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे छोड़े गये बाणोंद्वारा मेघसन्धिके प्रयत्नपूर्वक चलाये गये उन सभी बाणोंको व्यर्थ कर दिया ।। ११ ।।

स मोघं तस्य बाणौघं कृत्वा वानरकेतनः ।
शरान् मुमोच ज्वलितान् दीप्तास्यानिव पन्नगान् ।। १२ ।।

शत्रुके बाणसमूहको निष्फल करके कपिध्वज अर्जुनने प्रज्वलित बाणका प्रहार किया। वे बाण मुखसे आग उगलनेवाले सर्पोंके समान जान पड़ते थे ।। १२ ।।

ध्वजे पताकादण्डेषु रथे यन्त्रे हयेषु च ।
अन्येषु च रथाङ्गेषु न शरीरे न सारथौ ।। १३ ।।

उन्होंने मेघसन्धिकी ध्वजा, पताका, दण्ड, रथ, यन्त्र, अश्व तथा अन्य रथांगोंपर बाण मारे; परंतु उसके शरीर और सारथिपर प्रहार नहीं किया ।। १३ ।।

संरक्ष्यमाणः पार्थेन शरीरे सव्यसाचिना ।
मन्यमानः स्ववीर्यं तन्मागधः प्राहिणोच्छरान् ।। १४ ।।

यद्यपि सव्यसाची अर्जुनने जान-बूझकर उसके शरीरकी रक्षा की तथापि वह मगधराज इसे अपना पराक्रम समझने लगा और अर्जुनपर लगातार बाणोंका प्रहार करता रहा ।। १४ ।।

ततो गाण्डीवधन्वा तु मागधेन भृशाहतः ।
बभौ वसन्तसमये पलाशः पुष्पितो यथा ।। १५ ।।

मगधराजके बाणोंसे अत्यन्त घायल होकर गाण्डीवधारी अर्जुन रक्तसे नहा उठे। उस समय वे वसन्त-ऋतुमें फूले हुए पलाश-वृक्षकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ।। १५ ।।

अवध्यमानः सोऽभ्यघ्नन्मागधः पाण्डवर्षभम् ।
तेन तस्थौ स कौरव्य लोकवीरस्य दर्शने ।। १६ ।।

कुरुनन्दन! अर्जुन तो उसे मार नहीं रहे थे, परंतु वह उन पाण्डवशिरोमणिपर बारंबार चोट कर रहा था। इसीलिये विश्वविख्यात वीर अर्जुनकी दृष्टिमें वह तबतक ठहर सका ।। १६ ।।

सव्यसाची तु संक्रुद्धो विकृष्य बलवद् धनुः ।
हयांश्चकार निर्जीवान् सारथेश्च शिरोऽहरत् ।। १७ ।।

अब सव्यसाची अर्जुनका क्रोध बढ़ गया। उन्होंने अपने धनुषको जोरसे खींचा और मेघसन्धिके घोड़ोंको प्राणहीन करके उसके सारथिका भी सिर उड़ा दिया ।। १७ ।।

धनुश्चास्य महच्चित्रं क्षुरेण प्रचकर्त ह ।
हस्तावापं पताकां च ध्वजं चास्य न्यपातयत् ।। १८ ।।

फिर उसके विशाल एवं विचित्र धनुषको क्षुरसे काट डाला और उसके दस्ताने, पताका तथा ध्वजाको भी धरतीपर काट गिराया ।। १८ ।।

स राजा व्यथितो व्यश्वो विधनुर्हतसारथिः ।
गदामादाय कौन्तेयमभिदुद्राव वेगवान् ।। १९ ।।

घोड़े, धनुष और सारथिके नष्ट हो जानेपर मेघसन्धिको बड़ा दुःख हुआ। वह गदा हाथमें लेकर कुन्तीनन्दन अर्जुनकी ओर बड़े वेगसे दौड़ा ।। १९ ।।

तस्यापतत एवाशु गदां हेमपरिष्कृताम् ।
शरैश्चकर्त बहुधा बहुभिर्गृध्रवाजितैः ।। २० ।।

उसके आते ही अर्जुनने गृध्रपंखयुक्त बहुसंख्यक बाणोंद्वारा उसकी सुवर्णभूषित गदाके शीघ्र ही अनेक टुकड़े कर डाले ।। २० ।।

सा गदा शकलीभूता विशीर्णमणिबन्धना ।
व्याली विमुच्यमानेव पपात धरणीतले ।। २१ ।।

उस गदाकी मूँठ टूट गयी और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। उस दशामें वह हाथसे छूटी हुई सर्पिणीके समान पृथ्वीपर गिर पड़ी ।। २१ ।।

विरथं विधनुष्कं च गदया परिवर्जितम् ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमब्रवीत् कपिकेतनः ।। २२ ।।

जब मेघसन्धि रथ, धनुष और गदासे भी वंचित हो गया, तब कपिध्वज अर्जुनने उसे सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा— ।। २२ ।।

पर्याप्तः क्षत्रधर्मोऽयं दर्शितः पुत्र गम्यताम् ।
बह्वेतत् समरे कर्म तव बालस्य पार्थिव ।। २३ ।।

'बेटा! तुमने क्षत्रियधर्मका पूरा-पूरा प्रदर्शन कर लिया। अब अपने घर जाओ। भूपाल! तुम अभी बालक हो। इस समरांगणमें तुमने जो पराक्रम किया है, यही तुम्हारे लिये बहुत है ।। २३ ।।

युधिष्ठिरस्य संदेशो न हन्तव्या नृपा इति ।
तेन जीवसि राजंस्त्वमपराद्धोऽपि मे रणे ।। २४ ।।

'राजन्! महाराज युधिष्ठिरका यह आदेश है कि 'तुम युद्धमें राजाओंका वध न करना।' इसीलिये तुम मेरा अपराध करनेपर भी अबतक जीवित हो' ।। २४ ।।

इति मत्वा तदात्मानं प्रत्यादिष्टं स्म मागधः ।
तथ्यमित्यभिगम्यैनं प्राञ्जलिः प्रत्यपूजयत् ।। २५ ।।

अर्जुनकी यह बात सुनकर मेघसन्धिको यह विश्वास हो गया कि अब इन्होंने मेरी जान छोड़ दी है। तब वह अर्जुनके पास गया और हाथ जोड़ उनका समादर करते हुए कहने लगा— ।। २५ ।।

पराजितोऽस्मि भद्रं ते नाहं योद्धुमिहोत्सहे ।
यद् यत् कृत्यं मया तेऽद्य तद् ब्रूहि कृतमेव तु ।। २६ ।।

'वीरवर! आपका कल्याण हो। मैं आपसे परास्त हो गया। अब मैं युद्ध करनेका उत्साह नहीं रखता। अब आपको मुझसे जो-जो सेवा लेनी हो, वह बताइये और उसे पूर्ण की हुई ही समझिये' ।। २६ ।।

तमर्जुनः समाश्वास्य पुनरेवेदमब्रवीत् ।
आगन्तव्यं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ।। २७ ।।

तब अर्जुनने उसे धैर्य देते हुए पुनः इस प्रकार कहा—'राजन्! तुम आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको हमारे महाराजके अश्वमेधयज्ञमें अवश्य आना' ।। २७ ।।

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पूजयामास तं ह्यम् ।
फाल्गुनं च युधि श्रेष्ठं विधिवत् सहदेवजः ।। २८ ।।

उनके ऐसा कहनेपर सहदेवपुत्रने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और उस घोड़े तथा युद्धस्थलके श्रेष्ठ वीर अर्जुनका विधिपूर्वक पूजन किया ।। २८ ।।

ततो यथेष्टमगमत् पुनरेव स केसरी ।
ततः समुद्रतीरेण वङ्गान् पुण्ड्रान् सकोसलान् ।। २९ ।।

तदनन्तर वह घोड़ा पुनः अपनी इच्छाके अनुसार आगे चला। वह समुद्रके किनारे-किनारे होता हुआ वङ्ग, पुण्ड्र और कोसल आदि देशोंमें गया ।। २९ ।।

तत्र तत्र च भूरीणि म्लेच्छसैन्यान्यनेकशः ।
विजिग्ये धनुषा राजन् गाण्डीवेन धनंजयः ।। ३० ।।

राजन्! उन देशोंमें अर्जुनने केवल गाण्डीव धनुषकी सहायतासे म्लेच्छोंकी अनेक सेनाओंको परास्त किया ।। ३० ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे मागधपराजये द्वयशीतितमोऽध्यायः ।। ८२ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें मगधराजकी पराजयविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८२ ।।

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

दक्षिण और पश्चिम समुद्रके तटवर्ती देशोंमें होते हुए अश्वका द्वारका, पञ्चनद एवं गान्धार देशमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

मागधेनार्चितो राजन् पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
दक्षिणां दिशमास्थाय चारयामास तं हयम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मगधराजसे पूजित हो पाण्डुपुत्र श्वेतवाहन अर्जुनने दक्षिण दिशाका आश्रय ले उस घोड़ेको घुमाना आरम्भ किया ।। १ ।।

ततः स पुनरावर्त्य हयः कामचरो बली ।
आससाद पुरीं रम्यां चेदीनां शुक्तिसाह्वयाम् ।। २ ।।

वह इच्छानुसार विचरनेवाला अश्व पुनः उधरसे लौटकर चेदियोंकी रमणीय राजधानीमें जो शुक्तिपुरी (या माहिष्मतीपुरी)-के नामसे विख्यात थी, आया ।। २ ।।

शरभेणार्चितस्तत्र शिशुपालसुतेन सः ।
युद्धपूर्वं तदा तेन पूजया च महाबलः ।। ३ ।।

वहाँ शिशुपालके पुत्र शरभने पहले तो युद्ध किया और फिर स्वागत-सत्कारके द्वारा उस महाबली अश्वका पूजन किया ।। ३ ।।

ततोऽर्चितो ययौ राजंस्तदा स तुरगोत्तमः ।
काशीनगान् कोसलांश्च किरातानथ तङ्गणान् ।। ४ ।।

राजन्! शरभसे पूजित हो वह उत्तम अश्व काशी, कोसल, किरात और तङ्गण आदि जनपदोंमें गया ।। ४ ।।

पूजां तत्र यथान्यायं प्रतिगृह्य धनंजयः ।
पुनरावृत्य कौन्तेयो दशार्णानगमत् तदा ।। ५ ।।

उन सभी राज्योंमें यथोचित पूजा ग्रहण करके कुन्तीनन्दन अर्जुन पुनः लौटकर दशार्ण देशमें आये ।। ५ ।।

तत्र चित्राङ्गदो नाम बलवानरिमर्दनः ।
तेन युद्धमभूत् तस्य विजयस्यातिभैरवम् ।। ६ ।।

वहाँ उस समय महाबली शत्रुमर्दन चित्रांगद नामक नरेश राज्य करते थे। उनके साथ अर्जुनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ।। ६ ।।

तं चापि वशमानीय किरीटी पुरुषर्षभः ।
निषादराज्ञो विषयमेकलव्यस्य जग्मिवान् ।। ७ ।।

पुरुषप्रवर किरीटधारी अर्जुन दशार्णराज चित्रांगदको भी वशमें करके निषादराज एकलव्यके राज्यमें गये ।। ७ ।।

एकलव्यसुतश्चैनं युद्धेन जगृहे तदा ।
तत्र चक्रे निषादैः स संग्रामं लोमहर्षणम् ।। ८ ।।

वहाँ एकलव्यके पुत्रने युद्धके द्वारा उनका स्वागत किया। अर्जुनने निषादोंके साथ रोमांचकारी संग्राम किया ।। ८ ।।

ततस्तमपि कौन्तेयः समरेष्वपराजितः ।
जिगाय युधि दुर्धर्षो यज्ञविघ्नार्थमागतम् ।। ९ ।।

युद्धमें किसीसे परास्त न होनेवाले दुर्धर्ष वीर पार्थने यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये आये हुए एकलव्य-कुमारको भी परास्त कर दिया ।। ९ ।।

स तं जित्वा महाराज नैषादिं पाकशासनिः ।
अर्चितः प्रययौ भूयो दक्षिणं सलिलार्णवम् ।। १० ।।

महाराज! एकलव्यके पुत्रको पराजित करके उसके द्वारा पूजित हुए इन्द्रकुमार अर्जुन फिर दक्षिण समुद्रके तटपर गये ।। १० ।।

तत्रापि द्रविडैरान्ध्रै रौद्रैर्माहिषकैरपि ।
तथा कोल्लगिरेयैश्च युद्धमासीत् किरीटिनः ।। ११ ।।

वहाँ भी द्रविड, आन्ध्र, रौद्र, माहिषक और कोलाचलके प्रान्तोंमें रहनेवाले वीरोंके साथ किरीटधारी अर्जुनका खूब युद्ध हुआ ।। ११ ।।

तांश्चापि विजयो जित्वा नातितीव्रेण कर्मणा ।
तुरङ्गमवशेनाथ सुराष्ट्रानभितो ययौ ।। १२ ।।
गोकर्णमथ चासाद्य प्रभासमपि जग्मिवान् ।

उन सबको मृदुल पराक्रमसे ही जीतकर वे घोड़ेकी इच्छानुसार उसके पीछे चलनेमें विवश हुए सौराष्ट्र, गोकर्ण और प्रभासक्षेत्रोंमें गये ।। १२½ ।।

ततो द्वारवतीं रम्यां वृष्णिवीराभिपालिताम् ।। १३ ।।
आससाद हयः श्रीमान् कुरुराजस्य यज्ञियः ।

तत्पश्चात् कुरुराज युधिष्ठिरका वह यज्ञसम्बन्धी कान्तिमान् अश्व वृष्णिवीरोंद्वारा सुरक्षित द्वारकापुरीमें जा पहुँचा ।। १३½ ।।

तमुन्मथ्य हयश्रेष्ठं यादवानां कुमारकाः ।। १४ ।।
प्रययुस्तांस्तदा राजन्नुग्रसेनो न्यवारयत् ।

राजन्! वहाँ यदुवंशी वीरोंके बालकोंने उस उत्तम अश्वको बलपूर्वक पकड़कर युद्धके लिये उद्योग किया; परंतु महाराज उग्रसेनने उन्हें रोक दिया ।। १४½ ।।

ततः पुराद् विनिष्क्रम्य वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ।। १५ ।।
सहितो वसुदेवेन मातुलेन किरीटिनः ।

तौ समेत्य कुरुश्रेष्ठं विधिवत् प्रीतिपूर्वकम् ।। १६ ।।
परया भारतश्रेष्ठं पूजया समवस्थितौ ।
ततस्ताभ्यामनुज्ञातो ययौ येन हयो गतः ।। १७ ।।

तदनन्तर अर्जुनके मामा वसुदेवको साथ ले वृष्णि और अन्धककुलके राजा उग्रसेन नगरसे बाहर निकले। वे दोनों बड़ी प्रसन्नताके साथ कुरुश्रेष्ठ अर्जुनसे विधिपूर्वक मिले। उन्होंने भरतकुलके उस श्रेष्ठ वीरका बड़ा आदर-सत्कार किया। फिर उन दोनोंकी आज्ञा ले अर्जुन उसी ओर चल दिये, जिधर वह अश्व गया था ।।

ततः स पश्चिमं देशं समुद्रस्य तदा हयः ।
क्रमेण व्यचरत् स्फीतं ततः पञ्चनदं ययौ ।। १८ ।।

वहाँसे पश्चिम समुद्रके तटवर्ती देशोंमें विचरता हुआ वह घोड़ा क्रमशः आगे बढ़ने लगा और समृद्धिशाली पञ्चनद प्रदेशमें जा पहुँचा ।। १८ ।।

तस्मादपि स कौरव्य गन्धारविषयं हयः ।
विचचार यथाकामं कौन्तेयानुगतस्तदा ।। १९ ।।

कुरुनन्दन! वहाँसे भी वह घोड़ा गान्धारदेशमें जाकर इच्छानुसार विचरने लगा। कुन्तीनन्दन अर्जुन भी उसके पीछे-पीछे वहीं जा पहुँचे ।। १९ ।।

ततो गान्धारराजेन युद्धमासीत् किरीटिनः ।

घोरं शकुनिपुत्रेण पूर्ववैरानुसारिणा ।। २० ।।

फिर तो पूर्व वैरका अनुसरण करनेवाले गान्धारराज शकुनिपुत्रके साथ किरीटधारी अर्जुनका घोर युद्ध हुआ ।। २० ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ।। ८३ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें यज्ञसम्बन्धी अश्वका अनुसरणविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८३ ।।

चतुरशीतितमोऽध्यायः

शकुनिपुत्रकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

शकुनेस्तनयो वीरो गान्धाराणां महारथः ।
प्रत्युद्ययौ गुडाकेशं सैन्येन महता वृतः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शकुनिका पुत्र गान्धारोंमें सबसे बड़ा वीर और महारथी था। वह विशाल सेनासे घिरकर निद्राविजयी अर्जुनका सामना करनेके लिये चला ।। १ ।।

हस्त्यश्वरथयुक्तेन पताकाध्वजमालिना ।
अमृष्यमाणास्ते योधा तृपस्य शकुनेर्वधम् ।। २ ।।
अभ्ययुः सहिताः पार्थं प्रगृहीतशरासनाः ।

उसकी सेनामें हाथी, घोड़े और रथ सभी सम्मिलित थे। वह सेना ध्वजा-पताकाओंकी मालासे मण्डित थी। गान्धारदेशके योद्धा राजा शकुनिके वधका समाचार सुनकर अमर्षमें भरे हुए थे; अतः हाथमें धनुष-बाण ले उन्होंने एक साथ होकर अर्जुनपर धावा बोल दिया ।। २१½ ।।

स तानुवाच धर्मात्मा बीभत्सुरपराजितः ।। ३ ।।
युधिष्ठिरस्य वचनं न च ते जगृहुर्हितम् ।

किसीसे परास्त न होनेवाले धर्मात्मा अर्जुनने उन्हें राजा युधिष्ठिरकी बात सुनायी; परंतु उस हितकर वचनको भी वे ग्रहण न कर सके ।। ३½ ।।

वार्यमाणाऽपि पार्थेन सान्त्वपूर्वममर्षिताः ।। ४ ।।
परिवार्य हयं जग्मुस्ततश्चुक्रोध पाण्डवः ।

यद्यपि पार्थने सान्त्वनापूर्वक समझा-बुझाकर उन सबको युद्धसे रोका, तथापि वे अमर्षशील योद्धा उस घोड़ेको चारों ओरसे घेरकर उसे पकड़नेके लिये आगे बढ़े। यह देख पाण्डुपुत्र अर्जुनको बड़ा क्रोध हुआ ।। ४½ ।।

ततः शिरांसि दीप्ताग्रैस्तेषां चिच्छेद पाण्डवः ।। ५ ।।
क्षुरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैर्नातियत्नादिवार्जुनः ।

वे गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए तेज धारवाले धुरोंसे बिना परिश्रमके ही उनके मस्तक काटने लगे ।। ५½ ।।

ते वध्यमानाः पार्थेन हयमुत्सृज्य सम्भ्रमात् ।। ६ ।।
न्यवर्तन्त महाराज शरवर्षार्जिता भृशम् ।

महाराज! अर्जुनकी मार खाकर उनके बाणोंकी वर्षासे पीड़ित हुए गान्धार सैनिक उस घोड़ेको छोड़कर बड़े वेगसे पीछे लौट गये ।। ६½ ।।

निरुध्यमानस्तैश्चापि गान्धारैः पाण्डुनन्दनः ।। ७ ।।
आदिश्यादिश्य तेजस्वी शिरांस्येषां न्यपातयत् ।

गान्धारोंके द्वारा रोके जानेपर भी तेजस्वी वीर पाण्डुनन्दन अर्जुन उनके नाम ले-लेकर मस्तक काटने और गिराने लगे ।। ७½ ।।

वध्यमानेषु तेष्वाजौ गान्धारेषु समन्ततः ।। ८ ।।
स राजा शकुनेः पुत्रः पाण्डवं प्रत्यवारयत् ।

जब चारों ओर युद्धमें गान्धारोंका संहार आरम्भ हो गया, तब राजा शकुनि-पुत्रने पाण्डुकुमार अर्जुनको रोका ।। ८½ ।।

तं युध्यमानं राजानं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ।। ९ ।।
पार्थोऽब्रवीन्न मे वध्या राजानो राजशासनात् ।
अलं युद्धेन ते वीर न तेऽस्त्वद्य पराजयः ।। १० ।।

क्षत्रियधर्ममें स्थित होकर युद्ध करनेवाले उस राजासे अर्जुनने इस प्रकार कहा—'वीर! तुम्हें युद्ध करनेसे कोई लाभ नहीं है। महाराज युधिष्ठिरकी यह आज्ञा है कि मैं राजाओंका वध न करूँ। अतः तुम युद्धसे निवृत्त हो जाओ जिससे आज तुम्हारी पराजय न हो' ।। ९-१० ।।

इत्युक्तस्तदनादृत्य वाक्यमज्ञानमोहितः ।
स शक्रसमकर्माणं समवाकिरदाशुगैः ।। ११ ।।

उनके ऐसा कहनेपर भी वह अज्ञानसे मोहित होनेके कारण उनकी बातकी अवहेलना करके इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनपर शीघ्रगामी बाणोंकी वर्षा करने लगा ।। ११ ।।

तस्य पार्थः शिरस्त्राणमर्धचन्द्रेण पत्रिणा ।
अपाहरदमेयात्मा जयद्रथशिरो यथा ।। १२ ।।

तब अमेय आत्मबलसे सम्पन्न अर्जुनने जिस प्रकार जयद्रथका सिर उड़ाया था, उसी प्रकार शकुनि-पुत्रके शिरस्त्राण (टोप)-को एक अर्धचन्द्राकार बाणसे काट गिराया ।। १२ ।।

तं दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुर्गान्धाराः सर्व एव ते ।
इच्छता तेन न हतो राजेत्यसि च तं विदुः ।। १३ ।।

यह देखकर समस्त गान्धारोंको बड़ा विस्मय हुआ और वे सब-के-सब यह समझ गये कि अर्जुनने जान-बूझकर गान्धारराजको जीवित छोड़ दिया ।। १३ ।।

गान्धारराजपुत्रस्तु पलायनकृतक्षणः ।
ययौ तैरेव सहितस्त्रस्तैः क्षुद्रमृगैरिव ।। १४ ।।

उस समय गान्धारराज शकुनिका पुत्र भागनेका अवसर देखने लगा। जैसे सिंहसे डरे हुए छोटे-छोटे मृग भाग जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनसे भयभीत हुए सैनिकोंके साथ वह स्वयं भी भाग निकला ।। १४ ।।

तेषां तु तरसा पार्थस्तत्रैव परिधावताम् ।
प्रजहारोत्तमाङ्गानि भल्लैः संनतपर्वभिः ।। १५ ।।

वहीं चक्कर काटनेवाले बहुत-से सैनिकोंके मस्तक अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले भल्लोंद्वारा वेगपूर्वक काट लिया ।। १५ ।।

उच्छ्रितांस्तु भुजान् केचिन्नाबुध्यन्त शरैर्हृतान् ।
शरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैः पृथुभिः पार्थचोदितैः ।। १६ ।।

अर्जुनद्वारा चलाये और गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बहुसंख्यक बाणोंसे कितने ही योद्धाओंकी ऊँची उठी हुई भुजाएँ कटकर गिर गयीं और उन्हें इस बातका पतातक न लगा ।। १६ ।।

सम्भ्रान्तनरनागाश्वमपतद् विद्रुतं बलम् ।
हतविध्वस्तभूयिष्ठमावर्तत मुहुर्मुहुः ।। १७ ।।

सम्पूर्ण सेनाके मनुष्य, हाथी और घोड़े घबराकर इधर-उधर भटकने लगे। सारी सेना गिरती-पड़ती भागने लगी। उनके अधिकांश सिपाही युद्धमें मारे गये या नष्ट हो गये और वह बार-बार युद्धभूमिमें ही चक्कर काटने लगी ।।

नाभ्यदृश्यन्त वीरस्य केचिदग्रेऽग्रयकर्मणः ।
रिपवः पात्यमाना वै ये सहेयुर्धनंजयम् ।। १८ ।।

श्रेष्ठ कर्म करनेवाले वीर अर्जुनके सामने कोई भी शत्रु खड़े नहीं दिखायी देते थे, जो अर्जुनकी मार पड़नेपर उनका वेग सहन कर सके ।। १८ ।।

ततो गान्धारराजस्य मन्त्रिवृद्धपुरःसरा ।
जननी निर्ययौ भीता पुरस्कृत्यार्घ्यमुत्तमम् ।। १९ ।।

तदनन्तर गान्धारराजकी माता अत्यन्त भयभीत होकर बूढ़े मन्त्रियोंको आगे करके उत्तम अर्घ्य ले नगरसे बाहर निकली और रणभूमिमें उपस्थित हुई ।। १९ ।।

सा न्यवारयदव्यग्रं तं पुत्रं युद्धदुर्मदम् ।
प्रसादयामास च तं जिष्णुमक्लिष्टकारिणम् ।। २० ।।

आते ही उसने अपने व्यग्रतारहित एवं रणोन्मत्त पुत्रको युद्ध करनेसे रोका और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले विजयशील अर्जुनको प्रिय वचनोंद्वारा प्रसन्न किया ।। २० ।।

तां पूजयित्वा बीभत्सुः प्रसादमकरोत् प्रभुः ।
शकुनेश्चापि तनयं सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ।। २१ ।।

सामर्थ्यशाली अर्जुनने भी मामीका सम्मान करके उन्हें प्रसन्न किया और स्वयं उनपर कृपादृष्टि की। फिर शकुनिके पुत्रको भी सान्त्वना प्रदान करते हुए वे इस प्रकार बोले — ।। २१ ।।

न मे प्रियं महाबाहो यत्ते बुद्धिरियं कृता ।
प्रतियोद्धुममित्रघ्न भ्रातैव त्वं ममानघ ।। २२ ।।

'शत्रुसूदन! महाबाहु वीर! तुमने जो मुझसे युद्ध करनेका विचार किया, यह मुझे प्रिय नहीं लगा; क्योंकि अनघ। तुम तो मेरे भाई ही हो ।। २२ ।।

गान्धारीं मातरं स्मृत्वा धृतराष्ट्रकृतेन च ।
तेन जीवसि राजंस्त्वं निहतास्त्वनुगास्तव ।। २३ ।।

'राजन्! मैंने माता गान्धारीको याद करके पिता धृतराष्ट्रके सम्बन्धसे युद्धमें तुम्हारी उपेक्षा की है; इसीलिये तुम अभीतक जीवित हो। केवल तुम्हारे अनुगामी सैनिक ही मारे गये हैं ।। २३ ।।

मैवं भूः शाम्यतां वैरं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ।
गच्छेथास्त्वं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ।। २४ ।।

'अब हमलोगोंमें ऐसा बर्ताव नहीं होना चाहिये। आपसका वैर शान्त हो जाय। अब तुम कभी इस प्रकार हमलोगोंके विरुद्ध युद्ध ठाननेका विचार न करना। 'आगामी चैत्रमासकी पूर्णिमाको महाराज युधिष्ठिरका अश्वमेध यज्ञ होनेवाला है। उसमें तुम अवश्य आना' ।। २४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे शकुनिपुत्रपराजये चतुरशीतितमोऽध्यायः ।। ८४ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वानुसरणके प्रसंगमें शकुनिपुत्रकी पराजयविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८४ ।।

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

यज्ञभूमिकी तैयारी, नाना देशोंसे आये हुए राजाओंका यज्ञकी सजावट और आयोजन देखना

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वानुययौ पार्थो हयं कामविहारिणम् ।
न्यवर्तत ततो वाजी येन नागाह्वयं पुरम् ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गान्धारराजसे यों कहकर अर्जुन इच्छानुसार विचरनेवाले घोड़ेके पीछे चल दिये। अब वह घोड़ा लौटकर हस्तिनापुरकी ओर चला ।। १ ।।

तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः ।
श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाऽभवत् ।। २ ।।

इसी समय राजा युधिष्ठिरको एक जासूसके द्वारा यह समाचार मिला कि घोड़ा हस्तिनापुरको लौट रहा है और अर्जुन भी सकुशल आ रहे हैं। यह सुनकर उनके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ।। २ ।।

विजयस्य च तत् कर्म गान्धारविषये तदा ।
श्रुत्वा चान्येषु देशेषु स सुप्रीतोऽभवत् तदा ।। ३ ।।

अर्जुनने गान्धारराज्यमें तथा अन्यान्य देशोंमें जो अद्भुत पराक्रम किया था, वह सब सुनकर युधिष्ठिरके हर्षकी सीमा न रही ।। ३ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघमासिकीम् ।
इष्टं गृहीत्वा नक्षत्रं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।। ४ ।।
समानीय महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् महीपतिः ।
भीमं च नकुलं चैव सहदेवं च कौरव ।। ५ ।।
प्रोवाचेदं वचः काले तदा धर्मभृतां वरः ।
आमन्त्र्य वदतां श्रेष्ठो भीमं प्रहरतां वरम् ।। ६ ।।

कुरुनन्दन! उस दिन माघ महीनेकी शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथि थी। उसमें पुष्य-नक्षत्रका योग पाकर महातेजस्वी पृथ्वीपति धर्मराज युधिष्ठिरने अपने समस्त भाइयों—भीमसेन, नकुल और सहदेवको बुलवाया और प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ भीमसेनको सम्बोधित करके वक्ताओं तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने यह समयोचित बात कही — ।। ४—६ ।।

आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः ।

यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनंजयसारिणः ।। ७ ।।

'भीमसेन! तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन घोड़ेके साथ आ रहे हैं, जैसा कि उनका समाचार लानेके लिये गये जासूसोंने मुझे बताया है ।। ७ ।।

उपस्थितश्च कालोऽयमभितो वर्तते हयः ।
माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर ।। ८ ।।

'वृकोदर! इधर यज्ञ आरम्भ करनेका समय भी निकट आ गया है। घोड़ा भी पास ही है। यह माघ-मासकी पूर्णिमा आ रही है, अब बीचमें केवल फाल्गुनका एक मास शेष है ।। ८ ।।

प्रस्थाप्यन्तां हि विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ।। ९ ।।

'अतः वेदके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंको भेजना चाहिये कि वे अश्वमेध-यज्ञकी सिद्धिके लिये उपयुक्त स्थान देखें' ।। ९ ।।

इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम् ।
हृष्टः श्रुत्वा गुडाकेशमायान्तं पुरुषर्षभम् ।। १० ।।

यह सुनकर भीमसेनने राजाकी आज्ञाका तुरंत पालन किया। वे पुरुषप्रवर अर्जुनका आगमन सुनकर बहुत प्रसन्न थे ।। १० ।।

ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह ।
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञकर्मणि ।। ११ ।।

तत्पश्चात् भीमसेन यज्ञकर्ममें कुशल ब्राह्मणोंको आगे करके शिल्पकर्मके जानकार कारीगरोंके साथ नगरसे बाहर गये ।। ११ ।।

तं स शालचयं श्रीमत् सप्रतोलीसुघट्टितम् ।
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधि ।। १२ ।।

उन्होंने शालवृक्षोंसे भरे हुए सुन्दर स्थान पसंद करके उसे चारों ओरसे नपवाया। तत्पश्चात् कुरुनन्दन भीमने वहाँ उत्तम मार्गोंसे सुशोभित यज्ञभूमिका विधिपूर्वक निर्माण कराया ।। १२ ।।

प्रासादशतसम्बाधं मणिप्रवरकुट्टिमम् ।
कारयामास विधिवद्धेमरत्नविभूषितम् ।। १३ ।।

उस भूमिमें सैकड़ों महल बनवाये गये, जिसके फर्शमें अच्छे-अच्छे रत्न जड़े हुए थे। वह यज्ञशाला सोने और रत्नोंसे सजायी गयी थी और उसका निर्माण शास्त्रीय विधिके अनुसार कराया गया था ।। १३ ।।

स्तम्भान् कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च ।
यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काननम् ।। १४ ।।
अन्तःपुराणां राज्ञां च नानादेशसमीयुषाम् ।

कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ।। १५ ।।
ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमीयुषाम् ।
कारयामास कौन्तेयो विधिवत् तान्यनेकशः ।। १६ ।।

वहाँ सुवर्णमय विचित्र खम्भे और बड़े-बड़े तोरण (फाटक) बने हुए थे। धर्मात्मा भीमने यज्ञमण्डपके सभी स्थानोंमें शुद्ध सुवर्णका उपयोग किया था। उन्होंने अन्तःपुरकी स्त्रियों, विभिन्न देशोंसे आये हुए राजाओं, तथा नाना स्थानोंसे पधारे हुए ब्राह्मणोंके रहनेके लिये भी अनेकानेक उत्तम भवन बनवाये। उन सबका निर्माण कुन्तीकुमार भीमने शिल्पशास्त्रकी विधिके अनुसार कराया था ।। १४—१६ ।।

तथा सम्प्रेषयामास दूतान् नृपतिशासनात् ।
भीमसेनो महाबाहो राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम् ।। १७ ।।

महाबाहो! यह सब काम हो जानेपर भीमसेनने महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले विभिन्न राजाओंको निमन्त्रण देनेके लिये बहुत-से दूत भेजे ।। १७ ।।

ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तम ।
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च ।। १८ ।।

नृपश्रेष्ठ! निमन्त्रण पाकर वे सभी नरेश कुरुराज युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये अनेकानेक रत्न, स्त्रियाँ, घोड़े और भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र लेकर वहाँ उपस्थित हुए ।। १८ ।।

तेषां निविशतां तेषु शिविरेषु महात्मनाम् ।
नर्दतः सागरस्येव दिवस्पृगभवत् स्वनः ।। १९ ।।

वहाँ बने हुए विभिन्न शिविरोंमें प्रवेश करनेवाले महामनस्वी नरेशोंका जो कोलाहल सुनायी पड़ता था, वह समुद्र की गम्भीर गर्जनाके समान सम्पूर्ण आकाशमें व्याप्त हो रहा था ।। १९ ।।

तेषामभ्यागतानां च स राजा कुरुवर्धनः ।
व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः ।। २० ।।

कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले राजा युधिष्ठिरने इन नवागत अतिथियोंका सत्कार करनेके लिये अन्न-पान और अलौकिक शय्याओंका प्रबन्ध किया ।। २० ।।

वाहनानां च विविधाः शालाः शालीक्षुगोरसैः ।
उपेता भरतश्रेष्ठो व्यादिदेश च धर्मराट् ।। २१ ।।

भरतभूषण! धर्मराज युधिष्ठिरने उन राजाओंकी सवारियोंके लिये भी धान, ऊँख और गोरससे भरे-पूरे घर दिये ।। २१ ।।

तथा तस्मिन् महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः ।
समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः ।। २२ ।।

बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके उस महायज्ञमें बहुत-से वेदवेत्ता मुनिगण भी पधारे थे ।। २२ ।।

ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन् पृथिवीपते ।
समाजग्मुः सशिष्यास्तान् प्रतिजग्राह कौरवः ।। २३ ।।

पृथ्वीनाथ! ब्राह्मणोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, वे सब अपने शिष्योंको साथ लेकर वहाँ आये। कुरुराज युधिष्ठिरने उन सबको स्वागतपूर्वक अपनाया ।। २३ ।।

सर्वांश्चताननुययौ यावदावसथान् प्रति ।
स्वयमेव महातेजा दम्भं त्यक्त्वा युधिष्ठिरः ।। २४ ।।

वहाँ महातेजस्वी महाराज युधिष्ठिर दम्भ छोड़कर स्वयं ही उन सबका विधिवत् सत्कार करते और जबतक उनके लिये योग्य स्थानका प्रबन्ध न हो जाता, तबतक उनके साथ-साथ रहते थे ।। २४ ।।

ततः कृत्वा स्थपतयः शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा ।
कृत्स्नं यज्ञविधिं राज्ञो धर्मज्ञाय न्यवेदयन् ।। २५ ।।

तत्पश्चात् थवइयों और अन्यान्य शिल्पियों (कारीगरों) ने आकर राजा युधिष्ठिरको यह सूचना दी कि यज्ञमण्डपका सारा कार्य पूरा हो गया ।। २५ ।।

तच्छ्रुत्वा धर्मराजस्तु कृतं सर्वमतन्द्रितः ।
हृष्टरूपोऽभवद् राजा सह भ्रातृभिरादृतः ।। २६ ।।

सब कार्य पूरा हो गया। यह सुनकर आलस्य-रहित धर्मराज राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ बहुत प्रसन्न हुए ।। २६ ।।

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः ।
हेतुवादान् बहूनाहुः परस्परजिगीषवः ।। २७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वह यज्ञ आरम्भ होनेपर बहुत-से प्रवचनकुशल और युक्तिवादी विद्वान्, जो एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते थे, वहाँ अनेक प्रकारसे तर्ककी बातें करने लगे ।। २७ ।।

ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम् ।
देवेन्द्रस्येव विहितं भीमसेनेन भारत ।। २८ ।।

भारत! यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आये हुए राजा लोग घूम-घूमकर भीमसेनके द्वारा तैयार कराये हुए उस यज्ञमण्डपकी उत्तम निर्माण कला एवं सुन्दर सजावट देखने लगे। वह मण्डप देवराज इन्द्रकी यज्ञशालाके समान जान पड़ता था ।। २८ ।।

ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते ।
शय्यासनविहारांश्च सुबहून् रत्नसंचयान् ।। २९ ।।

उन्होंने वहाँ सुवर्णके बने हुए तोरण, शय्या, आसन, विहारस्थान तथा बहुत-से रत्नोंके ढेर देखे ।। २९ ।।

घटान् पात्रीः कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ।
न हि किञ्चिदसौवर्णमपश्यन् वसुधाधिपाः ।। ३० ।।

घड़े, बर्तन, कड़ाहे, कलश और बहुत-से कटोरे भी उनकी दृष्टिमें पड़े। उन पृथ्वीपतियोंने वहाँ कोई भी ऐसा सामान नहीं देखा, जो सोनेका बना हुआ न हो ।। ३० ।।

यूपांश्च शास्त्रपठितान् दारवान् हेमभूषितान् ।
उपक्लृप्तान् यथाकालं विधिवद् भूरिवर्चसः ।। ३१ ।।

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार जो काष्ठके यूप बने हुए थे, उनमें भी सोना जड़ा हुआ था। वे सभी यूप यथासमय विधिपूर्वक बनाये गये थे जो देखनेमें अत्यन्त तेजोमय जान पड़ते थे ।। ३१ ।।

स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो ।
सर्वानेव समानीतानपश्यंस्तत्र ते नृपाः ।। ३२ ।।

प्रभो! संसारके भीतर स्थल और जलमें उत्पन्न होनेवाले जो कोई पशु देखे या सुने गये थे, उन सबको वहाँ राजाओंने उपस्थित देखा ।। ३२ ।।

गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धस्त्रियोऽपि च ।
औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च ।। ३३ ।।
जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युद्भिदानि च ।
पर्वतानूपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते ।। ३४ ।।

गायें, भैसें, बूढ़ी स्त्रियाँ, जल-जन्तु, हिंसक जन्तु, पक्षी, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, पर्वतीय तथा सागरतटपर उत्पन्न होनेवाले प्राणी—ये सभी वहाँ दृष्टिगोचर हुए ।। ३३-३४ ।।

एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः ।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ।। ३५ ।।

इस प्रकार वह यज्ञशाला पशु, गौ, धन और धान्य सभी दृष्टियोंसे सम्पन्न एवं आनन्द बढ़ानेवाली थी। उसे देखकर समस्त राजाओंको बड़ा विस्मय हुआ ।। ३५ ।।

ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमृष्टान्नमृद्धिमत् ।
पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम् ।। ३६ ।।
दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताडयत् ।
विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते ।। ३७ ।।

ब्राह्मणों और वैश्योंके लिये वहाँ परम स्वादिष्ट अन्नका भण्डार भरा हुआ था। प्रतिदिन एक लाख ब्राह्मणोंके भोजन कर लेनेपर वहाँ मेघ-गर्जनाके समान शब्द करनेवाला डंका बार-बार पीटा जाता था। इस प्रकारके डंके वहाँ दिनमें कई बार पीटे जाते थे ।।

एवं स ववृते यज्ञो धर्मराजस्य धीमतः ।
अन्नस्य सुबहून् राजन्नुत्सर्गान् पर्वतोपमान् ।। ३८ ।।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषश्च ह्रदान् जनाः ।
जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ।। ३९ ।।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे ।

राजन्! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरका वह यज्ञ रोज-रोज इसी रूपमें चालू रहा। उस स्थानपर अन्नके बहुत-से पहाड़ों जैसे ढेर लगे रहते थे। दहीकी नहरें बनी हुई थीं और घीके बहुत-से तालाब भरे हुए थे। राजा युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें अनेक देशोंके लोग जुटे हुए थे। राजन्! सारा जम्बूद्वीप ही वहाँ एक स्थानमें स्थित दिखायी देता था ।। ३८-३९½ ।।

तत्र जातिसहस्राणि पुरुषाणां ततस्ततः ।। ४० ।।
गृहीत्वा भाजनान् जग्मुर्बहूनि भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! वहाँ हजारों प्रकारकी जातियोंके लोग बहुत-से पात्र लेकर उपस्थित होते थे ।। ४०½ ।।

स्रग्विणश्चापि ते सर्वे सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।। ४१ ।।
पर्यवेषन् द्विजातींस्तान् शतशोऽथ सहस्रशः ।
विविधान्यन्नपानानि पुरुषा येऽनुयायिनः ।
ते वै नृपोपभोज्यानि ब्राह्मणानां ददुश्च ह ।। ४२ ।।

सैकड़ों और हजारों मनुष्य वहाँ ब्राह्मणोंको तरह-तरहके भोजन परोसते थे। वे सब-के-सब सोनेके हार और विशुद्ध मणिमय कुण्डलोंसे अलंकृत होते थे। राजाके अनुयायी पुरुष वहाँ ब्राह्मणोंको तरह-तरहके अन्न-पान एवं राजोचित भोजन अर्पित करते थे ।। ४१-४२ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ।। ८५ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेधयज्ञका आरम्भविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८५ ।।

षडशीतितमोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरका भीमसेनको राजाओंकी पूजा करनेका आदेश और श्रीकृष्णका युधिष्ठिरसे अर्जुनका संदेश कहना

वैशम्पायन उवाच

समागतान् वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमभाषत ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ आये हुए वेदवेत्ता विद्वानों और पृथ्वीका शासन करनेवाले राजाओंको देखकर राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसे कहा— ।। १ ।।

उपयाता नरव्याघ्रा य एते पृथिवीश्वराः ।
एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नराधिपाः ।। २ ।।

'भाई! ये जो भूमण्डलका शासन करनेवाले राजा यहाँ पधारे हुए हैं, सभी पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं पूजाके योग्य हैं; अतः तुम इनकी यथोचित पूजा (सत्कार) करो' ।। २ ।।

इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना ।
भीमसेनो महातेजा यमाभ्यां सह पाण्डवः ।। ३ ।।

यशस्वी महाराजके इस प्रकार आदेश देनेपर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनने नकुल और सहदेवको साथ लेकर सब राजाओंका युधिष्ठिरके आज्ञानुसार यथोचित सत्कार किया ।। ३ ।।

अथाभ्यगच्छद्गोविन्दो वृष्णिभिः सह धर्मजम् ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ।। ४ ।।
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च ।
निशठेनाथ साम्बेन तथैव कृतवर्मणा ।। ५ ।।

इसके बाद समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीको आगे करके सात्यकि, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब तथा कृतवर्मा आदि वृष्णिवंशियोंके साथ युधिष्ठिरके पास आये ।। ४-५ ।।

तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महारथः ।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति च सर्वशः ।। ६ ।।

महारथी भीमसेनने उन लोगोंका भी विधिवत् सत्कार किया। फिर वे रत्नोंसे भरे-पूरे घरोंमें जाकर रहने लगे ।। ६ ।।

युधिष्ठिरसमीपे तु कथान्ते मधुसूदनः ।
अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्षितम् ।। ७ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिरके पास बैठकर थोड़ी देरतक बातचीत करते रहे। उसीमें उन्होंने बताया—'अर्जुन बहुत-से युद्धोंमें शत्रुओंका सामना करनेके कारण दुर्बल हो गये हैं' ।। ७ ।।

स तं पप्रच्छ कौन्तेयः पुनः पुनररिंदमम् ।
धर्मजः शक्रजं जिष्णुं समाचष्ट जगत्पतिः ।। ८ ।।

यह सुनकर धर्मपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने शत्रुदमन इन्द्रकुमार अर्जुनके विषयमें बारम्बार उनसे पूछा। तब जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण उनसे इस प्रकार बोले— ।। ८ ।।

आगमद् द्वारकावासी ममाप्तः पुरुषो नृप ।
योऽद्राक्षीत् पाण्डवश्रेष्ठं बहुसंग्रामकर्षितम् ।। ९ ।।

'राजन्! मेरे पास द्वारकाका रहनेवाला एक विश्वासपात्र मनुष्य आया था। उसने पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनको अपनी आँखों देखा था। वे अनेक स्थानोंपर युद्ध करनेके कारण बहुत दुर्बल हो गये हैं ।। ९ ।।

समीपे च महाबाहुमाचष्ट च मम प्रभो ।
कुरु कार्याणि कौन्तेय हयमेधार्थसिद्धये ।। १० ।।

'प्रभो! उसने यह भी बताया है कि महाबाहु अर्जुन अब निकट आ गये हैं। अतः कुन्तीनन्दन! अब आप अश्वमेधयज्ञकी सिद्धिके लिये आवश्यक कार्य आरम्भ कर दीजिये' ।। १० ।।

इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
दिष्ट्या स कुशली जिष्णुरुपायाति च माधव ।। ११ ।।

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः प्रश्न किया—'माधव! बड़े सौभाग्यकी बात है कि अर्जुन सकुशल लौट रहे हैं ।। ११ ।।

यदिदं संदिदेशास्मिन् पाण्डवानां बलाग्रणीः ।
तदा ज्ञातुमिहेच्छामि भवता यदुनन्दन ।। १२ ।।

'यदुनन्दन! पाण्डवसेनाके अग्रगामी अर्जुनने इस यज्ञके सम्बन्धमें जो कुछ संदेश दिया हो, उसे मैं आपके मुँहसे सुनना चाहता हूँ' ।। १२ ।।

इत्युक्तो धर्मराजेन वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ।
प्रोवाचेदं वचो वाग्मी धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।। १३ ।।

धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके स्वामी प्रवचनकुशल भगवान् श्रीकृष्णने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा— ।। १३ ।।

इदमाह महाराज पार्थवाक्यं स्मरन् नरः ।
वाच्यो युधिष्ठिरः कृष्ण काले वाक्यमिदं मम ।। १४ ।।

"महाराज! जो मनुष्य मेरे पास आया था, उसने अर्जुनकी बात याद करके मुझसे इस प्रकार कहा—'श्रीकृष्ण! आप ठीक समयपर मेरा यह कथन महाराज युधिष्ठिरको सुना

दीजियेगा ।। १४ ।।

आगमिष्यन्ति राजानः सर्वे वै कौरवर्षभ ।

प्राप्तानां महतां पूजा कार्या ह्येतत् क्षमं हि नः ।। १५ ।।

"(अर्जुन कहते हैं—) 'कौरवश्रेष्ठ! अश्वमेधयज्ञमें प्रायः सभी राजा पधारेंगे। जो आ जायँ उन सबको महान् मानकर उन सबका पूर्ण सत्कार करना चाहिये। यही हमारे योग्य कार्य है ।। १५ ।।

इत्येतद्वचनाद् राजा विज्ञाप्यो मम मानद ।

यथा चात्ययिकं न स्याद् यदर्घ्याहरणेऽभवत् ।। १६ ।।

("इतना कहकर वे फिर मुझसे बोले—) 'मानद! मेरी ओरसे तुम राजा युधिष्ठिरको यह सूचित कर देना कि राजसूय-यज्ञमें अर्घ्य देते समय जो दुर्घटना हो गयी थी, वैसी इस बार नहीं होनी चाहिये ।। १६ ।।

कर्तुमर्हति तद् राजा भवांश्चाप्यनुमन्यताम् ।

राजद्वेषान्न नश्येयुरिमा राजन् पुनः प्रजाः ।। १७ ।।

"श्रीकृष्ण! राजा युधिष्ठिरको ऐसा ही करना चाहिये। आप भी उन्हें ऐसी ही अनुमति दें और बतावें कि 'राजन्! राजाओंके पारस्परिक द्वेषसे पुनः इन सारी प्रजाओंका विनाश न होने पावे' ।। १७ ।।

इदमन्यच्च कौन्तेय वचः स पुरुषोऽब्रवीत् ।

धनंजयस्य नृपते तन्मे निगदतः शृणु ।। १८ ।।

(श्रीकृष्ण कहते हैं—) 'कुन्तीनन्दन नरेश्वर! उस मनुष्यने अर्जुनकी कही हुई यह एक बात और बतायी थी, उसे भी मेरे मुँहसे सुन लीजिये ।। १८ ।।

उपायास्यति यज्ञं नो मणिपूरपतिर्नृपः ।

पुत्रो मम महातेजा दयितो बभ्रुवाहनः ।। १९ ।।

"हमलोगोंके इस यज्ञमें मणिपुरका राजा बभ्रुवाहन भी आवेगा, जो महान् तेजस्वी और मेरा परम प्रिय पुत्र है ।। १९ ।।

तं भवान् मदपेक्षार्थं विधिवत् प्रतिपूजयेत् ।

स तु भक्तोऽनुरक्तश्च मम नित्यमिति प्रभो ।। २० ।।

"प्रभो! उसकी सदा मेरे प्रति बड़ी भक्ति और अनुरक्ति रहती है। इसलिये आप मेरी अपेक्षासे उसका विधिपूर्वक विशेष सत्कार करें" ।। २० ।।

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

अभिनन्द्यास्य तद् वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ।। २१ ।।

अर्जुनका यह संदेश सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उसका हृदयसे अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे षडशीतितमोऽध्यायः ।। ८६ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेध-यज्ञका आरम्भविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८६ ।।

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनके विषयमें श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरकी बातचीत, अर्जुनका हस्तिनापुरमें जाना तथा उलूपी और चित्राङ्गदाके साथ बभ्रुवाहनका आगमन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं प्रियमिदं कृष्ण यत् त्वमर्हसि भाषितुम् ।
तन्मेऽमृतरसं पुण्यं मनो ह्लादयति प्रभो ।। १ ।।

युधिष्ठिर बोले—प्रभो! श्रीकृष्ण! मैंने यह प्रिय संदेश सुना, जिसे आप ही कहने या सुनानेके योग्य हैं। आपका यह अमृतरससे परिपूर्ण पवित्र वचन मेरे मनको आनन्दमग्न किये देता है ।। १ ।।

बहूनि किल युद्धानि विजयस्य नराधिपैः ।
पुनरासन् हृषीकेश तत्र तत्र च मे श्रुतम् ।। २ ।।

हृषीकेश! मेरे सुननेमें आया है कि भिन्न-भिन्न देशोंमें वहाँके राजाओंके साथ अर्जुनको कई बार युद्ध करने पड़े हैं ।। २ ।।

किं निमित्तं स नित्यं हि पार्थः सुखविवर्जितः ।
अतीव विजयो धीमन्निति मे दूयते मनः ।। ३ ।।
संचिन्तयामि कौन्तेयं रहो जिष्णुं जनार्दन ।
अतीव दुःखभागी स सततं पाण्डुनन्दनः ।। ४ ।।

इसका क्या कारण है? बुद्धिमान् जनार्दन! जब मैं एकान्तमें बैठकर अर्जुनके बारेमें विचार करता हूँ, तब यह जानकर मेरा मन खिन्न हो जाता है कि हमलोगोंमें वे ही सदा सबसे अधिक दुःखके भागी रहे हैं। पाण्डुनन्दन अर्जुन सुखसे वंचित क्यों रहते हैं? यह समझमें नहीं आता ।। ३-४ ।।

किं नु तस्य शरीरेऽस्ति सर्वलक्षणपूजिते ।
अनिष्टं लक्षणं कृष्ण येन दुःखान्युपाश्नुते ।। ५ ।।

श्रीकृष्ण! उनका शरीर तो सभी शुभलक्षणोंसे सम्पन्न है। फिर उसमें अशुभ लक्षण कौन-सा है, जिससे उन्हें अधिक दुःख उठाना पड़ता है? ।। ५ ।।

अतीवासुखभोगी स सततं कुन्तिनन्दनः ।
न हि पश्यामि बीभत्सोर्निन्द्यं गात्रेषु किंचन ।
श्रोतव्यं चेन्मयैतद् वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।। ६ ।।

कुन्तीनन्दन अर्जुन सदा अधिक कष्ट भोगते हैं; परंतु उनके अंगोंमें कहीं कोई निन्दनीय दोष नहीं दिखायी देता है। ऐसी दशामें उन्हें कष्ट भोगनेका कारण क्या है? यह मैं सुनना चाहता हूँ। आप मुझे विस्तारपूर्वक यह बात बतावें ।। ६ ।।

इत्युक्तः स हृषीकेशो ध्यात्वा सुमहदुत्तरम् ।
राजानं भोजराजन्यवर्धनो विष्णुरब्रवीत् ।। ७ ।।

युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर भोजवंशी क्षत्रियोंकी वृद्धि करनेवाले भगवान् हृषीकेश विष्णुने बहुत देरतक उत्तम रीतिसे चिन्तन करनेके बाद राजा युधिष्ठिरसे यों कहा— ।। ७ ।।

न ह्यस्य नृपते किंचित् संश्लिष्टमुपलक्षये ।
ऋते पुरुषसिंहस्य पिण्डिकेऽस्याधिके यतः ।। ८ ।।

'नरेश्वर! पुरुषसिंह अर्जुनकी पिण्डलियाँ (फिल्लियाँ) औसतसे कुछ अधिक मोटी हैं। इसके सिवा और कोई अशुभ लक्षण उनके शरीरमें मुझे भी नहीं दिखायी देता है' ।। ८ ।।

स ताभ्यां पुरुषव्याघ्रो नित्यमध्वसु वर्तते ।
न चान्यदनुपश्यामि येनासौ दुःखभाजनम् ।। ९ ।।

'उन मोटी फिल्लियोंके कारण ही पुरुषसिंह अर्जुनको सदा रास्ता चलना पड़ता है। और कोई कारण मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे उन्हें दुःख झेलना पड़े' ।। ९ ।।

इत्युक्तः पुरुषश्रेष्ठस्तदा कृष्णेन धीमता ।
प्रोवाच वृष्णिशार्दूलमेवमेतदिति प्रभो ।। १० ।।

प्रभो! बुद्धिमान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उन वृष्णिसिंहसे कहा—'भगवन्! आपका कहना ठीक है' ।। १० ।।

कृष्णा तु द्रौपदी कृष्णं तिर्यक् सासूयमैक्षत ।
प्रतिजग्राह तस्यास्तं प्रणयं चापि केशिहा ।। ११ ।।
सख्युः सखा हृषीकेशः साक्षादिव धनंजयः ।

उस समय द्रुपदकुमारी कृष्णाने भगवान् श्रीकृष्णकी ओर तिरछी चितवनसे ईर्ष्यापूर्वक देखा। केशिहन्ता श्रीकृष्णने द्रौपदीके उस प्रेमपूर्ण उपालम्भको सानन्द ग्रहण किया; क्योंकि उसकी दृष्टिमें सखा अर्जुनके मित्र भगवान् हृषीकेश साक्षात् अर्जुनके ही समान थे ।। ११½ ।।

तत्र भीमादयस्ते तु कुरवो याजकाश्च ये ।। १२ ।।
रेमुः श्रुत्वा विचित्रां तां धनंजयकथां शुभाम् ।

उस समय भीमसेन आदि कौरव और यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणलोग अर्जुनके सम्बन्धमें यह शुभ एवं विचित्र बात सुनकर बहुत प्रसन्न हो रहे थे ।। १२½ ।।

तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुनसंकथाः ।। १३ ।।
उपायाद् वचनाद् दूतो विजयस्य महात्मनः ।

उन लोगोंमें अर्जुनके सम्बन्धमें इस तरहकी बातें हो ही रही थीं कि महात्मा अर्जुनका भेजा हुआ दूत वहाँ आ पहुँचा ।। १३ १/२ ।।

सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् ।। १४ ।।
उपायातं नरव्याघ्रं फाल्गुनं प्रत्यवेदयत् ।

वह बुद्धिमान् दूत कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरके पास जा उन्हें नमस्कार करके बोला—'पुरुषसिंह अर्जुन निकट आ गये हैं' ।। १४ १/२ ।।

तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ।। १५ ।।
प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहुधनं तदा ।

यह शुभ समाचार सुनकर राजा युधिष्ठिरकी आँखोंमें आनन्दके आँसू छलक आये और यह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करनेके कारण उस दूतको पुरस्काररूपमें उन्होंने बहुत-सा धन दिया ।। १५ १/२ ।।

ततो द्वितीये दिवसे महान् शब्दो व्यवर्धत ।। १६ ।।
आगच्छति नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरंधरे ।

तदनन्तर दूसरे दिन कौरव-धुरंधर नरव्याघ्र अर्जुनके आते समय नगरमें महान् कोलाहल बढ़ गया ।। १६ १/२ ।।

ततो रेणुः समुद्भूतो विबभौ तस्य वाजिनः ।। १७ ।।
अभितो वर्तमानस्य यथोच्चैःश्रवसस्तथा ।

उच्चैःश्रवाके समान वेगवान् और पास ही विद्यमान उस यज्ञसम्बन्धी घोड़ेकी टापसे उड़ी हुई धूल आकाशमें अद्भुत शोभा पा रही थी ।। १७ १/२ ।।

तत्र हर्षकरी वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ।। १८ ।।
दिष्ट्यासि पार्थ कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः ।

वहाँ अर्जुनने लोगोंके मुँहसे हर्ष बढ़ानेवाली बातें इस प्रकार सुनीं—'पार्थ! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम सकुशल लौट आये। राजा युधिष्ठिर धन्य हैं ।।

कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा हि युधि पार्थिवान् ।। १९ ।।
चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपागच्छेदृतेऽर्जुनात् ।

'अर्जुनके सिवा दूसरा कौन ऐसा वीर पुरुष है जो समूची पृथ्वीको जीतकर युद्धमें राजाओंको परास्त करके और अपने श्रेष्ठ अश्वको सर्वत्र घुमाकर उसके साथ सकुशल लौट आ सके ।। १९ १/२ ।।

ये व्यतीता महात्मानो राजानः सगरादयः ।। २० ।।
तेषामपीदृशं कर्म न कदाचन शुश्रुम ।

'अतीतकालमें जो सगर आदि महामनस्वी राजा हो गये हैं, उनका भी कभी ऐसा पराक्रम हमारे सुननेमें नहीं आया था ।। २० १/२ ।।

नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः ।। २१ ।।
यत् त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानसि ।

'कुरुकुलश्रेष्ठ! आपने जो दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, उसे भविष्यमें होनेवाले दूसरे भूपाल नहीं कर सकेंगे' ।। २१½ ।।

इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः ।। २२ ।।
शृण्वन् विवेश धर्मात्मा फाल्गुनो यज्ञसंस्तरम् ।

इस प्रकार कहते हुए लोगोंकी श्रवणसुखद बातें सुनते हुए धर्मात्मा अर्जुनने यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया ।। २२½ ।।

ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः ।। २३ ।।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य तं प्रत्युद्ययतुस्तदा ।

उस समय मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिर तथा यदुनन्दन श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रको आगे करके उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये थे ।। २३½ ।।

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः ।। २४ ।।
भीमादींश्चापि सम्पूज्य पर्यष्वजत केशवम् ।

अर्जुनने पिता धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके चरणोंमें प्रणाम करके भीमसेन आदिका भी पूजन किया और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया ।। २४½ ।।

तैः समेत्यार्चितस्तांश्च प्रत्यर्च्याथ यथाविधि ।। २५ ।।
विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः ।

उन सबने मिलकर अर्जुनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। महाबाहु अर्जुनने भी उनका विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके उसी तरह विश्राम किया, जैसे समुद्रके पार जानेकी इच्छावाला पुरुष किनारेपर पहुँचकर विश्राम करता है ।। २५½ ।।

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ।। २६ ।।
मातृभ्यां सहितो धीमान् कुरूनेव जगाम ह ।

इसी समय बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओंके साथ कुरुदेशमें जा पहुँचा ।। २६½ ।।

तत्र वृद्धान् यथावत् स कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ।। २७ ।।
अभिवाद्य महबाहुस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः ।
प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ।। २८ ।।

वहाँ पहुँचकर वह महाबाहु नरेश कुरुकुलके वृद्ध पुरुषों तथा अन्य राजाओंको विधिवत् प्रणाम करके स्वयं भी उनके द्वारा सत्कार पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। इसके बाद वह अपनी पितामही कुन्तीके सुन्दर महलमें गया ।। २७-२८ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुनप्रत्यागमने सप्ताशीतितमोऽध्यायः ।। ८७ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अर्जुनका प्रत्यागमनविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८७ ।।

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

उलूपी और चित्राङ्गदाके सहित बभ्रुवाहनका रत्न-आभूषण आदिसे सत्कार तथा अश्वमेध-यज्ञका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

स प्रविश्य महाबाहुः पाण्डवानां निवेशनम् ।
पितामहीमभ्यवन्दत् साम्ना परमवल्गुना ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके महाबाहु बभ्रुवाहनने अत्यन्त मधुर वचन बोलकर अपनी दादी कुन्तीके चरणोंमें प्रणाम किया ।।

ततश्चित्राङ्गदा देवी कौरव्यस्यात्मजापि च ।
पृथां कृष्णां च सहिते विनयेनोपजग्मतुः ।। २ ।।

इसके बाद देवी चित्रांगदा और कौरव्यनागकी पुत्री उलूपीने भी एक साथ ही विनीत भावसे कुन्ती और द्रौपदीके चरण छुए ।। २ ।।

सुभद्रां च यथान्यायं याश्चान्याः कुरुयोषितः ।

ददौ कुन्ती ततस्ताभ्यां रत्नानि विविधानि च ।। ३ ।।

फिर सुभद्रा तथा कुरूकुलकी अन्य स्त्रियोंसे भी वे यथायोग्य मिलीं। उस समय कुन्तीने उन दोनोंको नाना प्रकारके रत्न भेंटमें दिये ।। ३ ।।

द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चाप्यन्याऽददुः स्त्रियः ।
ऊषतुस्तत्र ते देव्यौ महार्हशयनासने ।। ४ ।।

द्रौपदी, सुभद्रा तथा अन्य स्त्रियोंने भी अपनी ओरसे नाना प्रकारके उपहार दिये। तत्पश्चात् वे दोनों देवियाँ बहुमूल्य शय्याओंपर विराजमान हुईं ।। ४ ।।

सुपूजिते स्वयं कुन्त्या पार्थस्य हितकाम्यया ।
स च राजा महातेजाः पूजितो बभ्रुवाहनः ।। ५ ।।
धृतराष्ट्रं महीपालमुपतस्थे यथाविधि ।

अर्जुनके हितकी कामनासे कुन्तीदेवीने स्वयं ही उन दोनोंका बड़ा सत्कार किया। कुन्तीसे सत्कार पाकर महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहन महाराज धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित हुआ और उसने विधिपूर्वक उनका चरण-स्पर्श किया ।। ५½ ।।

युधिष्ठिरं च राजानं भीमादींश्चापि पाण्डवान् ।। ६ ।।
उपागम्य महातेजा विनयेनाभ्यवादयत् ।

इसके बाद राजा युधिष्ठिर और भीमसेन आदि सभी पाण्डवोंके पास जाकर उस महातेजस्वी नरेशने विनयपूर्वक उनका अभिवादन किया ।। ६½ ।।

स तैः प्रेम्णा परिष्वक्तः पूजितश्च यथाविधि ।। ७ ।।
धनं चास्मै ददुर्भूरि प्रीयमाणा महारथाः ।

उन सब लोगोंने प्रेमवश उसे छातीसे लगा लिया और उसका यथोचित सत्कार किया। इतना ही नहीं, बभ्रुवाहनपर प्रसन्न हुए उन पाण्डव महारथियोंने उसे बहुत धन दिया ।। ७½ ।।

तथैव च महीपालः कृष्णं चक्रगदाधरम् ।। ८ ।।
प्रद्युम्न इव गोविन्दं विनयेनोपतस्थिवान् ।

इसी प्रकार वह भूपाल प्रद्युम्नकी भाँति विनीत भावसे शंख-चक्र-गदाधारी भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें उपस्थित हुआ ।। ८½ ।।

तस्मै कृष्णो ददौ राज्ञे महार्हमतिपूजितम् ।। ९ ।।
रथं हेमपरिष्कारं दिव्याश्वयुजमुत्तमम् ।

श्रीकृष्णने इस राजाको एक बहुमूल्य रथ प्रदान किया जो सुनहरी साजोंसे सुसज्जित, सबके द्वारा अत्यन्त प्रशंसित और उत्तम था। उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे ।। ९½ ।।

धर्मराजश्च भीमश्च फाल्गुनश्च यमौ तथा ।। १० ।।
पृथक् पृथक् च ते चैनं मानार्थाभ्यामयोजयन् ।

तत्पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवने अलग-अलग बभ्रुवाहनका सत्कार करके उसे बहुत धन दिया ।। १० $\frac{1}{2}$ ।।

ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः ।। ११ ।।
युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ।

उसके तीसरे दिन सत्यवतीनन्दन प्रवचनकुशल महर्षि व्यास युधिष्ठिरके पास आकर बोले— ।। ११ $\frac{1}{2}$ ।।

अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते ।
मुहूर्तो यज्ञियः प्राप्तश्चोदयन्तीह याजकाः ।। १२ ।।

'कुन्तीनन्दन! तुम आजसे यज्ञ आरम्भ कर दो। उसका समय आ गया है। यज्ञका शुभ मुहूर्त उपस्थित है और याजकगण तुम्हें बुला रहे हैं ।। १२ ।।

अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं च कल्पताम् ।
बहुत्वात् काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ।। १३ ।।

'राजेन्द्र! तुम्हारे इस यज्ञमें किसी बातकी कमी नहीं रहेगी। इसलिये यह किसी भी अंगसे हीन न होनेके कारण अहीन (सर्वांगपूर्ण) कहलायेगा। इसमें सुवर्ण नामक द्रव्यकी अधिकता होगी; इसलिये यह बहुसुवर्णक नामसे विख्यात होगा ।। १३ ।।

एवमत्र महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु ।
त्रित्वं व्रजतु ते राजन् ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ।। १४ ।।

'महाराज! यज्ञके प्रधान कारण ब्राह्मण ही हैं; इसलिये तुम उन्हें तिगुनी दक्षिणा देना। ऐसा करनेसे तुम्हारा यह एक ही यज्ञ तीन यज्ञोंके समान हो जायगा ।। १४ ।।

त्रीनश्वमेधानत्र त्वं सम्प्राप्य बहुदक्षिणान् ।
ज्ञातिवध्याकृतं पापं प्रहास्यसि नराधिप ।। १५ ।।

'नरेश्वर! यहाँ बहुत-सी दक्षिणावाले तीन अश्वमेध-यज्ञोंका फल पाकर तुम ज्ञातिवधके पापसे मुक्त हो जाओगे ।। १५ ।।

पवित्रं परमं चैतत् पावनं चैतदुत्तमम् ।
यदाश्वमेधावभृथं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ।। १६ ।।

'कुरुनन्दन! तुम्हें जो अश्वमेध-यज्ञका अवभृथ-स्नान प्राप्त होगा, वह परम पवित्र, पावन और उत्तम है' ।। १६ ।।

इत्युक्तः स तु तेजस्वी व्यासेनामितबुद्धिना ।
दीक्षां विवेश धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये ततः ।। १७ ।।

परम बुद्धिमान् व्यासजीके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा एवं तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अश्वमेध-यज्ञकी सिद्धिके लिये उसी दिन दीक्षा ग्रहण की ।। १७ ।।

ततो यज्ञं महाबाहुर्वाजिमेधं महाक्रतुम् ।
बह्वन्नदक्षिणं राजा सर्वकामगुणान्वितम् ।। १८ ।।

फिर उन महाबाहु नरेशने बहुत-से अन्नकी दक्षिणासे युक्त तथा सम्पूर्ण कामना और गुणोंसे सम्पन्न उस अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ।। १८ ।।

तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः ।
परिक्रमन्तः सर्वज्ञा विधिवत् साधुशिक्षितम् ।। १९ ।।

उसमें वेदोंके ज्ञाता और सर्वज्ञ याजकोंने सम्पूर्ण कर्म किये-कराये। वे सब ओर घूम-घूमकर सत्पुरुषों-द्वारा शिक्षित कर्मका सम्पादन करते-कराते थे ।। १९ ।।

न तेषां स्खलितं किंचिदासीच्चाप्यकृतं तथा ।
क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ।। २० ।।

उनके द्वारा उस यज्ञमें कहीं भी कोई भूल या त्रुटि नहीं होने पायी। कोई भी कर्म न तो छूटा और न अधूरा रहा। श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने प्रत्येक कार्यको क्रमके अनुसार उचित रीतिसे पूरा किया ।। २० ।।

कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं यथावद् द्विजसत्तमाः ।
चक्रुस्ते विधिवद् राजंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ।। २१ ।।

राजन्! वहाँ ब्राह्मणशिरोमणियोंने प्रवर्ग्य नामक धर्मानुकूल कर्मको यथोचित रीतिसे सम्पन्न करके विधिपूर्वक सोमाभिषव—सोमलताका रस निकालनेका कार्य किया ।। २१ ।।

अभिषूय ततो राजन् सोमं सोमपसत्तमाः ।
सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ।। २२ ।।

महाराज! सोमपान करनेवालोंमें श्रेष्ठ तथा शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले विद्वानोंने सोमरस निकालकर उसके द्वारा क्रमशः तीनों समयके सवन कर्म किये ।। २२ ।।

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह ।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ।। २३ ।।

उस यज्ञमें आया हुआ कोई भी मनुष्य, चाहे वह निम्न-से-निम्न श्रेणीका क्यों न हो, दीन-दरिद्र, भूखा अथवा दुखिया नहीं रह गया था ।। २३ ।।

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा ।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ।। २४ ।।

शत्रुसूदन महातेजस्वी भीमसेन महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजनार्थियोंको भोजन दिलानेके कामपर सदा डटे रहते थे ।। २४ ।।

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकार्याणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रानुदर्शनात् ।। २५ ।।

यज्ञकी वेदी बनानेमें निपुण याजकगण प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सब कार्य सम्पन्न किया करते थे ।। २५ ।।

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यस्तस्य धीमतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाविचक्षणः ।। २६ ।।

बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरके यज्ञका कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था जो छहों अंगोंका विद्वान्, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाला, अध्यापनकर्ममें कुशल तथा वाद-विवादमें प्रवीण न हो ।। २६ ।।

ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड् बैल्वान् भरतर्षभ ।
खादिरान् बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः ।। २७ ।।
देवदारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेर्मखे ।
श्लेष्मातकमयं चैकं याजकाः समकल्पयन् ।। २८ ।।

भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् जब यूपकी स्थापनाका समय आया, तब याजकोंने यज्ञभूमिमें बेलके छः, खैरके छः, पलाशके भी छः, देवदारुके दो और लसोड़ेका एक—इस प्रकार इक्कीस यूप कुरुराज युधिष्ठिरके यज्ञमें खड़े किये ।। २७-२८ ।।

शोभार्थं चापरान् यूपान् काञ्चनान् भरतर्षभ ।
स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात् ।। २९ ।।

भरतभूषण! इनके सिवा धर्मराजकी आज्ञासे भीमसेनने यज्ञकी शोभाके लिये और भी बहुत-से सुवर्णमय यूप खड़े कराये ।। २९ ।।

ते व्यराजन्त राजर्षेर्वासोभिरुपशोभिताः ।
महेन्द्रानुगता देवा यथा सप्तर्षिभिर्दिवि ।। ३० ।।

वस्त्रोंद्वारा अलंकृत किये गये वे राजर्षि युधिष्ठिरके यज्ञ सम्बन्धी यूप आकाशमें सप्तर्षियोंसे घिरे हुए इन्द्रके अनुगामी देवताओंके समान शोभा पाते थे ।। ३० ।।

इष्टकाः काञ्चनीश्चात्र चयनार्थं कृताऽभवन् ।
शुशुभे चयनं तच्च दक्षस्येव प्रजापतेः ।। ३१ ।।

यज्ञकी वेदी बनानेके लिये वहाँ सोनेकी ईंटें तैयार करायी गयी थीं। उनके द्वारा जब वेदी बनकर तैयार हुई तब वह दक्षप्रजापतिकी यज्ञवेदीके समान शोभा पाने लगी ।। ३१ ।।

चतुश्चित्यश्च तस्यासीदष्टादशकरात्मकः ।
स रुक्मपक्षो निचितस्त्रिकोणो गरुडाकृतिः ।। ३२ ।।

उस यज्ञमण्डपमें अग्निचयनके लिये चार स्थान बने थे। उनमेंसे प्रत्येककी लम्बाई-चौड़ाई अठारह हाथकी थी। प्रत्येक वेदी सुवर्णमय पंखसे युक्त एवं गरुड़के समान आकारवाली थी। वह त्रिकोणाकार बनायी गयी थी ।। ३२ ।।

ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः ।
तं तं देवं समुद्दिश्य पक्षिणः पशवश्च ये ।। ३३ ।।
ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये ।
सर्वांस्तानभ्ययुञ्जंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि ।। ३४ ।।

तदनन्तर मनीषी पुरुषोंने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पशुओंको नियुक्त किया। भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे पशु-पक्षी, शास्त्रकथित वृषभ और जलचर जन्तु—इन सबका

अग्निस्थापन-कर्ममें याजकोंने उपयोग किया ।।

यूपेषु नियता चासीत् पशूनां त्रिशती तथा ।
अश्वरत्नोत्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः ।। ३५ ।।

कुन्तीनन्दन महात्मा युधिष्ठिरके उस यज्ञमें जो यूप खड़े किये गये थे, उनमें तीन सौ पशु बाँधे गये थे। उन सबमें प्रधान वही अश्वरत्न था ।। ३५ ।।

स यज्ञः शुशुभे तस्य साक्षाद् देवर्षिसंकुलः ।
गन्धर्वगणसंगीतः प्रनृत्तोऽप्सरसां गणैः ।। ३६ ।।

साक्षात् देवर्षियोंसे भरा हुआ युधिष्ठिरका वह यज्ञ बड़ी शोभा पा रहा था। गन्धर्वोंके मधुर संगीत और अप्सराओंके नृत्यसे उसकी शोभा और बढ़ गयी थी ।। ३६ ।।

स किंपुरुषसंकीर्णः किंनरैश्चोपशोभितः ।
सिद्धविप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः ।। ३७ ।।

वह यज्ञमण्डप किम्पुरुषोंसे भरा-पूरा था। किन्नर भी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। उसके चारों ओर सिद्धों और ब्राह्मणोंके निवासस्थान बने थे, जिनसे वह यज्ञ-मण्डप घिरा था ।। ३७ ।।

तस्मिन् सदसि नित्यास्तु व्यासशिष्या द्विजर्षभाः ।
सर्वशास्त्रप्रणेतारः कुशला यज्ञसंस्तरे ।। ३८ ।।

व्यासजीके शिष्य श्रेष्ठ ब्राह्मण उस यज्ञसभामें सदा उपस्थित रहते थे। वे सम्पूर्ण शास्त्रोंके प्रणेता और यज्ञकर्ममें कुशल थे ।। ३८ ।।

नारदश्च बभूवात्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः ।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ।। ३९ ।।
गन्धर्वा गीतकुशला नृत्येषु च विशारदाः ।
रमयन्ति स्म तान् विप्रान् यज्ञकर्मान्तरेषु वै ।। ४० ।।

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा अन्य संगीतकलाकोविद, गाननिपुण एवं नृत्यविशारद गन्धर्व प्रतिदिन यज्ञकार्यके बीच-बीचमें समय मिलनेपर अपनी नाच-गानकी कलाओंद्वारा उन ब्राह्मणोंका मनोरंजन करते थे ।। ३९-४० ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ।। ८८ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेधयज्ञका आरम्भविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८८ ।।

एकोननवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका ब्राह्मणोंको दक्षिणा देना और राजाओंको भेंट देकर विदा करना

वैशम्पायन उवाच

श्रपयित्वा पशूनन्यान् विधिवद् द्विजसत्तमाः ।
तं तुरङ्गं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः ।। १ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अन्यान्य पशुओंका विधिपूर्वक श्रपण करके उस अश्वका भी शास्त्रीय विधिके अनुसार आलभन किया ।। १ ।।

ततः संश्रप्य तुरगं विधिवद् याजकास्तदा ।
उपसंवेशयन् राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम् ।। २ ।।
कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम् ।

राजन्! तत्पश्चात् याजकोंने विधिपूर्वक अश्वका श्रपण करके उसके समीप मन्त्र, द्रव्य और श्रद्धा—इन तीन कलाओंसे युक्त मनस्विनी द्रौपदीको शास्त्रोक्त विधिके अनुसार बैठाया ।। २½ ।।

उद्धृत्य तु वपां तस्य यथाशास्त्रं द्विजातयः ।। ३ ।।
श्रपयामासुरव्यग्रा विधिवद् भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद ब्राह्मणोंने शान्तचित्त होकर उस अश्वकी चर्बी निकाली और उसका विधिपूर्वक श्रपण करना आरम्भ किया ।। ३½ ।।

तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः ।। ४ ।।
उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा ।

भाइयोंसहित धर्मराज युधिष्ठिरने शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार उस चर्बीके धूमकी गन्ध सूँघी, जो समस्त पापोंका नाश करनेवाली थी ।। ४½ ।।

शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप ।। ५ ।।
तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः ।

नरेश्वर! उस अश्वके जो शेष अंग थे, उनको धीर स्वभाववाले समस्त सोलह ऋत्विजोंने अग्निमें होम कर दिया ।। ५½ ।।

संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं यज्ञं शक्रतेजसः ।। ६ ।।
व्यासः सशिष्यो भगवान् वर्धयामास तं नृपम् ।

इस प्रकार इन्द्रके समान तेजस्वी राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञको समाप्त करके शिष्योंसहित भगवान् व्यासने उन्हें बधाई दी—अभ्युदयसूचक आशीर्वाद दिया ।। ६½ ।।

ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्ये यथाविधि ।। ७ ।।
कोटीः सहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुंधराम् ।

इसके बाद युधिष्ठिरने सब ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक एक हजार करोड़ (एक खर्व) स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणामें देकर व्यासजीको सम्पूर्ण पृथ्वी दान कर दी ।। ७½ ।।

प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः ।। ८ ।।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।

राजन्! सत्यवतीनन्दन व्यासने उस भूमिदानको ग्रहण करके भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा— ।। ८½ ।।

वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ।। ९ ।।
निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ।

'नृपश्रेष्ठ! तुम्हारी दी हुई इस पृथ्वीको मैं पुनः तुम्हारे ही अधिकारमें छोड़ता हूँ। तुम मुझे इसका मूल्य दे दो; क्योंकि ब्राह्मण धनके ही इच्छुक होते हैं (राज्यके नहीं)' ।। ९½ ।।

युधिष्ठिरस्तु तान् विप्रान् प्रत्युवाच महामनाः ।। १० ।।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् मध्ये राज्ञां महात्मनाम् ।

तब महामनस्वी नरेशोंके बीचमें भाइयोंसहित बुद्धिमान् महामना युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणोंसे कहा— ।। १०½ ।।

अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ।। ११ ।।
अर्जुनेन जिता चेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ।
वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमाम् ।। १२ ।।
चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ।
नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः ।। १३ ।।
इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातॄणां चैव मे सदा ।

'विप्रवरो! अश्वमेध नामक महायज्ञमें पृथ्वीकी दक्षिणा देनेका विधान है; अतः अर्जुनके द्वारा जीती हुई यह सारी पृथ्वी मैंने ऋत्विजोंको दे दी है। अब मैं वनमें चला जाऊँगा। आपलोग चातुर्होत्र यज्ञके प्रमाणानुसार पृथ्वीके चार भाग करके इसे आपसमें बाँट लें। द्विजश्रेष्ठगण! मैं ब्राह्मणोंका धन लेना नहीं चाहता। ब्राह्मणो! मेरे भाइयोंका भी सदा ऐसा ही विचार रहता है' ।। ११—१३½ ।।

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा ।। १४ ।।
एवमेतदिति प्राहुस्तदभूल्लोमहर्षणम् ।

उनके ऐसा कहनेपर भीमसेन आदि भाइयों और द्रौपदीने एक स्वरसे कहा—'हाँ, महाराजका कहना ठीक है।' इस महान् त्यागकी बात सुनकर सबके रोंगटे खड़े हो गये ।। १४½ ।।

ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् साधु साध्विति भारत ।। १५ ।।
तथैव द्विजसंघानां शंसतां विबभौ स्वनः ।

भारत! उस समय आकाशवाणी हुई—'पाण्डवो! तुमने बहुत अच्छा निश्चय किया। तुम्हें धन्यवाद!' इसी प्रकार पाण्डवोंके सत्साहसकी प्रशंसा करते हुए ब्राह्मण-समूहोंका भी शब्द वहाँ स्पष्ट सुनायी दे रहा था ।। १५½ ।।

द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरम् ।। १६ ।।
प्रोवाच मध्ये विप्राणामिदं सम्पूजयन् मुनिः ।

तब मुनिवर द्वैपायनकृष्णने पुनः ब्राह्मणोंके बीचमें युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा— ।। १६½ ।।

दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रतिददाम्यहम् ।। १७ ।।
हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते ।

'राजन्! तुमने तो यह पृथ्वी मुझे दे ही दी। अब मैं अपनी ओरसे इसे वापस करता हूँ। तुम इन ब्राह्मणोंको सुवर्ण दे दो और पृथ्वी तुम्हारे ही अधिकारमें रह जाय' ।। १७½ ।।

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।। १८ ।।
यथाऽऽह भगवान् व्यासस्तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।

तब भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'धर्मराज! भगवान् व्यास जैसा कहते हैं, वैसा ही तुम्हें करना चाहिये' ।। १८½ ।।

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ।। १९ ।।
कोटिकोटिकृतां प्रादाद् दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ।

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर भाइयोंसहित बहुत प्रसन्न हुए और प्रत्येक ब्राह्मणोंको उन्होंने यज्ञके लिये एक-एक करोड़की तिगुनी दक्षिणा दी ।। १९½ ।।

न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ।। २० ।।
यत् कृतं कुरुराजेन मरुत्तस्यानुकुर्वता ।

महाराज मरुत्तके मार्गका अनुसरण करनेवाले राजा युधिष्ठिरने उस समय जैसा महान् त्याग किया था, वैसा इस संसारमें दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा ।। २०½ ।।

प्रतिगृह्य तु तद् रत्नं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।। २१ ।।
ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वांश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ।

विद्वान् महर्षि व्यासने वह सुवर्णराशि लेकर ब्राह्मणोंको दे दी और उन्होंने चार भाग करके उसे आपसमें बाँट लिया ।। २१½ ।।

धरण्या निष्क्रयं दत्त्वा तद्धिरण्यं युधिष्ठिरः ।। २२ ।।
धूतपापो जितस्वर्गो मुमुदे भ्रातृभिः सह ।

इस प्रकार पृथ्वीके मूल्यके रूपमें वह सुवर्ण देकर राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित बहुत प्रसन्न हुए। उनके सारे पाप धुल गये और उन्होंने स्वर्गपर अधिकार प्राप्त कर लिया ।। २२½ ।।

ऋत्विजस्तमपर्यन्तं सुवर्णनिचयं तथा ।। २३ ।।
व्यभजन्त द्विजातिभ्यो यथोत्साहं यथासुखम् ।

उस अनन्त सुवर्णराशिको पाकर ऋत्विजोंने बड़े उत्साह और आनन्दके साथ उसे ब्राह्मणोंको बाँट दिया ।। २३½ ।।

यज्ञवाटे च यत् किंचिद् हिरण्यं सविभूषणम् ।। २४ ।।
तोरणानि च यूपांश्च घटान् पात्रीस्तथेष्टकाः ।
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद् व्यभजन् द्विजाः ।। २५ ।।

यज्ञशालामें भी जो कुछ सुवर्ण या सोनेके आभूषण, तोरण, यूप, घड़े, बर्तन और ईंटें थीं, उन सबको भी युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर ब्राह्मणोंने आपसमें बाँट लिया ।। २४-२५ ।।

अनन्तरं द्विजातिभ्यः क्षत्रिया जह्रिरे वसु ।
तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथान्ये म्लेच्छजातयः ।। २६ ।।

ब्राह्मणोंके लेनेके बाद जो धन वहाँ पड़ा रह गया, उसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा म्लेच्छ जातिके लोग उठा ले गये ।। २३ ।।

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् ।
तर्पिता वसुना तेन धर्मराजेन धीमता ।। २७ ।।

तदनन्तर सब ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक अपने घरोंको गये। बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने उन सबको उस धनके द्वारा पूर्णतः तृप्त कर दिया था ।। २७ ।।

स्वमंशं भगवान् व्यासः कुन्त्यै साक्षाद्धि मानतः ।
प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ।। २८ ।।

उस महान् सुवर्णराशिमेंसे महातेजस्वी भगवान् व्यासने जो अपना भाग प्राप्त किया था, उसे उन्होंने बड़े आदरके साथ कुन्तीको भेंट कर दिया ।। २८ ।।

श्वशुरात् प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतमानसा ।
चकार पुण्यकं तेन सुमहत् संघशः पृथा ।। २९ ।।

श्वशुरकी ओरसे प्रेमपूर्वक मिले हुए उस धनको पाकर कुन्तीदेवी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुईं और उसके द्वारा उन्होंने बड़े-बड़े सामूहिक पुण्य-कार्य किये ।। २९ ।।

गत्वा त्ववभृथं राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह ।
सभाज्यमानः शुशुभे महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ।। ३० ।।

यज्ञके अन्तमें अवभृथस्नान करके पापरहित हुए राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसे सम्मानित हो इस प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे देवताओंसे पूजित देवराज इन्द्र सुशोभित होते हैं ।। ३० ।।

पाण्डवाश्च महीपालैः समेतैरभिसंवृताः ।
अशोभन्त महाराज ग्रहास्तारागणैरिव ।। ३१ ।।

महाराज! वहाँ आये हुए समस्त भूपालोंसे घिरे हुए पाण्डवलोग ऐसी शोभा पा रहे थे, मानो तारोंसे घिरे हुए ग्रह सुशोभित हों ।। ३१ ।।

राजभ्योऽपि ततः प्रादाद् रत्नानि विविधानि च ।
गजानश्वानलंकारान् स्त्रियो वासांसि काञ्चनम् ।। ३२ ।।

तदनन्तर पाण्डवोंने यज्ञमें आये हुए राजाओंको भी तरह-तरहके रत्न, हाथी, घोड़े, आभूषण, स्त्रियाँ, वस्त्र और सुवर्ण भेंट किये ।। ३२ ।।

तद् धनौघमपर्यन्तं पार्थः पार्थिवमण्डले ।
विसृजन् शुशुभे राजन् यथा वैश्रवणस्तथा ।। ३३ ।।

राजन्! उस अनन्त धनराशिको भूपालमण्डलमें बाँटते हुए कुन्तीकुमार युधिष्ठिर कुबेरके समान शोभा पाते थे ।। ३३ ।।

आनीय च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान् प्रास्थापयत् तदा ।। ३४ ।।

तत्पश्चात् वीर राजा बभ्रुवाहनको अपने पास बुलाकर राजाने उसे बहुत-सा धन देकर विदा किया ।। ३४ ।।

दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं भरतर्षभ ।
स्वराज्येऽथ पितुर्धीमान् स्वसुः प्रीत्या न्यवेशयत् ।। ३५ ।।

भरतश्रेष्ठ! अपनी बहिन दुःशलाकी प्रसन्नताके लिये बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उसके बालक पौत्रको पिताके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ।। ३५ ।।

नृपतींश्चैव तान् सर्वान् सुविभक्तान् सुपूजितान् ।
प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ।। ३६ ।।

जितेन्द्रिय कुरुराज युधिष्ठिरने सब राजाओंको अच्छी तरह धन दिया और उनका विशेष सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया ।। ३६ ।।

गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलम् ।
तथान्यान् वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नाद्यान् सहस्रशः ।। ३७ ।।
पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा प्रास्थापयदरिंदमः ।। ३८ ।।

महाराज! इसके बाद महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण, महाबली बलदेव तथा प्रद्युम्न आदि अन्यान्य सहस्रों वृष्णिवीरोंकी विधिवत् पूजा करके भाइयोंसहित शत्रुदमन महातेजस्वी राजा युधिष्ठिरने उन सबको विदा किया ।। ३७-३८ ।।

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः ।। ३९ ।।

सर्पिःपङ्का ह्रदा यत्र बभूवुश्चान्नपर्वताः ।
रसालाकर्दमा नद्यो बभूवुर्भरतर्षभ ।। ४० ।।

इस प्रकार बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरका वह यज्ञ पूर्ण हुआ। उसमें अन्न, धन और रत्नोंके ढेर लगे हुए थे। देवताओंके मनमें अतिशय कामना उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंका सागर लहराता था। कितने ही ऐसे तालाब थे, जिनमें घीकी कीचड़ जमी हुई थी और अन्नके तो पहाड़ ही खड़े थे। भरतभूषण! रससे भरी कीचड़रहित नदियाँ बहती थीं ।। ३९-४० ।।
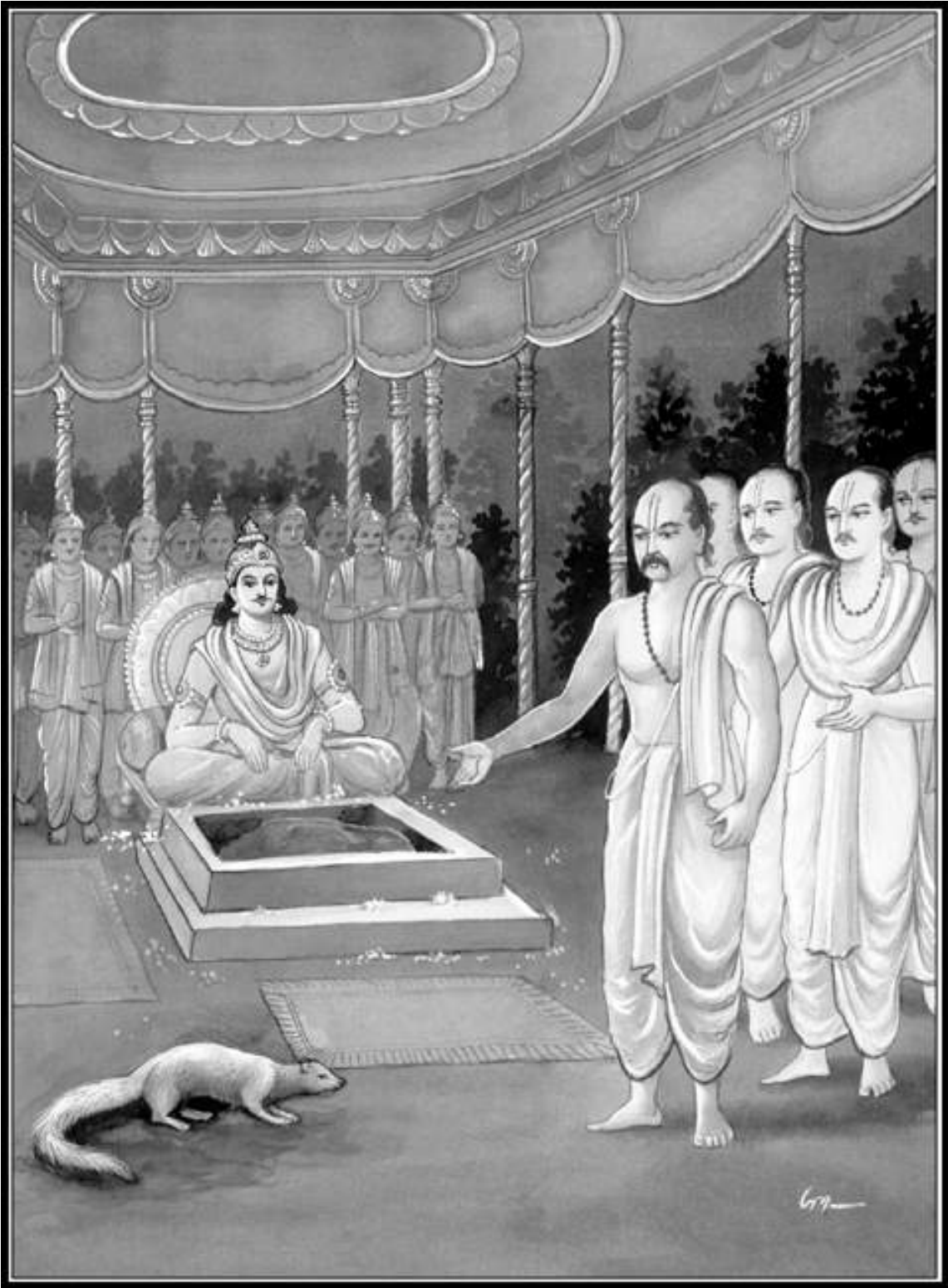
महाराज युधिष्ठिरके अश्वमेधयज्ञमें एक नेवलेका आगमन

भक्ष्यखाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतां तथा ।
पशूनां बध्यतां चैव नान्तं ददृशिरे जनाः ।। ४१ ।।

(पीपल और सोंठ मिलाकर जो मूँगका जूस तैयार किया जाता है, उसे 'खाण्डव' कहते हैं। उसीमें शक्कर मिला हुआ हो तो वह 'खाण्डवराग' कहा जाता है।) भक्ष्य-भोज्य पदार्थ और खाण्डवराग कितनी मात्रामें बनाये और खाये जाते हैं तथा कितने पशु वहाँ बाँधे हुए थे, इसकी कोई सीमा वहाँके लोगोंको नहीं दिखायी देती थी ।। ४१ ।।

मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवतीजनम् ।
मृदङ्गशङ्खनादैश्च मनोरममभूत् तदा ।। ४२ ।।

उस यज्ञके भीतर आये हुए सब लोग मत्त-प्रमत्त और आनन्द विभोर हो रहे थे। युवतियाँ बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ विचरण करती थीं। मृदंगों और शंखोंकी ध्वनियोंसे उस यज्ञशालाकी मनोरमता और भी बढ़ गयी थी ।। ४२ ।।

दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम् ।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ।। ४३ ।।
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः ।

'जिसकी जैसी इच्छा हो, उसको वही वस्तु दी जाय। सबको इच्छानुसार भोजन कराया जाय'—यह घोषणा दिन-रात जारी रहती थी—कभी बंद नहीं होती थी। हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञ-महोत्सवकी चर्चा नाना देशोंके निवासी मनुष्य बहुत दिनोंतक करते रहे ।। ४३½ ।।

वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा ।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम् ।। ४४ ।।

भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस यज्ञमें धनकी मूसलाधार वर्षा की। सब प्रकारकी कामनाओं, रत्नों और रसोंकी भी वर्षा की। इस प्रकार पापरहित और कृतार्थ होकर उन्होंने अपने नगरमें प्रवेश किया ।। ४४ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधसमाप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ।। ८९ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें अश्वमेधकी समाप्तिविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ८९ ।।

नवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें एक नेवलेका उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके द्वारा किये गये सेरभर सत्तूदानकी महिमा उस अश्वमेधयज्ञसे भी बढ़कर बतलाना

जनमेजय उवाच

पितामहस्य मे यज्ञे धर्मराजस्य धीमतः ।
यदाश्चर्यमभूत् किंचित् तद् भवान् वक्तुमर्हति ।। १ ।।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे प्रपितामह बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरके यज्ञमें यदि कोई आश्चर्यजनक घटना हुई हो तो आप उसे बतानेकी कृपा करें ।। १ ।।

वैशम्पायन उवाच

श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूत् प्रभो ।। २ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ! प्रभो! युधिष्ठिरका वह महान् अश्वमेध-यज्ञ जब पूरा हुआ, उसी समय एक बड़ी उत्तम किंतु महान् आश्चर्यमें डालनेवाली घटना घटित हुई, उसे बतलाता हूँ; सुनो ।। २ ।।

तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु ।
दीनान्धकृपणे वापि तदा भरतसत्तम ।। ३ ।।
घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत ।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ।। ४ ।।
नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ ।
वज्राशनिसमं नादममुञ्चद् वसुधाधिप ।। ५ ।।

भरतश्रेष्ठ! भारत! उस यज्ञमें श्रेष्ठ ब्राह्मणों, जातिवालों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों, अन्धों तथा दीन-दरिद्रोंके तृप्त हो जानेपर जब युधिष्ठिरके महान् दानका चारों ओर शोर हो गया और धर्मराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा होने लगी उसी समय वहाँ एक नेवला आया। अनघ! उसकी आँखें नीली थीं और उसके शरीरके एक ओरका भाग सोनेका था। पृथ्वीनाथ! उसने आते ही एक बार वज्रके समान भयंकर गर्जना की ।। ३—५ ।।

सकृदुत्सृज्य तन्नादं त्रासयानो मृगद्विजान् ।
मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ।। ६ ।।

बिलनिवासी उस धृष्ट एवं महान् नेवलेने एक बार वैसी गर्जना करके समस्त मृगों और पक्षियोंको भयभीत कर दिया और फिर मनुष्यकी भाषामें कहा— ।। ६ ।।

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ।। ७ ।।

‘राजाओ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्रनिवासी एक उञ्छवृत्तिधारी उदार ब्राह्मणके सेरभर सत्तू दान करनेके बराबर भी नहीं हुआ है’ ।। ७ ।।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते ।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ।। ८ ।।

प्रजानाथ! नेवलेकी वह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ।। ८ ।।

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः ।
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ।। ९ ।।

तब वे सब ब्राह्मण उस नेवलेके पास जाकर उसे चारों ओरसे घेरकर पूछने लगे—‘नकुल! इस यज्ञमें तो साधु पुरुषोंका ही समागम हुआ है, तुम कहाँसे आ गये?’ ।। ९ ।।

किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम् ।
कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ।। १० ।।

'तुममें कौन-सा बल और कितना शास्त्रज्ञान है? तुम किसके सहारे रहते हो? हमें किस तरह तुम्हारा परिचय प्राप्त होगा? तुम कौन हो, जो हमारे इस यज्ञकी निन्दा करते हो? ।। १० ।।

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम् ।
यथागमं यथान्यायं कर्तव्यं च तथा कृतम् ।। ११ ।।

'हमने नाना प्रकारकी यज्ञ-सामग्री एकत्रित करके शास्त्रीय विधिकी अवहेलना न करते हुए इस यज्ञको पूर्ण किया है। इसमें शास्त्रसंगत और न्याययुक्त प्रत्येक कर्तव्य-कर्मका यथोचित पालन किया गया है ।। ११ ।।

पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रदर्शनात् ।
मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ।। १२ ।।

'इसमें शास्त्रीय दृष्टिसे पूजनीय पुरुषोंकी विधिवत् पूजा की गयी है। अग्निमें मन्त्र पढ़कर आहुति दी गयी है और देनेयोग्य वस्तुओंका ईर्ष्यारहित होकर दान किया गया है ।। १२ ।।

तुष्टा द्विजातयश्चात्र दानैर्बहुविधैरपि ।
क्षत्रियाश्च सुयुद्धेन श्राद्धैश्चापि पितामहाः ।। १३ ।।
पालनेन विशस्तुष्टाः कामैस्तुष्टा वरस्त्रियः ।
अनुक्रोशैस्तथा शूद्रा दानशेषैः पृथग्जनाः ।। १४ ।।
ज्ञातिसम्बन्धिनस्तुष्टाः शौचेन च तृपस्य नः ।
देवा हविर्भिः पुण्यैश्च रक्षणैः शरणागताः ।। १५ ।।

'यहाँ नाना प्रकारके दानोंसे ब्राह्मणोंको, उत्तम युद्धके द्वारा क्षत्रियोंको, श्राद्धके द्वारा पितामहोंको, रक्षाके द्वारा वैश्योंको, सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करके उत्तम स्त्रियोंको, दयासे शूद्रोंको, दानसे बची हुई वस्तुएँ देकर अन्य मनुष्योंको तथा राजाके शुद्ध बर्तावसे ज्ञाति एवं सम्बन्धियोंको संतुष्ट किया गया है। इसी प्रकार पवित्र हविष्यके द्वारा देवताओंको और रक्षाका भार लेकर शरणागतोंको प्रसन्न किया गया है ।। १३—१५ ।।

यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया ।। १६ ।।
श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यं रूपं बिभर्षि च ।
समागतश्च विप्रैस्त्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ।। १७ ।।

'यह सब होनेपर भी तुमने क्या देखा या सुना है, जिससे इस यज्ञपर आक्षेप करते हो? इन ब्राह्मणोंके निकट इनके इच्छानुसार पूछे जानेपर तुम सच-सच बताओ; क्योंकि तुम्हारी बातें विश्वासके योग्य जान पड़ती हैं। तुम स्वयं भी बुद्धिमान् दिखायी देते और दिव्यरूप धारण किये हुए हो। इस समय तुम्हारा ब्राह्मणोंके साथ समागम हुआ है, इसलिये तुम्हें हमारे प्रश्नका उत्तर अवश्य देना चाहिये' ।। १६-१७ ।।

इति पृष्टो द्विजैस्तैः स प्रहसन् नकुलोऽब्रवीत् ।
नैषा मृषा मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः ।। १८ ।।

उन ब्राह्मणोंके इस प्रकार पूछनेपर नेवलेने हँसकर कहा—'विप्रवृन्द! मैंने आपलोगोंसे मिथ्या अथवा घमंडमें आकर कोई बात नहीं कही है ।। १८ ।।

यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम् ।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः ।। १९ ।।

'मैंने जो कहा है कि 'द्विजवरो! आपलोगोंका यह यज्ञ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणोंके द्वारा किये हुए सेरभर सत्तूदानके बराबर भी नहीं है' इसे आपने ठीक-ठीक सुना है ।। १९ ।।

इत्यवश्यं मयैतद् वो वक्तव्यं द्विजसत्तमाः ।
शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे यथातथम् ।। २० ।।

'श्रेष्ठ ब्राह्मणो! इसका कारण अवश्य आपलोगोंको बताने योग्य है। अब मैं यथार्थरूपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे आप लोग शान्तचित्त होकर सुनें ।। २० ।।

अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाद्भुतमुत्तमम् ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ।। २१ ।।

'कुरुक्षेत्रनिवासी उञ्छवृत्तिधारी दानी ब्राह्मणके सम्बन्धमें मैंने जो कुछ देखा और अनुभव किया है, वह बड़ा ही उत्तम एवं अद्भुत है' ।। २१ ।।

स्वर्गं येन द्विजाः प्राप्तः सभार्यः ससुतस्नुषः ।
यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ।। २२ ।।

'ब्राह्मणो! उस दानके प्रभावसे पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूसहित उन द्विजश्रेष्ठने जिस प्रकार स्वर्गलोकपर अधिकार पा लिया और वहाँ जिस तरह उन्होंने मेरा यह आधा शरीर सुवर्णमय कर दिया, वह प्रसंग बता रहा हूँ' ।। २२ ।।

नकुल उवाच

हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम् ।
न्यायलब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद् द्विजाः ।। २३ ।।

नकुल बोला—ब्राह्मणो! कुरुक्षेत्रनिवासी द्विजके द्वारा दिये गये न्यायोपार्जित थोड़े-से अन्नके दानका जो उत्तम फल देखनेमें आया है, उसे मैं आपलोगोंको बतलाता हूँ ।। २३ ।।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ।
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित् कापोतिरभवत् तदा ।। २४ ।।

कुछ दिनों पहलेकी बात है, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें, जहाँ बहुत-से धर्मज्ञ महात्मा रहा करते हैं, कोई ब्राह्मण रहते थे। वे उञ्छवृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। कबूतरके समान अन्नका दाना चुनकर लाते और उसीसे कुटुम्बका पालन करते थे ।। २४ ।।

सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ।

बभूव शुक्लवृत्तः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ।। २५ ।।

वे अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके साथ रहकर तपस्यामें संलग्न थे। ब्राह्मणदेवता शुद्ध आचार-विचारसे रहनेवाले धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे ।। २५ ।।

षष्ठे काले सदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ।
षष्ठे काले कदाचित् तु तस्याहारो न विद्यते ।। २६ ।।
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन् कदाचित् स षष्ठे काले द्विजोत्तमः ।

वे उत्तम व्रतधारी द्विज सदा छठे कालमें अर्थात् तीन-तीन दिनपर ही स्त्री-पुत्र आदिके साथ भोजन किया करते थे। यदि किसी दिन उस समय भोजन न मिला तो दूसरा छठा काल आनेपर ही वे द्विजश्रेष्ठ अन्न ग्रहण करते थे ।। २६½ ।।

कदाचिद् धर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ।। २७ ।।
नाविद्यत तदा विप्राः संचयस्तन्निबोधत ।
क्षीणौषधिसमावेशे द्रव्यहीनोऽभवत् तदा ।। २८ ।।

ब्राह्मणो! सुनो। एक समय वहाँ बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। उन दिनों उन धर्मात्मा ब्राह्मणके पास अन्नका संग्रह तो था नहीं, खेतोंका अन्न भी सूख गया था। अतः वे सर्वथा निर्धन हो गये थे ।। २७-२८ ।।

काले कालेऽस्य सम्प्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् ।
क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ।। २९ ।।
उञ्छं तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे ।

बारंबार छठा काल आता; किंतु उन्हें भोजन नहीं मिलता था। अतः वे सब-के-सब भूखे ही रह जाते थे। एक दिन ज्येष्ठके शुक्लपक्षमें दोपहरीके समय उस परिवारके सब लोग उञ्छ लानेके लिये चले ।। २९½ ।।

उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च विप्रस्तपसि संस्थितः ।। ३० ।।
उञ्छमप्राप्तवानेव ब्राह्मणः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
स तथैव क्षुधाविष्टः सार्धं परिजनेन ह ।। ३१ ।।
क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रप्राणो द्विजोत्तमः ।

तपस्यामें लगे हुए वे ब्राह्मणदेवता गर्मी और भूख दोनोंसे कष्ट पा रहे थे। भूख और परिश्रमसे पीड़ित होनेपर भी वे उञ्छ न पा सके। उन्हें अन्नका एक दाना भी नहीं मिला; अतः परिवारके सभी लोगोंके साथ उसी तरह भूखसे पीड़ित रहकर ही उन्होंने वह समय काटा। वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बड़े कष्टसे अपने प्राणोंकी रक्षा करते थे ।। ३०-३१½ ।।

अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयन् ।। ३२ ।।
यवप्रस्थं तु तं सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः ।
कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वा चाग्निं यथाविधि ।। ३३ ।।
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ।

तदनन्तर एक दिन पुनः छठा काल आनेतक उन्होंने सेरभर जौका उपार्जन किया। उन तपस्वी ब्राह्मणोंने उस जौका सत्तू तैयार किया और जप तथा नैत्यिक नियम पूर्ण करके अग्निमें विधिपूर्वक आहुति देनेके पश्चात् वे सब लोग एक-एक कुडव अर्थात् एक-एक पाव सत्तू बाँटकर खानेके लिये उद्यत हुए ।। ३२-३३½ ।।

अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ।। ३४ ।।
ते तं दृष्ट्वातिथिं प्राप्तं प्रहृष्टमनसोऽभन् ।
तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं पृष्ट्वा तमतिथिं तदा ।। ३५ ।।

वे भोजनके लिये अभी बैठे ही थे कि कोई ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आ पहुँचा। उस अतिथिको आया देख वे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। उस अतिथिको प्रणाम करके उन्होंने उससे कुशल-मंगल पूछा ।। ३४-३५ ।।

विशुद्धमनसो दान्ताः श्रद्धादमसमन्विताः ।
अनसूयवो विक्रोधाः साधवो वीतमत्सराः ।। ३६ ।।
त्यक्तमानमदक्रोधा धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः ।
स ब्रह्मचर्यं गोत्रं ते तस्य ख्यात्वा परस्परम् ।। ३७ ।।
कुटीं प्रवेशयामासुः क्षुधार्तमतिथिं तदा ।

ब्राह्मण-परिवारके सब लोग विशुद्धचित्त, जितेन्द्रिय, श्रद्धालु, मनको वशमें रखनेवाले, दोषदृष्टिसे रहित, क्रोधहीन, सज्जन, ईर्ष्यारहित और धर्मज्ञ थे। उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने अभिमान, मद और क्रोधको सर्वथा त्याग दिया था। क्षुधासे कष्ट पाते हुए उस अतिथि ब्राह्मणको अपने ब्रह्मचर्य और गोत्रका परस्पर परिचय देते हुए वे कुटीमें ले गये ।। ३६-३७½ ।।

इदमर्घ्यं च पाद्यं च बृसी चेयं तवानघ ।। ३८ ।।
शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्ता द्विजर्षभ ।। ३९ ।।

तत्पश्चात् वहाँ उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने कहा—'भगवन्! अनघ! आपके लिये ये अर्घ्य, पाद्य और आसन मौजूद हैं तथा न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए ये परम पवित्र सत्तू आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं। द्विजश्रेष्ठ! मैंने प्रसन्नतापूर्वक इन्हें आपको अर्पण किया है। आप स्वीकार करें' ।। ३८-३९ ।।

इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः ।
भक्षयामास राजेन्द्र न च तुष्टिं जगाम सः ।। ४० ।।

राजेन्द्र! ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर अतिथिने एक पाव सत्तू लेकर खा लिया; परंतु उतनेसे वह तृप्त नहीं हुआ ।। ४० ।।

स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम् ।
आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ।। ४१ ।।

उस उञ्छवृत्तिवाले द्विजने देखा कि ब्राह्मण अतिथि तो अब भी भूखे ही रह गये हैं। तब वे उसके लिये आहारका चिन्तन करने लगे कि यह ब्राह्मण कैसे संतुष्ट हो? ।। ४१ ।।

तस्य भार्याब्रवीद् वाक्यं मद्भागो दीयतामिति ।
गच्छत्वेष यथाकामं परितुष्टो द्विजोत्तमः ।। ४२ ।।

तब ब्राह्मणकी पत्नीने कहा—'नाथ! यह मेरा भाग इन्हें दे दीजिये, जिससे ये ब्राह्मणदेवता इच्छानुसार तृप्तिलाभ करके यहाँसे पधारें' ।। ४२ ।।

इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं भार्यां स द्विजसत्तमः ।
क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा तान् सक्तून् नाभ्यनन्दत ।। ४३ ।।

अपनी पतिव्रता पत्नीकी यह बात सुनकर उन द्विजश्रेष्ठने उसे भूखी जानकर उसके दिये हुए सत्तूको लेनेकी इच्छा नहीं की ।। ४३ ।।

आत्मानुमानतो विद्वान् स तु विप्रर्षभस्तदा ।
जानन् वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम् ।। ४४ ।।
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ह ।

उन विद्वान् ब्राह्मणशिरोमणिने अपने ही अनुमानसे यह जान लिया कि यह मेरी वृद्धा स्त्री स्वयं भी क्षुधासे कष्ट पा रही है, थकी है और अत्यन्त दुर्बल हो गयी है। इस तपस्विनीके शरीरमें चमड़ेसे ढकी हुई हड्डियोंका ढाँचामात्र रह गया है और यह काँप रही है। उसकी अवस्थापर दृष्टिपात करके उन्होंने पत्नीसे कहा— ।। ४४½ ।।

अपि कीटपतङ्गानां मृगाणां चैव शोभने ।। ४५ ।।
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हसि ।

'शोभने! अपनी स्त्रीकी रक्षा और पालन-पोषण करना कीट-पतंग और पशुओंका भी कर्तव्य है; अतः तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ।। ४५½ ।।

अनुकम्प्यो नरः पत्न्या पुष्टो रक्षित एव च ।। ४६ ।।

'जो पुरुष होकर भी स्त्रीके द्वारा अपना पालन-पोषण और संरक्षण करता है, वह मनुष्य दयाका पात्र है ।। ४६ ।।

प्रपतेद् यशसो दीप्तात् स च लोकान् न चाप्नुयात् ।
धर्मकामार्थकार्याणि शुश्रूषा कुलसंततिः ।। ४७ ।।
दारेष्वधीनो धर्मश्च पितॄणामात्मनस्तथा ।

'वह उज्ज्वल कीर्तिसे भ्रष्ट हो जाता है और उसे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति नहीं होती। धर्म, काम और अर्थ-सम्बन्धी कार्य, सेवा-शुश्रूषा तथा वंशपरम्पराकी रक्षा—ये सब स्त्रीके ही अधीन हैं। पितरोंका तथा अपना धर्म भी पत्नीके ही आश्रित है ।। ४७½ ।।

न वेत्ति कर्मतो भार्यारक्षणे योऽक्षमः पुमान् ।। ४८ ।।
अयशो महदाप्नोति नरकांश्चैव गच्छति ।

'जो पुरुष स्त्रीकी रक्षा करना अपना कर्तव्य नहीं मानता अथवा जो स्त्रीकी रक्षा करनेमें असमर्थ है, वह संसारमें महान् अपयशका भागी होता है और परलोकमें जानेपर उसे नरकोंमें गिरना पड़ता है' ।। ४८½ ।।

इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज ।। ४९ ।।
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे ।

पतिके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणी बोली—'ब्रह्मन्! हम दोनोंके धर्म और अर्थ समान हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों और मेरे हिस्सेका यह पावभर सत्तू ले लें (और लेकर इसे अतिथिको दे दें) ।। ४९½ ।।

सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च गुणनिर्जितः ।। ५० ।।
स्त्रीणां पतिसमाधीनं कांक्षितं च द्विजर्षभ ।

'द्विजश्रेष्ठ! स्त्रियोंका सत्य, धर्म, रति, अपने गुणोंसे मिला हुआ स्वर्ग तथा उनकी सारी अभिलाषा पतिके ही अधीन है ।। ५०½ ।।

ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः ।। ५१ ।।
भर्तुः प्रसादान्नारीणां रतिपुत्रफलं तथा ।

'माताका रज और पिताका वीर्य—इन दोनोंके मिलनेसे ही वंशपरम्परा चलती है। स्त्रीके लिये पति ही सबसे बड़ा देवता है। नारियोंको जो रति और पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होती है, वह पतिका ही प्रसाद है ।। ५१½ ।।

पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि भरणाच्च मे ।। ५२ ।।
पुत्रप्रदानाद् वरदस्तस्मात् सक्तून् प्रयच्छ मे ।

आप पालन करनेके कारण मेरे पति, भरण-पोषण करनेसे भर्ता और पुत्र प्रदान करनेके कारण वरदाता हैं, इसलिये मेरे हिस्सेका सत्तू अतिथिदेवताको अर्पण कीजिये ।। ५२½ ।।

जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्तो दुर्बलो भृशम् ।। ५३ ।।
उपवासपरिश्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः ।

'आप भी तो जराजीर्ण, वृद्ध, क्षुधातुर, अत्यन्त दुर्बल, उपवाससे थके हुए और क्षीणकाय हो रहे हैं। (फिर आप जिस तरह भूखका कष्ट सहन करते हैं, उसी प्रकार मैं भी सह लूँगी)' ।। ५३½ ।।

इत्युक्तः स तया सक्तून् प्रगृह्योदं वचोऽब्रवीत् ।। ५४ ।।
द्विज सक्तूनिमान् भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम ।

पत्नीके ऐसा कहनेपर ब्राह्मणने सत्तू लेकर अतिथिसे कहा—'साधुपुरुषोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण! आप यह सत्तू भी पुनः ग्रहण कीजिये' ।। ५४½ ।।

स तान् प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद् द्विजः ।

तमुञ्छवृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ।। ५५ ।।

अतिथि ब्राह्मण उस सत्तूको भी लेकर खा गया; किंतु संतुष्ट नहीं हुआ। यह देखकर उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई ।। ५५ ।।

पुत्र उवाच

सक्तूनिमान् प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम ।
इत्येव सुकृतं मन्ये तस्मादेतत् करोम्यहम् ।। ५६ ।।

तब उनके पुत्रने कहा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पिताजी! आप मेरे हिस्सेका यह सत्तू लेकर ब्राह्मणको दे दीजिये। मैं इसीमें पुण्य मानता हूँ, इसलिये ऐसा कर रहा हूँ ।। ५६ ।।

भवान् हि परिपाल्यो मे सर्वदैव प्रयत्नतः ।
साधूनां काङ्क्षितं यस्मात् पितुर्वृद्धस्य पालनम् ।। ५७ ।।

मुझे सदा यत्नपूर्वक आपका पालन करना चाहिये; क्योंकि साधु पुरुष सदा इस बातकी अभिलाषा रखते हैं कि मैं अपने बूढ़े पिताका पालन-पोषण करूँ ।। ५७ ।।

पुत्रार्थो विहितो ह्येष वार्धके परिपालनम् ।
श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे त्रिषु लोकेषु शाश्वती ।। ५८ ।।

पुत्र होनेका यही फल है कि वह वृद्धावस्थामें पिताकी रक्षा करे। ब्रह्मर्षे! तीनों लोकोंमें यह सनातन श्रुति प्रसिद्ध है ।। ५८ ।।

प्राणधारणमात्रेण शक्यं कर्तुं तपस्त्वया ।
प्राणो हि परमो धर्मः स्थितो देहेषु देहिनाम् ।। ५९ ।।

प्राणधारणमात्रसे आप तप कर सकते हैं। देहधारियोंके शरीरोंमें स्थित हुआ प्राण ही परम धर्म है ।। ५९ ।।

पितोवाच

अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव मतो मम ।
उत्पाद्य पुत्रं हि पिता कृतकृत्यो भवेत् सुतात् ।। ६० ।।

पिताने कहा—बेटा! तुम हजार वर्षके हो जाओ तो भी हमारे लिये बालक ही हो। पिता पुत्रको जन्म देकर ही उससे अपनेको कृतकृत्य मानता है ।। ६० ।।

बालानां क्षुद् बलवती जानाम्येतदहं प्रभो ।
वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ।। ६१ ।।

सामर्थ्यशाली पुत्र! मैं इस बातको अच्छी तरह जानता हूँ कि बच्चोंकी भूख बड़ी प्रबल होती है। मैं तो बूढ़ा हूँ। भूखे रहकर भी प्राण धारण कर सकता हूँ। तुम यह सत्तू खाकर बलवान् होओ—अपने प्राणोंकी रक्षा करो ।। ६१ ।।

जीर्णेन वयसा पुत्र न मां क्षुद् बाधतेऽपि च ।
दीर्घकालं तपस्तप्तं न मे मरणतो भयम् ।। ६२ ।।

बेटा! जीर्ण अवस्था हो जानेके कारण मुझे भूख अधिक कष्ट नहीं देती है। इसके सिवा मैं दीर्घकालतक तपस्या कर चुका हूँ; इसलिये अब मुझे मरनेका भय नहीं है ।। ६२ ।।

पुत्र उवाच

अपत्यमस्मि ते पुंसस्त्राणात् पुत्र इति स्मृतः ।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात् त्राह्यात्मानमिहात्मना ।। ६३ ।।

पुत्र बोला—तात! मैं आपका पुत्र हूँ, पुरुषका त्राण करनेके कारण ही संतानको पुत्र कहा गया है। इसके सिवा पुत्र पिताका अपना ही आत्मा माना गया है; अतः आप अपने आत्मभूत पुत्रके द्वारा अपनी रक्षा कीजिये ।। ६३ ।।

पितोवाच

रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च दमेन च ।
परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनाददिम ते सुत ।। ६४ ।।

पिताने कहा—बेटा! तुम रूप, शील (सदाचार और सद्भाव) तथा इन्द्रियसंयमके द्वारा मेरे ही समान हो। तुम्हारे इन गुणोंकी मैंने अनेक बार परीक्षा कर ली है, अतः मैं

तुम्हारा सत्तू लेता हूँ ।। ६४ ।।

इत्युक्त्वाऽऽदाय तान् सक्तून् प्रीतात्मा द्विजसत्तमः ।
प्रहसन्निव विप्राय स तस्मै प्रददौ तदा ।। ६५ ।।

यों कहकर श्रेष्ठ ब्राह्मणने प्रसन्नतापूर्वक वह सत्तू ले लिया और हँसते हुए-से उस ब्राह्मण अतिथिको परोस दिया ।। ६५ ।।

भुक्त्वा तानपि सक्तून् स नैव तुष्टो बभूव ह ।
उञ्छवृत्तिस्तु धर्मात्मा व्रीडामनुजगाम ह ।। ६६ ।।

वह सत्तू खाकर भी ब्राह्मण देवताका पेट न भरा। यह देखकर उञ्छवृत्तिधारी धर्मात्मा ब्राह्मण बड़े संकोचमें पड़ गये ।। ६६ ।।

तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
सक्तूनादाय संहृष्टा श्वशुरं वाक्यमब्रवीत् ।। ६७ ।।

उनकी पुत्रवधू भी बड़ी सुशीला थी। वह ब्राह्मणका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके पास जा बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने उन श्वशुरदेवसे बोली— ।। ६७ ।।

संतानात् तव संतानं मम विप्र भविष्यति ।
सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा सम्प्रयच्छ मे ।। ६८ ।।

'विप्रवर! आपकी संतानसे मुझे संतान प्राप्त होगी; अतः आप मेरे परम पूज्य हैं। मेरे हिस्सेका यह सत्तू लेकर आप अतिथि देवताको अर्पित कीजिये ।। ६८ ।।

तव प्रसादान्निर्वृत्ता मम लोकाः किलाक्षयाः ।
पुत्रेण तानवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ।। ६९ ।।

'आपकी कृपासे मुझे अक्षय लोक प्राप्त हो गये। पुत्रके द्वारा मनुष्य उन लोकोंमें जाते हैं, जहाँ जाकर वह कभी शोकमें नहीं पड़ता ।। ६९ ।।

धर्माद्या हि यथा त्रेता वह्नित्रेता तथैव च ।
तथैव पुत्रपौत्राणां स्वर्गस्त्रेता किलाक्षयः ।। ७० ।।

'जैसे धर्म तथा उससे संयुक्त अर्थ और काम—ये तीनों स्वर्गके प्राप्ति करानेवाले हैं तथा जैसे आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—ये तीनों स्वर्गके साधन हैं, उसी प्रकार पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र—ये त्रिविध संतानें अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाली हैं ।। ७० ।।

पितॄन् ऋणात् तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम ।
पुत्रपौत्रैश्च नियतं साधुलोकानुपाश्नुते ।। ७१ ।।

'हमने सुना है कि पुत्र पिताको पितृ-ऋणसे छुटकारा दिला देता है। पुत्रों और पौत्रोंके द्वारा मनुष्य निश्चय ही श्रेष्ठ लोकोंमें जाते हैं' ।। ७१ ।।

श्वशुर उवाच

वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै ।

कर्षितों सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ।। ७२ ।।
कथं सक्तून् ग्रहीष्यामि भूत्वा धर्मोपघातकः ।
कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ।। ७३ ।।

श्वशुरने कहा—बेटी! हवा और धूपके मारे तुम्हारा सारा शरीर सूख रहा है—शिथिल होता जा रहा है। तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। उत्तम व्रत और आचारका पालन करनेवाली पुत्री! तुम बहुत दुर्बल हो गयी हो। क्षुधाके कष्टसे तुम्हारा चित्त अत्यन्त व्याकुल है। तुम्हें ऐसी अवस्थामें देखकर भी तुम्हारे हिस्सेका सत्तू कैसे ले लूँ। ऐसा करनेसे तो मैं धर्मकी हानि करनेवाला हो जाऊँगा। अतः कल्याणमय आचरण करनेवाली कल्याणि! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ।। ७२-७३ ।।

षष्ठे काले व्रतवतीं शौचशीलतपोऽन्विताम् ।
कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं शुभे ।। ७४ ।।

तुम प्रतिदिन शौच, सदाचार और तपस्यामें संलग्न रहकर छठे कालमें भोजन करनेका व्रत लिये हुए हो। शुभे! बड़ी कठिनाईसे तुम्हारी जीविका चलती है। आज सत्तू लेकर तुम्हें निराहार कैसे देख सकूँगा ।। ७४ ।।

बाला क्षुधार्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया ।
उपवासपरिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनी ।। ७५ ।।

एक तो तुम अभी बालिका हो, दूसरे भूखसे पीड़ित हो रही हो, तीसरे नारी हो और चौथे उपवास करते-करते अत्यन्त दुबली हो गयी हो; अतः मुझे सदा तुम्हारी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि तुम अपनी सेवाओंद्वारा बान्धवजनोंको आनन्दित करनेवाली हो ।। ७५ ।।

स्नुषोवाच

गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् ।
देवातिदेवस्तस्मात् त्वं सक्तूनादत्स्व मे प्रभो ।। ७६ ।।

पुत्रवधू बोली—भगवन्! आप मेरे गुरुके भी गुरु, देवताओंके भी देवता और सामान्य देवताकी अपेक्षा भी अतिशय उत्कृष्ट देवता हैं, अतः मेरा दिया हुआ यह सत्तू स्वीकार कीजिये ।। ७६ ।।

देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।
तव विप्र प्रसादेन लोकान् प्राप्स्यामहे शुभान् ।। ७७ ।।

मेरा यह शरीर, प्राण और धर्म—सब कुछ बड़ोंकी सेवाके लिये ही है। विप्रवर! आपके प्रसादसे मुझे उत्तम लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है ।। ७७ ।।

अवेक्ष्या इति कृत्वाहं दृढभक्तेति वा द्विज ।
चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ।। ७८ ।।

अतः आप मुझे अपना दृढ़ भक्त, रक्षणीय और विचारणीय मानकर अतिथिको देनेके लिये यह सत्तू स्वीकार कीजिये ।। ७८ ।।

श्वशुर उवाच

अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे ।
या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ।। ७९ ।।
तस्मात् सक्तून् ग्रहीष्यामि वधु नार्हसि वञ्चनाम् ।
गणयित्वा महाभागे त्वां हि धर्मभृतां वरे ।। ८० ।।

श्वशुरने कहा—बेटी! तुम सती-साध्वी नारी हो और सदा ऐसे ही शील एवं सदाचारका पालन करनेसे तुम्हारी शोभा है। तुम धर्म तथा व्रतके आचरणमें संलग्न होकर सर्वदा गुरुजनोंकी सेवापर ही दृष्टि रखती हो; इसलिये बहू! मैं तुम्हें पुण्यसे वंचित न होने दूँगा। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाभागे! पुण्यात्माओंमें तुम्हारी गिनती करके मैं तुम्हारा दिया हुआ सत्तू अवश्य स्वीकार करूँगा ।। ७९-८० ।।

इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून् प्रादाद् द्विजातये ।
ततस्तुष्टोऽभवद् विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ।। ८१ ।।

ऐसा कहकर ब्राह्मणने उसके हिस्सेका भी सत्तू लेकर अतिथिको दे दिया। इससे वह ब्राह्मण उन उञ्छवृत्तिधारी साधु महात्मापर बहुत संतुष्ट हुआ ।। ८१ ।।

प्रीतात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम् ।
वाग्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ।। ८२ ।।

वास्तवमें उस श्रेष्ठ द्विजके रूपमें मानव-विग्रहधारी साक्षात् धर्म ही वहाँ उपस्थित थे। वे प्रवचनकुशल धर्म संतुष्टचित्त होकर उन उञ्छवृत्तिधारी श्रेष्ठ ब्राह्मणसे इस प्रकार बोले — ।। ८२ ।।

शुद्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन धर्मतः ।
यथाशक्ति विसृष्टेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
अहो दानं घुष्यते ते स्वर्गे स्वर्गनिवासिभिः ।। ८३ ।।

'द्विजश्रेष्ठ! तुमने अपनी शक्तिके अनुसार धर्मपूर्वक जो न्यायोपार्जित शुद्ध अन्नका दान दिया है, इससे तुम्हारे ऊपर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अहो! स्वर्गलोकमें निवास करनेवाले देवता भी वहाँ तुम्हारे दानकी घोषणा करते हैं ।। ८३ ।।

गगनात् पुष्पवर्षं च पश्येदं पतितं भुवि ।
सुरर्षिदेवगन्धर्वा ये च देवपुरःसराः ।। ८४ ।।
स्तुवन्तो देवदूताश्च स्थिता दानेन विस्मिताः ।

'देखो, आकाशसे भूतलपर यह फूलोंकी वर्षा हो रही है। देवर्षि, देवता, गन्धर्व तथा और भी जो देवताओंके अग्रणी पुरुष हैं, वे और देवदूतगण तुम्हारे दानसे विस्मित हो तुम्हारी स्तुति करते हुए खड़े हैं ।। ८४½ ।।

ब्रह्मर्षयो विमानस्था ब्रह्मलोकचराश्च ये ।। ८५ ।।
काङ्क्षन्ते दर्शनं तुभ्यं दिवं व्रज द्विजर्षभ ।

'द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मलोकमें विचरनेवाले जो ब्रह्मर्षिगण विमानोंमें रहते हैं, वे भी तुम्हारे दर्शनकी इच्छा रखते हैं; इसलिये तुम स्वर्गलोकमें चलो ।। ८५½ ।।

पितृलोकगताः सर्वे तारिताः पितरस्त्वया ।। ८६ ।।
अनागताश्च बहवः सुबहूनि युगान्युत ।

'तुमने पितृलोकमें गये हुए अपने समस्त पितरोंका उद्धार कर दिया। अनेक युगोंतक भविष्यमें होनेवाली जो संतानें हैं, वे भी तुम्हारे पुण्य-प्रतापसे तर जायँगी' ।। ८६½ ।।

ब्रह्मचर्येण दानेन यज्ञेन तपसा तथा ।। ८७ ।।
असंकरेण धर्मेण तस्माद् गच्छ दिवं द्विज ।

'अतः ब्रह्मन्! तुम अपने ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, तप तथा संकरतारहित धर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकमें चलो ।। ८७½ ।।

श्रद्धया परया यस्त्वं तपश्चरसि सुव्रत ।। ८८ ।।
तस्माद् देवाश्च दानेन प्रीता ब्राह्मणसत्तम ।

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणशिरोमणे! तुम उत्तम श्रद्धाके साथ तपस्या करते हो; इसलिये देवता तुम्हारे दानसे अत्यन्त संतुष्ट हैं ।। ८८½ ।।

सर्वमेतद्धि यस्मात् ते दत्तं शुद्धेन चेतसा ।। ८९ ।।
कृच्छ्रकाले ततः स्वर्गो विजितः कर्मणा त्वया ।

'इस प्राण-संकटके समय भी यह सब सत्तू तुमने शुद्ध हृदयसे दान किया है; इसलिये तुमने उस पुण्यकर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर ली है ।। ८९½ ।।

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति ।। ९० ।।
क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह ।
बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ।। ९१ ।।

'भूख मनुष्यकी बुद्धिको चौपट कर देती है। धार्मिक विचारको मिटा देती है। क्षुधासे ज्ञान लुप्त हो जानेके कारण मनुष्य धीरज खो देता है। जो भूखको जीत लेता है, वह निश्चय ही स्वर्गपर विजय पाता है ।। ९०-९१ ।।

यदा दानरुचिः स्याद् वै तदा धर्मो न सीदति ।
अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव च ।। ९२ ।।
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया ।

‘जब मनुष्यमें दानविषयक रुचि जाग्रत् होती है, तब उसके धर्मका ह्रास नहीं होता। तुमने पत्नीके प्रेम और पुत्रके स्नेहपर भी दृष्टिपात न करके धर्मको ही श्रेष्ठ माना है और उसके सामने भूख-प्यासको भी कुछ नहीं गिना है ।। ९२½ ।।

द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम् ।। ९३ ।।
कालः परतरो दानाच्छ्रद्धा चैव ततः परा ।
स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते ।। ९४ ।।

‘मनुष्यके लिये सबसे पहले न्यायपूर्वक धनकी प्राप्तिका उपाय जानना ही सूक्ष्म विषय है। उस धनको सत्पात्रकी सेवामें अर्पण करना उससे भी श्रेष्ठ है। साधारण समयमें दान देनेकी अपेक्षा उत्तम समयपर दान देना और भी अच्छा है; किंतु श्रद्धाका महत्त्व कालसे भी बढ़कर है। स्वर्गका दरवाजा अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य मोहवश उसे देख नहीं पाते हैं ।। ९३-९४ ।।

स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम् ।
तं तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।। ९५ ।।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्ति प्रदायिनः ।

‘उस स्वर्गद्वारकी जो अर्गला (किल्ली) है, वह लोभरूपी बीजसे बनी हुई है। वह द्वार रागके द्वारा गुप्त है, इसीलिये उसके भीतर प्रवेश करना बहुत ही कठिन है। जो लोग क्रोधको जीत चुके हैं, इन्द्रियोंको वशमें कर चुके हैं, वे यथाशक्ति दान देनेवाले तपस्वी ब्राह्मण ही उस द्वारको देख पाते हैं ।। ९५½ ।।

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ।। ९६ ।।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ।

‘श्रद्धापूर्वक दान देनेवाले मनुष्यमें यदि एक हजार देनेकी शक्ति हो तो वह सौका दान करे, सौ देनेकी शक्तिवाला दसका दान करे तथा जिसके पास कुछ न हो, वह यदि अपनी शक्तिके अनुसार जल ही दान कर दे तो इन सबका फल बराबर माना गया है ।। ९६½ ।।

रन्तिदेवो हि नृपतिरपः प्रादादकिंचनः ।। ९७ ।।
शुद्धेन मनसा विप्र नाकपृष्ठं ततो गतः ।

‘विप्रवर! कहते हैं, राजा रन्तिदेवके पास जब कुछ भी नहीं रह गया, तब उन्होंने शुद्ध हृदयसे केवल जलका दान किया था। इससे वे स्वर्गलोकमें गये थे ।। ९७½ ।।

न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः ।। ९८ ।।
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ।

‘तात! अन्यायपूर्वक प्राप्त हुए द्रव्यके द्वारा महान् फल देनेवाले बड़े-बड़े दान करनेसे धर्मको उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी न्यायोपार्जित थोड़े-से अन्नका भी श्रद्धापूर्वक दान करनेसे उन्हें प्रसन्नता होती है ।। ९८½ ।।

गोप्रदानसहस्राणि द्विजेभ्योऽदान्नृगो नृपः ।। ९९ ।।
एकां दत्त्वा स पारक्यां नरकं समपद्यत ।

‘राजा नृगने ब्राह्मणोंको हजारों गौएँ दान की थीं; किंतु एक ही गौ दूसरेकी दान कर दी, जिससे अन्यायतः प्राप्त द्रव्यका दान करनेके कारण उन्हें नरकमें जाना पड़ा ।। ९९१/२ ।।

आत्ममांसप्रदानेन शिबिरौशीनरो नृपः ।। १०० ।।
प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकान् मोदते दिवि सुव्रतः ।

‘उशीनरके पुत्र उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजा शिबि श्रद्धापूर्वक अपने शरीरका मांस देकर भी पुण्यात्माओंके लोकोंमें अर्थात् स्वर्गमें आनन्द भोगते हैं ।। १००१/२ ।।

विभवो न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम् ।। १०१ ।।
न यज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन संचितैः ।

‘विप्रवर! मनुष्योंके लिये धन ही पुण्यका हेतु नहीं है। साधु पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार सुगमतापूर्वक पुण्यका अर्जन कर लेते हैं। न्यायपूर्वक संचित किये हुए अन्नके दानसे जैसा उत्तम फल प्राप्त होता है, वैसा नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करनेसे भी नहीं सुलभ होता ।। १०११/२ ।।

क्रोधाद् दानफलं हन्ति लोभात् स्वर्गं न गच्छति ।। १०२ ।।
न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित् स्वर्गमश्नुते ।

‘मनुष्य क्रोधसे अपने दानके फलको नष्ट कर देता है। लोभके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता। न्यायोपार्जित धनसे जीवन-निर्वाह करनेवाला और दानके महत्त्वको जाननेवाला पुरुष दान एवं तपस्याके द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है ।। १०२१/२ ।।

न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।। १०३ ।।
न चाश्वमेधैर्बहुभिः फलं सममिदं तव ।
सक्तुप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाक्षयः ।। १०४ ।।

‘तुमने जो यह दानजनित फल प्राप्त किया है, इसकी समता प्रचुर दक्षिणावाले बहुसंख्यक राजसूय और अनेक अश्वमेध-यज्ञोंद्वारा भी नहीं हो सकती। तुमने सेरभर सत्तूका दान करके अक्षय ब्रह्मलोकको जीत लिया है ।। १०३-१०४ ।।

विरजो ब्रह्मसदनं गच्छ विप्र यथासुखम् ।
सर्वेषां वो द्विजश्रेष्ठ दिव्यं यानमुपस्थितम् ।। १०५ ।।

‘विप्रवर! अब तुम सुखपूर्वक रजोगुणरहित ब्रह्मलोकमें जाओ। द्विजश्रेष्ठ! तुम सब लोगोंके लिये यह दिव्य विमान उपस्थित है ।। १०५ ।।

आरोहत यथाकामं धर्मोऽस्मि द्विज पश्य माम् ।
तारितो हि त्वया देहो लोके कीर्तिः स्थिरा च ते ।। १०६ ।।
सभार्यः सहपुत्रश्च सस्नुषश्च दिवं व्रज ।

'ब्रह्मन्! मेरी ओर देखो, मैं धर्म हूँ। तुम सब लोग अपनी इच्छाके अनुसार इस विमानपर चढ़ो। तुमने अपने इस शरीरका उद्धार कर दिया और लोकमें भी तुम्हारी अविचल कीर्ति बनी रहेगी। तुम पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके साथ स्वर्गलोकको जाओ' ।। १०६½ ।।

इत्युक्तवाक्ये धर्मे तु यानमारुह्य स द्विजः ।। १०७ ।।
सदारः ससुतश्चैव सस्नुषश्च दिवं गतः ।

धर्मके ऐसा कहनेपर वे उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मण देवता अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके साथ विमानपर आरूढ़ हो स्वर्गलोकको चले गये ।। १०७½ ।।

तस्मिन् विप्रे गते स्वर्गं ससुते सस्नुषे तदा ।। १०८ ।।
भार्याचतुर्थे धर्मज्ञे ततोऽहं निःसृतो बिलात् ।

'स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके साथ वे धर्मज्ञ ब्राह्मण जब स्वर्गलोकको चले गये, तब मैं अपनी बिलसे बाहर निकला ।। १०८½ ।।

ततस्तु सक्तुगन्धेन क्लेदेन सलिलस्य च ।। १०९ ।।
दिव्यपुष्पविमर्दाच्च साधोर्दानलवैश्च तैः ।
विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे काञ्चनीकृतम् ।। ११० ।।

तदनन्तर सत्तूकी गन्ध सूँघने, वहाँ गिरे हुए जलकी कीचसे सम्पर्क होने, वहाँ गिरे हुए दिव्य पुष्पोंको रौंदने और उन महात्मा ब्राह्मणके दान करते समय गिरे हुए अन्नके कणोंमें मन लगानेसे तथा उन उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणकी तपस्याके प्रभावसे मेरा मस्तक सोनेका हो गया ।। १०९-११० ।।

तस्य सत्याभिसंधस्य सक्तुदानेन चैव ह ।
शरीरार्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ।। १११ ।।

विप्रवरो! उन सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मणके सत्तूदानसे मेरा यह आधा शरीर भी सुवर्णमय हो गया ।। १११ ।।

पश्यतेमं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः ।
कथमेवंविधं स्याद् वै पार्श्वमन्यदिति द्विजाः ।। ११२ ।।

उन बुद्धिमान् ब्राह्मणकी तपस्यासे मुझे जो यह महान् फल प्राप्त हुआ है, इसे आपलोग अपनी आँखों देख लीजिये। ब्राह्मणो! अब मैं इस चिन्तामें पड़ा कि मेरे शरीरका दूसरा पार्श्व भी कैसे ऐसा ही हो सकता है? ।। ११२ ।।

तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः ।
यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः ।। ११३ ।।
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः ।

इसी उद्देश्यसे मैं बड़े हर्ष और उत्साहके साथ बारंबार अनेकानेक तपोवनों और यज्ञस्थलोंमें जाया-आया करता हूँ। परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरके इस यज्ञका बड़ा भारी शोर सुनकर मैं बड़ी आशा लगाये यहाँ आया था; किंतु मेरा शरीर यहाँ सोनेका न हो सका ।। ११३½ ।।

ततो मयोक्तं तद् वाक्यं प्रहस्य ब्राह्मणर्षभाः ।। ११४ ।।
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा ।

ब्राह्मणशिरोमणियो! इसीसे मैंने हँसकर कहा था कि यह यज्ञ ब्राह्मणके दिये हुए सेरभर सत्तूके बराबर भी नहीं है। सर्वथा ऐसी ही बात है ।। ११४½ ।।

सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाहं काञ्चनीकृतः ।। ११५ ।।
नहि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम ।

क्योंकि उस समय सेरभर सत्तूमेंसे गिरे हुए कुछ कणोंके प्रभावसे मेरा आधा शरीर सुवर्णमय हो गया था; परंतु यह महान् यज्ञ भी मुझे वैसा न बना सका; अतः मेरे मतमें यह यज्ञ उन सेरभर सत्तूके कणोंके समान भी नहीं है ।। ११५½ ।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान् यज्ञे द्विजवरांस्तदा ।। ११६ ।।
जगामादर्शनं तेषां विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ।। ११७ ।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञस्थलमें उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे ऐसा कहकर वह नेवला वहाँसे गायब हो गया और वे ब्राह्मण भी अपने-अपने घर चले गये ।। ११६-११७ ।।

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया परपुरंजय ।
यदाश्चर्यमभूत् तत्र वाजिमेधे महाक्रतौ ।। ११८ ।।

शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले जनमेजय! वहाँ अश्वमेध नामक महायज्ञमें जो आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी, वह सारा प्रसंग मैंने तुम्हें बता दिया ।। ११८ ।।

न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कथंचन ।
ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ।। ११९ ।।

नरेश्वर! उस यज्ञके सम्बन्धमें ऐसी घटना सुनकर तुम्हें किसी प्रकार विस्मय नहीं करना चाहिये। सहस्रों कोटि ऐसे ऋषि हो गये हैं, जो यज्ञ न करके केवल तपस्याके ही बलसे दिव्य लोकको प्राप्त हो चुके हैं ।। ११९ ।।

अद्रोहः सर्वभूतेषु संतोषः शीलमार्जवम् ।
तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम् ।। १२० ।।

किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, मनमें संतोष रखना, शील और सदाचारका पालन करना, सबके प्रति सरलतापूर्ण बर्ताव करना, तपस्या करना, मन और इन्द्रियोंको संयममें

रखना, सत्य बोलना और न्यायोपार्जित वस्तुका श्रद्धापूर्वक दान करना—इनमेंसे एक-एक गुण बड़े-बड़े यज्ञोंके समान हैं ।। १२० ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि नकुलाख्याने नवतितमोऽध्यायः ।। ९० ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें नकुलोपाख्यानविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९० ।।

एकनवतितमोऽध्यायः

हिंसामिश्रित यज्ञ और धर्मकी निन्दा

जनमेजय उवाच

यज्ञे सक्ता नृपतयस्तपःसक्ता महर्षयः ।
शान्तिव्यवस्थिता विप्राः शमे दम इति प्रभो ।। १ ।।

जनमेजयने कहा—प्रभो! राजालोग यज्ञमें संलग्न होते हैं, महर्षि तपस्यामें तत्पर रहते हैं और ब्राह्मणलोग शान्ति (मनोनिग्रह)-में स्थित होते हैं। मनका निग्रह हो जानेपर इन्द्रियोंका संयम स्वतः सिद्ध हो जाता है ।। १ ।।

तस्माद् यज्ञफलैस्तुल्यं न किंचिदिह दृश्यते ।
इति मे वर्तते बुद्धिस्तथा चैतदसंशयम् ।। २ ।।

अतः यज्ञफलकी समानता करनेवाला कोई कर्म यहाँ मुझे नहीं दिखायी देता है। यज्ञके सम्बन्धमें मेरा तो ऐसा ही विचार है और निःसंदेह यही ठीक है ।। २ ।।

यज्ञैरिष्ट्वा तु बहवो राजानो द्विजसत्तमाः ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयुः ।। ३ ।।

यज्ञोंका अनुष्ठान करके बहुत-से राजा और श्रेष्ठ ब्राह्मण इहलोकमें उत्तम कीर्ति पाकर मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें गये हैं ।। ३ ।।

देवराजः सहस्राक्षः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
देवराज्यं महातेजाः प्राप्तवानखिलं विभुः ।। ४ ।।

सहस्र नेत्रधारी महातेजस्वी देवराज भगवान् इन्द्रने बहुत-सी दक्षिणावाले बहुसंख्यक यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंका समस्त साम्राज्य प्राप्त किया था ।। ४ ।।

यदा युधिष्ठिरो राजा भीमार्जुनपुरःसरः ।
सदृशो देवराजेन समृद्ध्या विक्रमेण च ।। ५ ।।

भीम और अर्जुनको आगे रखकर राजा युधिष्ठिर भी समृद्धि और पराक्रमकी दृष्टिसे देवराज इन्द्रके ही तुल्य थे ।। ५ ।।

अथ कस्मात् स नकुलो गर्हयामास तं क्रतुम् ।
अश्वमेधं महायज्ञं राज्ञस्तस्य महात्मनः ।। ६ ।।

फिर उस नेवलेने महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस अश्वमेध नामक महायज्ञकी निन्दा क्यों की? ।। ६ ।।

वैशम्पायन उवाच

यज्ञस्य विधिमग्र्यं वै फलं चापि नराधिप ।

गदतः शृणु मे राजन् यथावदिह भारत ।। ७ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर! भरतनन्दन! मैं यज्ञकी श्रेष्ठ विधि और फलका यहाँ यथावत् वर्णन करता हूँ, तुम मेरा कथन सुनो ।। ७ ।।

पुरा शक्रस्य यजतः सर्व ऊचुर्महर्षयः ।
ऋत्विक्षु कर्मव्यग्रेषु वितते यज्ञकर्मणि ।। ८ ।।
हूयमाने तथा वह्नौ होत्रे गुणसमन्विते ।
देवेष्वाहूयमानेषु स्थितेषु परमर्षिषु ।। ९ ।।
सुप्रतीतैस्तथा विप्रैः स्वागमैः सुस्वरैर्नृप ।
अश्रान्तैश्चापि लघुभिरध्वर्युवृषभैस्तथा ।। १० ।।
आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ ।
महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः ।। ११ ।।

राजन्! प्राचीन कालकी बात है, जब इन्द्रका यज्ञ हो रहा था और सब महर्षि मन्त्रोच्चारण कर रहे थे, ऋत्विज्लोग अपने-अपने कर्मोंमें लगे थे, यज्ञका काम बड़े समारोह और विस्तारके साथ चल रहा था, उत्तम गुणोंसे युक्त आहुतियोंका अग्निमें हवन किया जा रहा था, देवताओंका आवाहन हो रहा था, बड़े-बड़े महर्षि खड़े थे, ब्राह्मणलोग बड़ी प्रसन्नताके साथ वेदोक्त मन्त्रोंका उत्तम स्वरसे पाठ करते थे और शीघ्रकारी उत्तम अध्वर्युगण बिना किसी थकावटके अपने कर्तव्यका पालन कर रहे थे। इतनेहीमें पशुओंके आलम्भका समय आया। महाराज! जब पशु पकड़ लिये गये, तब महर्षियोंको उनपर बड़ी दया आयी ।। ८—११ ।।

ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः ।
ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः ।। १२ ।।

उन पशुओंकी दयनीय अवस्था देखकर वे तपोधन ऋषि इन्द्रके पास जाकर बोले —'यह जो यज्ञमें पशुवधका विधान है, यह शुभकारक नहीं है ।। १२ ।।

अपरिज्ञानमेतत् ते महान्तं धर्ममिच्छतः ।
न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरंदर ।। १३ ।।

'पुरंदर! आप महान् धर्मकी इच्छा करते हैं तो भी जो पशुवधके लिये उद्यत हो गये हैं, यह आपका अज्ञान ही है; क्योंकि यज्ञमें पशुओंके वधका विधान शास्त्रमें नहीं देखा गया है ।। १३ ।।

धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो ।
नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म उच्यते ।। १४ ।।

'प्रभो! आपने जो यज्ञका समारम्भ किया है, यह धर्मको हानि पहुँचानेवाला है। यह यज्ञ धर्मके अनुकूल नहीं है, क्योंकि हिंसाको कहीं भी धर्म नहीं कहा गया है ।। १४ ।।

आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि ।। १५ ।।

विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत् ।

'यदि आपकी इच्छा हो तो ब्राह्मणलोग शास्त्रके अनुसार ही इस यज्ञका अनुष्ठान करें। शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ करनेसे आपको महान् धर्मकी प्राप्ति होगी ।। १५½ ।।

यज बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः ।। १६ ।।
एष धर्मो महान् शक्र महागुणफलोदयः ।

'सहस्र नेत्रधारी इन्द्र! आप तीन वर्षके पुराने बीजों (जौ, गेहूँ आदि अनाजों)-से यज्ञ करें। यही महान् धर्म है और महान् गुणकारक फलकी प्राप्ति करानेवाला है' ।। १६½ ।।

शतक्रतुस्तु तद् वाक्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।। १७ ।।
उक्तं न प्रतिजग्राह मानान्मोहवशं गतः ।

तत्त्वदर्शी ऋषियोंके कहे हुए इस वचनको इन्द्रने अभिमानवश नहीं स्वीकार किया। वे मोहके वशीभूत हो गये थे ।। २७½ ।।

तेषां विवादः सुमहान् शक्रयज्ञे तपस्विनाम् ।। १८ ।।
जङ्गमैः स्थावरैर्वापि यष्टव्यमिति भारत ।

इन्द्रके उस यज्ञमें जुटे हुए तपस्वी लोगोंमें इस प्रश्नको लेकर महान् विवाद खड़ा हो गया। भारत! एक पक्ष कहता था कि जंगम पदार्थ (पशु आदि)-के द्वारा यज्ञ करना चाहिये और दूसरा पक्ष कहता था कि स्थावर वस्तुओं (अन्न-फल आदि)-के द्वारा यजन करना उचित है ।। १८½ ।।

ते तु खिन्ना विवादेन ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ।। १९ ।।
तदा संधाय शक्रेण पप्रच्छुर्नृपतिं वसुम् ।
धर्मसंशयमापन्नान् सत्यं ब्रूहि महामते ।। २० ।।

भरतनन्दन! वे तत्त्वदर्शी ऋषि जब इस विवादसे बहुत खिन्न हो गये, तब उन्होंने इन्द्रके साथ सलाह लेकर इस विषयमें राजा उपरिचर वसुसे पूछा—'महामते! हमलोग धर्मविषयक संदेहमें पड़े हुए हैं। आप हमसे सच्ची बात बताइये ।। १९-२० ।।

महाभाग कथं यज्ञेष्वागमो नृपसत्तम ।
यष्टव्यं पशुभिर्मुख्यैरथो बीजै रसैरिति ।। २१ ।।

'महाभाग नृपश्रेष्ठ! यज्ञोंके विषयमें शास्त्रका मत कैसा है? मुख्य-मुख्य पशुओंद्वारा यज्ञ करना चाहिये अथवा बीजों एवं रसोंद्वारा' ।। २१ ।।

तच्छ्रुत्वा तु वसुस्तेषामविचार्य बलाबलम् ।
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति प्रोवाच पार्थिवः ।। २२ ।।

यह सुनकर राजा वसुने उन दोनों पक्षोंके कथनमें कितना सार या असार है, इसका विचार न करके यों ही बोल दिया कि 'जब जो वस्तु मिल जाय, उसीसे यज्ञ कर लेना चाहिये' ।। २२ ।।

एवमुक्त्वा स नृपतिः प्रविवेश रसातलम् ।

उक्त्वाथ वितथं प्रश्नं चेदीनामीश्वरः प्रभुः ।। २३ ।।

इस प्रकार कहकर असत्य निर्णय देनेके कारण चेदिराज वसुको रसातलमें जाना पड़ा ।। २३ ।।

तस्मान्न वाच्यं ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशये ।
प्रजापतिमपाहाय स्वयम्भुवमृते प्रभुम् ।। २४ ।।

अतः कोई संदेह उपस्थित होनेपर स्वयम्भू भगवान् प्रजापतिको छोड़कर अन्य किसी बहुज्ञ पुरुषको भी अकेले कोई निर्णय नहीं देना चाहिये ।। २४ ।।

तेन दत्तानि दानानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ।
तानि सर्वाण्यनादृत्य नश्यन्ति विपुलान्यपि ।। २५ ।।

उस अशुद्ध बुद्धिवाले पापी पुरुषके दिये हुए दान कितने ही अधिक क्यों न हों, वे सब-के-सब अनाहत होकर नष्ट हो जाते हैं ।। २५ ।।

तस्याधर्मप्रवृत्तस्य हिंसकस्य दुरात्मनः ।
दानेन कीर्तिर्भवति न प्रेत्येह च दुर्मतेः ।। २६ ।।

अधर्ममें प्रवृत्त हुए दुर्बुद्धि दुरात्मा हिंसक मनुष्य जो दान देते हैं, उससे इहलोक या परलोकमें उनकी कीर्ति नहीं होती ।। २६ ।।

अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः ।
धर्माभिशंकी यजते न स धर्मफलं लभेत् ।। २७ ।।

जो मूर्ख अन्यायोपार्जित धनका बारंबार संग्रह करके धर्मके विषयमें संशय रखते हुए यजन करता है, उसे धर्मका फल नहीं मिलता ।। २७ ।।

धर्मवैतंसिको यस्तु पापात्मा पुरुषाधमः ।
ददाति दानं विप्रेभ्यो लोकविश्वासकारणम् ।। २८ ।।

जो धर्मध्वजी, पापात्मा एवं नराधम है, वह लोकमें अपना विश्वास जमानेके लिये ब्राह्मणोंको दान देता है, धर्मके लिये नहीं ।। २८ ।।

पापेन कर्मणा विप्रो धनं प्राप्य निरङ्कुशः ।
रागमोहान्वितः सोऽन्ते कलुषां गतिमश्नुते ।। २९ ।।

जो ब्राह्मण पापकर्मसे धन पाकर उच्छृंखल हो राग और मोहके वशीभूत हो जाता है, वह अन्तमें कलुषित गतिको प्राप्त होता है ।। २९ ।।

अपि संचयबुद्धिर्हि लोभमोहवशंगतः ।
उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ।। ३० ।।

वह लोभ और मोहके वशमें पड़कर संग्रह करनेकी बुद्धिको अपनाता है। कृपणतापूर्वक पैसे बटोरनेका विचार रखता है। फिर बुद्धिको अशुद्ध कर देनेवाले पापाचारके द्वारा प्राणियोंको उद्वेगमें डाल देता है ।। ३० ।।

एवं लब्ध्वा धनं मोहाद् यो हि दद्याद् यजेत वा ।

न तस्य स फलं प्रेत्य भुङ्क्ते पापधनागमात् ।। ३१ ।।

इस प्रकार जो मोहवश अन्यायसे धनका उपार्जन करके उसके द्वारा दान या यज्ञ करता है, वह मरनेके बाद भी उसका फल नहीं पाता; क्योंकि वह धन पापसे मिला हुआ होता है ।। ३१ ।।

उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः ।
दानं विभवतो दत्त्वा नराः स्वर्यान्ति धार्मिकाः ।। ३२ ।।

तपस्याके धनी धर्मात्मा पुरुष उञ्छ (बीने हुए अन्न), फल, मूल, शाक और जलपात्रका ही अपनी शक्तिके अनुसार दान करके स्वर्गलोकमें चले जाते हैं ।। ३२ ।।

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा ।। ३३ ।।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ।
श्रूयन्ते हि पुरा वृत्ता विश्वामित्रादयो नृपाः ।। ३४ ।।

यही धर्म है, यही महान् योग है, दान, प्राणियोंपर दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, धृति और क्षमा—ये सनातन धर्मके सनातन मूल हैं। सुना जाता है कि पूर्वकालमें विश्वामित्र आदि नरेश इसीसे सिद्धिको प्राप्त हुए थे ।। ३३-३४ ।।

विश्वामित्रोऽसितश्चैव जनकश्च महीपतिः ।
कक्षसेनार्ष्टिषेणौ च सिन्धुद्वीपश्च पार्थिवः ।। ३५ ।।
एते चान्ये च बहवः सिद्धिं परमिकां गताः ।
नृपाः सत्यैश्च दानैश्च न्यायलब्धैस्तपोधनाः ।। ३६ ।।

विश्वामित्र, असित, राजा जनक, कक्षसेन, आर्ष्टिषेण और भूपाल सिन्धुद्वीप—ये तथा अन्य बहुत-से राजा तथा तपस्वी न्यायोपार्जित धनके दान और सत्यभाषणद्वारा परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं ।। ३५-३६ ।।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपः ।
दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ।। ३७ ।।

भरतनन्दन! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जो भी तपका आश्रय लेते हैं, वे दानधर्मरूपी अग्निसे तपकर सुवर्णके समान शुद्ध हो स्वर्गलोकको जाते हैं ।। ३७ ।।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि अनुगीतापर्वणि
हिंसामिश्रधर्मनिन्दायामेकनवतितमोऽध्यायः ।। ९१ ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत आश्वमेधिकपर्वके अन्तर्गत अनुगीतापर्वमें हिंसामिश्रित धर्मकी निन्दाविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ।। ९१ ।।

द्विनवतितमोऽध्यायः
महर्षि अगस्त्यके यज्ञकी कथा

जनमेजय उवाच

धर्मागतेन त्यागेन भगवन् स्वर्गमस्ति चेत् ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि भाषितुम् ।। १ ।।

जनमेजयने कहा—भगवन्! धर्मके द्वारा प्राप्त हुए धनका दान करनेसे यदि स्वर्ग मिलता है तो यह सब विषय मुझे स्पष्टरूपसे बताइये; क्योंकि आप प्रवचन करनेमें कुशल हैं ।। १ ।।

तस्योञ्छवृत्तेर्यद् वृत्तं सक्तुदाने फलं महत् ।
कथितं तु मम ब्रह्मंस्तथ्यमेतदसंशयम् ।। २ ।।

ब्रह्मन्! उञ्छवृत्ति धारण करनेवाले ब्राह्मणको न्यायतः प्राप्त हुए सत्तूका दान करनेसे जिस महान् फलकी प्राप्ति हुई, उसका आपने मुझसे वर्णन किया। निस्संदेह यह सब ठीक है ।। २ ।।

कथं हि सर्वयज्ञेषु निश्चयः परमोऽभवत् ।
एतदर्हसि मे वक्तुं निखिलेन द्विजर्षभ ।। ३ ।।

परंतु सभी यज्ञोंमें यह उत्तम निश्चय कैसे कार्यान्वित किया जा सकता है। द्विजश्रेष्ठ! इस विषयका मुझसे पूर्णतः प्रतिपादन कीजिये ।। ३ ।।

वैशम्पायन उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अगस्त्यस्य महायज्ञे पुरावृत्तमरिंदम ।। ४ ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! इस विषयमें पहले अगस्त्य मुनिके महान् यज्ञमें जो घटना घटित हुई थी, उस प्राचीन इतिहासका जानकार मनुष्य उदाहरण दिया करते हैं ।। ४ ।।

पुरागस्त्यो महातेजा दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् ।
प्रविवेश महाराज सर्वभूतहिते रतः ।। ५ ।।

महाराज! पहलेकी बात है, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाले महातेजस्वी अगस्त्य मुनिने एक समय बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले यज्ञकी दीक्षा ली ।। ५ ।।

तत्राग्निकल्पा होतार आसन् सत्रे महात्मनः ।
मूलाहाराः फलाहाराः साश्मकुट्टा मरीचिपाः ।। ६ ।।
परिपृष्टिका वैघसिकाः प्रसंख्यानास्तथैव च ।

यतयो भिक्षवश्चात्र बभूवुः पर्यवस्थिताः ।। ७ ।।

उन महात्माके यज्ञमें अग्निके समान तेजस्वी होता थे। जिनमें फल, मूलका आहार करनेवाले, अश्मकुट्ट[१], मरीचिप[२], परिपृष्टिक[३], वैघसिक[४] और प्रसंख्याने[५] आदि अनेक प्रकारके यति एवं भिक्षु उपस्थित थे ।। ६-७ ।।

सर्वे प्रत्यक्षधर्माणो जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
दमे स्थिताश्च सर्वे ते हिंसादम्भविवर्जिताः ।। ८ ।।
वृत्ते शुद्धे स्थिता नित्यमिन्द्रियैश्चाप्यबाधिताः ।
उपातिष्ठन्त तं यज्ञं यजन्तस्ते महर्षयः ।। ९ ।।

वे सब-के-सब प्रत्यक्ष धर्मका पालन करनेवाले, क्रोध-विजयी, जितेन्द्रिय, मनोनिग्रहपरायण, हिंसा और दम्भसे रहित तथा सदा शुद्ध सदाचारमें स्थित रहनेवाले थे। उन्हें किसी भी इन्द्रियके द्वारा कभी बाधा नहीं पहुँचती थी। ऐसे-ऐसे महर्षि वह यज्ञ करानेके लिये वहाँ उपस्थित थे ।। ८-९ ।।

यथाशक्त्या भगवता तदन्नं समुपार्जितम् ।
तस्मिन् सत्रे तु यद् वृत्तं यद् योग्यं च तदाभवत् ।। १० ।।

भगवान् अगस्त्य मुनिने उस यज्ञके लिये यथाशक्ति विशुद्ध अन्नका संग्रह किया था। उस समय उस यज्ञमें वही हुआ, जो उसके योग्य था ।। १० ।।

तथा ह्यनेकैर्मुनिभिर्महान्तः क्रतवः कृताः ।
एवंविधे त्वगस्त्यस्य वर्तमाने तथाध्वरे ।
न ववर्ष सहस्राक्षस्तदा भरतसत्तम ।। ११ ।।

उनके सिवा और भी अनेक मुनियोंने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। भरतश्रेष्ठ! महर्षि अगस्त्यका ऐसा यज्ञ जब चालू हो गया, तब देवराज इन्द्रने वहाँ वर्षा बंद कर दी ।। ११ ।।

ततः कर्मान्तरे राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः ।
कथेयमभिनिर्वृत्ता मुनीनां भावितात्मनाम् ।। १२ ।।

राजन्! तब यज्ञकर्मके बीचमें अवकाश मिलनेपर जब विशुद्ध अन्तःकरणवाले मुनि एक-दूसरेसे मिलकर एक स्थानपर बैठे, तब उनमें महात्मा अगस्त्यजीके सम्बन्धमें इस प्रकार चर्चा होने लगी— ।। १२ ।।

अगस्त्यो यजमानोऽसौ ददात्यन्नं विमत्सरः ।
न च वर्षति पर्जन्यः कथमन्नं भविष्यति ।। १३ ।।

'महर्षियो! सुप्रसिद्ध अगस्त्य मुनि हमारे यजमान हैं। वे ईर्ष्यारहित हो श्रद्धापूर्वक सबको अन्न देते हैं। परंतु इधर मेघ जलकी वर्षा नहीं कर रहा है। तब भविष्यमें अन्न कैसे पैदा होगा? ।। १३ ।।

सत्रं चेदं महद् विप्रा मुनेर्द्वादशवार्षिकम् ।
न वर्षिष्यति देवश्च वर्षाण्येतानि द्वादश ।। १४ ।।

‘ब्राह्मणो! मुनिका यह महान् सत्र बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाला है; परंतु इन्द्रदेव इन बारह वर्षोंमें वर्षा नहीं करेंगे ।। १४ ।।

एतद् भवन्तः संचिन्त्य महर्षेरस्य धीमतः ।
अगस्त्यस्यातितपसः कर्तुमर्हन्त्यनुग्रहम् ।। १५ ।।

‘यह सोचकर आपलोग इन अत्यन्त तपस्वी बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यपर अनुग्रह करें (जिससे इनका यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो जाय)’ ।। १५ ।।

इत्येवमुक्ते वचने ततोऽगस्त्यः प्रतापवान् ।। १६ ।।
प्रोवाच वाक्यं स तदा प्रसाद्य शिरसा मुनीन् ।

उनके ऐसा कहनेपर प्रतापी अगस्त्य उन मुनियोंको सिरसे प्रणाम करके उन्हें राजी करते हुए इस प्रकार बोले— ।। १६½ ।।

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ।। १७ ।।
चिन्तायज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ।

‘यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं चिन्तनमात्रके द्वारा मानसिक यज्ञ करूँगा। यह यज्ञकी सनातन विधि है ।। १७½ ।।

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ।। १८ ।।
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः ।

‘यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं स्पर्शयज्ञ* करूँगा। यह भी यज्ञकी सनातन विधि है’ ।। १८½ ।।

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ।। १९ ।।
ध्येयात्मना हरिष्यामि यज्ञानेतान् यतव्रतः ।

‘यदि इन्द्र बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं करेंगे तो मैं व्रत-नियमोंका पालन करता हुआ ध्यानद्वारा ध्येयरूपसे स्थित हो इन यज्ञोंका अनुष्ठान करूँगा ।। १९½ ।।

बीजयज्ञो मयायं वै बहुवर्षसमाचितः ।। २० ।।
बीजैर्हि तं करिष्यामि नात्र विघ्नो भविष्यति ।

‘यह बीज-यज्ञ मैंने बहुत वर्षोंसे संचित कर रखा है। उन बीजोंसे ही मैं अपना यज्ञ पूरा कर लूँगा। इसमें कोई विघ्न नहीं होगा ।। २०½ ।।

नेदं शक्यं वृथा कर्तुं मम सत्रं कथंचन ।। २१ ।।
वर्षिष्यतीह वा देवो न वा वर्षं भविष्यति ।

‘इन्द्रदेव यहाँ वर्षा करें अथवा यहाँ वर्षा न हो, इसकी मुझे परवा नहीं है, मेरे इस यज्ञको किसी तरह व्यर्थ नहीं किया जा सकता ।। २१½ ।।

अथवाभ्यर्थनामिन्द्रो न करिष्यति कामतः ।। २२ ।।
स्वयमिन्द्रो भविष्यामि जीवयिष्यामि च प्रजाः ।

‘अथवा यदि इन्द्र इच्छानुसार जल बरसानेके लिये की हुई मेरी प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो मैं स्वयं इन्द्र हो जाऊँगा और समस्त प्रजाके जीवनकी रक्षा करूँगा ।।

यो यदाहारजातश्च स तथैव भविष्यति ।। २३ ।।

विशेषं चैव कर्तास्मि पुनः पुनरतीव हि ।

‘जो जिस आहारसे उत्पन्न हुआ है, उसे वही प्राप्त होगा तथा मैं बारंबार अधिक मात्रामें विशेष आहारकी भी व्यवस्था करूँगा ।। २३$\frac{1}{2}$ ।।

अद्येह स्वर्णमभ्येतु यच्चान्यद् वसु किंचन ।। २४ ।।

त्रिषु लोकेषु यच्चास्ति तदिहागम्यतां स्वयम् ।

‘तीनों लोकोंमें जो सुवर्ण या दूसरा कोई धन है, वह सब आज यहाँ स्वतः आ जाय ।। २४$\frac{1}{2}$ ।।

दिव्याश्चाप्सरसां संघा गन्धर्वाश्च सकिन्नराः ।। २५ ।।

विश्वावसुश्च ये चान्ये तेऽप्युपासन्तु मे मखम् ।
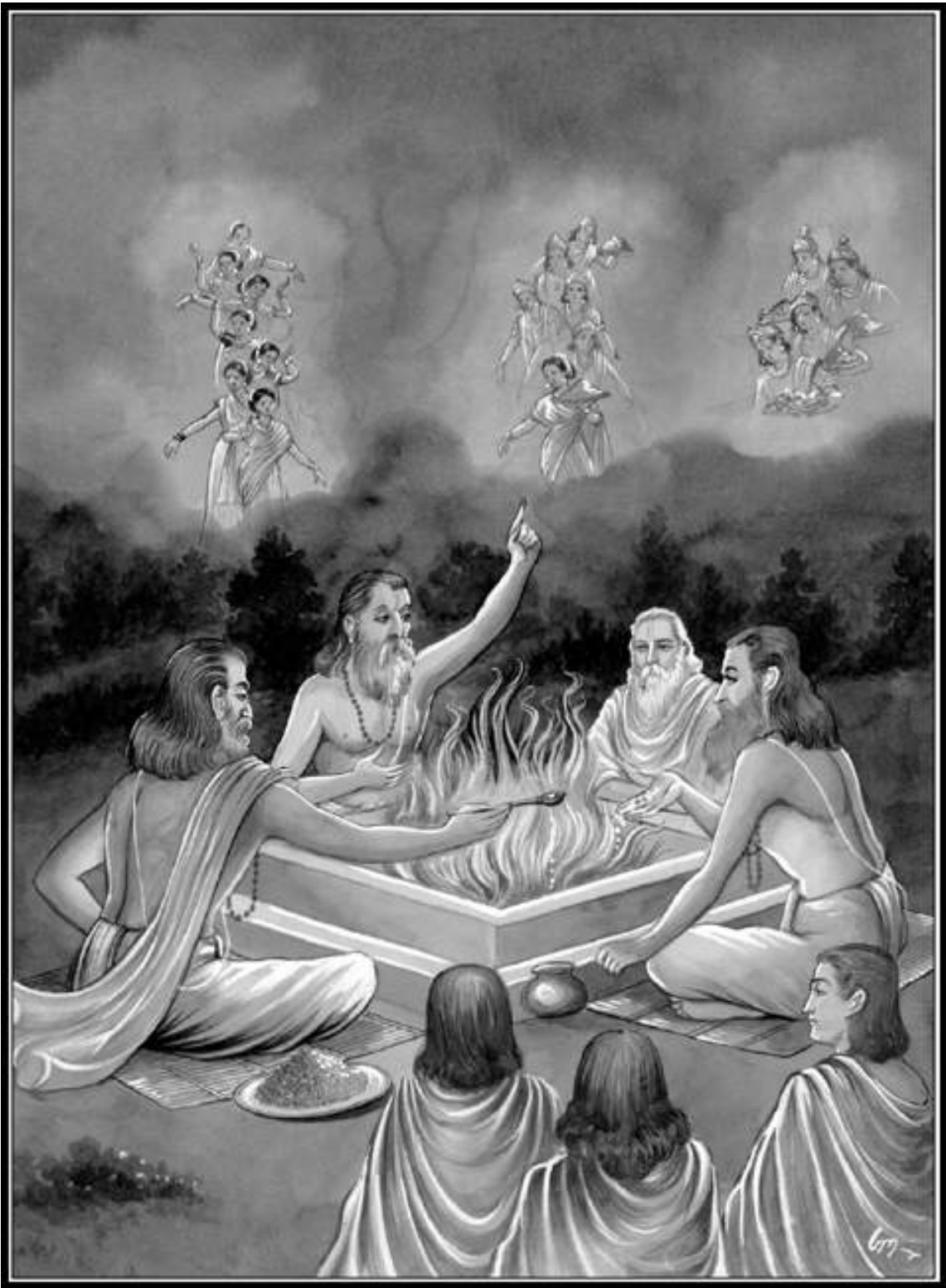
महर्षि अगस्त्यकी यज्ञके समय प्रतिज्ञा

'दिव्य अप्सराओंके समुदाय, गन्धर्व, किन्नर, विश्वावसु तथा जो अन्य प्रमुख गन्धर्व हैं, वे सब यहाँ आकर मेरे यज्ञकी उपासना करें ।। २५½ ।।

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च यत् किंचिद् वसु विद्यते ।। २६ ।।
सर्वं तदिह यज्ञेषु स्वयमेवोपतिष्ठतु ।
स्वर्गः स्वर्गसदश्चैव धर्मश्च स्वयमेव तु ।। २७ ।।

'उत्तर कुरुवर्षमें जो कुछ धन है, वह सब स्वयं यहाँ मेरे यज्ञोंमें उपस्थित हो। स्वर्ग, स्वर्गवासी देवता और धर्म स्वयं यहाँ विराजमान हो जायँ' ।। २६-२७ ।।

इत्युक्ते सर्वमेवैतदभवत् तपसा मुनेः ।
तस्य दीप्ताग्निमहसस्त्वगस्त्यस्यातितेजसः ।। २८ ।।

प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, अतिशय कान्तिमान् महर्षि अगस्त्यके इतना कहते ही उनकी तपस्याके प्रभावसे ये सारी वस्तुएँ वहाँ प्रस्तुत हो गयीं ।। २८ ।।

ततस्ते मुनयो हृष्टा ददृशुस्तपसो बलम् ।
विस्मिता वचनं प्राहुरिदं सर्वे महार्थवत् ।। २९ ।।

उन महर्षियोंने बड़े हर्षके साथ महर्षिके उस तपोबलको प्रत्यक्ष देखा। देखकर वे सब लोग आश्चर्यचकित हो गये और इस प्रकार महान् अर्थसे भरे हुए वचन बोले ।। २९ ।।

ऋषय ऊचुः

प्रीताः स्म तव वाक्येन न त्विच्छामस्तपोव्ययम् ।
तैरेव यज्ञैस्तुष्टाः स्म न्यायेनेच्छामहे वयम् ।। ३० ।।

ऋषि बोले—महर्षे! आपकी बातोंसे हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। हम आपकी तपस्याका व्यय होना नहीं चाहते हैं। हम आपके उन्हीं यज्ञोंसे संतुष्ट हैं और न्यायसे उपार्जित अन्नकी ही इच्छा रखते हैं ।। ३० ।।

यज्ञं दीक्षां तथा होमान् यच्चान्यन्मृगयामहे ।
न्यायेनोपार्जिताहाराः स्वकर्माभिरता वयम् ।। ३१ ।।

यज्ञ, दीक्षा, होम तथा और जो कुछ हम खोजा करते हैं, वह सब हमें यहाँ प्राप्त है। न्यायसे उपार्जित किया हुआ अन्न ही हमारा भोजन है और हम सदा अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं ।। ३१ ।।

वेदांश्च ब्रह्मचर्येण न्यायतः प्रार्थयामहे ।
न्यायेनोत्तरकालं च गृहेभ्यो निःसृता वयम् ।। ३२ ।।

हम ब्रह्मचर्यका पालन करके न्यायतः वेदोंको प्राप्त करना चाहते हैं और अन्तमें न्यायपूर्वक ही हम घर छोड़कर निकले हैं ।। ३२ ।।

धर्मदृष्टैर्विधिद्वारैस्तपस्तप्स्यामहे वयम् ।
भवतः सम्यगिष्टा तु बुद्धिर्हिंसाविवर्जिता ।। ३३ ।।

एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो ।
प्रीतास्ततो भविष्यामो वयं तु द्विजसत्तम ।। ३४ ।।
विसर्जिताः समाप्तौ च सत्रादस्माद् व्रजामहे ।

धर्मशास्त्रमें देखे गये विधि-विधानसे ही हम तपस्या करेंगे। आपको हिंसारहित बुद्धि ही अधिक प्रिय है; अतः प्रभो! आप यज्ञोंमें सदा इस अहिंसाका ही प्रतिपादन करें। द्विजश्रेष्ठ! ऐसा करनेसे हम आपपर बहुत प्रसन्न होंगे। यज्ञकी समाप्ति होनेपर जब आप हमें विदा करेंगे, तब हम यहाँसे अपने घरको जायँगे ।। ३३-३४½ ।।

तथा कथयतां तेषां देवराजः पुरंदरः ।। ३५ ।।
ववर्ष सुमहातेजा दृष्ट्वा तस्य तपोबलम् ।
आसमाप्तेश्च यज्ञस्य तस्यामितपराक्रमः ।। ३६ ।।
निकामवर्षी पर्जन्यो बभूव जनमेजय ।

जनमेजय! जब ऋषि लोग ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महा तेजस्वी देवराज इन्द्रने महर्षिका तपोबल देखकर पानी बरसाना आरम्भ किया। जबतक उस यज्ञकी समाप्ति नहीं हुई, तबतक अमितपराक्रमी इन्द्रने वहाँ इच्छानुसार वर्षा की ।। ३५-३६½ ।।

प्रसादयामास च तमगस्त्यं त्रिदशेश्वरः ।
स्वयमभ्येत्य राजर्षे पुरस्कृत्य बृहस्पतिम् ।। ३७ ।।

राजर्षे! देवेश्वर इन्द्रने स्वयं आकर बृहस्पतिको आगे करके अगस्त्य ऋषिको मनाया ।। ३७ ।।

ततो यज्ञसमाप्तौ तान् विससर्ज महामुनीन् ।
अगस्त्यः परमप्रीतः पूजयित्वा यथाविधि ।। ३८ ।।

तदनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर अत्यन्त प्रसन्न हुए अगस्त्यजीने उन महामुनियोंकी विधिवत् पूजा करके सबको विदा कर दिया ।। ३८ ।।

जनमेजय उवाच

कोऽसौ नकुलरूपेण शिरसा काञ्चनेन वै ।
प्राह मानुषवद् वाचमेतत् पृष्टो वदस्व मे ।। ३९ ।।

जनमेजयने पूछा—मुने! सोनेके मस्तकसे युक्त वह नेवला कौन था, जो मनुष्योंकी-सी बोली बोलता था? मेरे इस प्रश्नका मुझे उत्तर दीजिये ।। ३९ ।।

वैशम्पायन उवाच

एतत् पूर्वं न पृष्टोऽहं न चास्माभिः प्रभाषितम् ।
श्रूयतां नकुलो योऽसौ यथा वाक् तस्य मानुषी ।। ४० ।।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! यह बात न तो तुमने पहले पूछी थी और न मैंने बतायी थी। अब पूछते हो तो सुनो। वह नकुल कौन था और उसकी मनुष्योंकी-सी बोली

कैसे हुई, यह सब बता रहा हूँ ।। ४० ।।

श्राद्धं संकल्पयामास जमदग्निः पुरा किल ।
होमधेनुस्तमागाच्च स्वयमेव दुदोह ताम् ।। ४१ ।।

पूर्वकालकी बात है, एक दिन जमदग्नि ऋषिने श्राद्ध करनेका संकल्प किया। उस समय उनकी होमधेनु स्वयं ही उनके पास आयी और मुनिने स्वयं ही उसका दूध दुहा ।। ४१ ।।

तत् पयः स्थापयामास नवे भाण्डे दृढे शुचौ ।
तच्च क्रोधस्वरूपेण पिठरं धर्म आविशत् ।। ४२ ।।

उस दूधको उन्होंने नये पात्रमें, जो सुदृढ़ और पवित्र था, रख दिया। उस पात्रमें धर्मने क्रोधका रूप धारण करके प्रवेश किया ।। ४२ ।।

जिज्ञासुस्तमृषिश्रेष्ठं किं कुर्याद् विप्रिये कृते ।
इति संचिन्त्य धर्मः स धर्षयामास तत् पयः ।। ४३ ।।

धर्म उन मुनिश्रेष्ठकी परीक्षा लेना चाहते थे। उन्होंने सोचा, देखूँ तो ये अप्रिय करनेपर क्या करते हैं? इसीलिये उन्होंने उस दूधको क्रोधके स्पर्शसे दूषित कर दिया ।। ४३ ।।

तमाज्ञाय मुनिः क्रोधं नैवास्य स चुकोप ह ।
स तु क्रोधस्ततो राजन् ब्राह्मणीं मूर्तिमास्थितः ।
जिते तस्मिन् भृगुश्रेष्ठमभ्यभाषदमर्षणः ।। ४४ ।।

राजन्! मुनिने उस क्रोधको पहचान लिया; किंतु उसपर वे कुपित नहीं हुए। तब क्रोधने ब्राह्मणका रूप धारण किया। मुनिके द्वारा पराजित होनेपर उस अमर्षशील क्रोधने उन भृगुश्रेष्ठसे कहा— ।। ४४ ।।

जितोऽस्मीति भृगुश्रेष्ठ भृगवो ह्यतिरोषणाः ।
लोके मिथ्या प्रवादोऽयं यत्त्वयास्मि विनिर्जितः ।। ४५ ।।

‘भृगुश्रेष्ठ! मैं तो पराजित हो गया। मैंने सुना था कि भृगुवंशी ब्राह्मण बड़े क्रोधी होते हैं; परंतु लोकमें प्रचलित हुआ यह प्रवाद आज मिथ्या सिद्ध हो गया; क्योंकि आपने मुझे जीत लिया ।। ४५ ।।

वशे स्थितोऽहं त्वय्यद्य क्षमावति महात्मनि ।
बिभेमि तपसः साधो प्रसादं कुरु मे प्रभो ।। ४६ ।।

‘प्रभो! आज मैं आपके वशमें हूँ। आपकी तपस्यासे डरता हूँ। साधो! आप क्षमाशील महात्मा हैं, मुझपर कृपा कीजिये’ ।। ४६ ।।

जमदग्निरुवाच

साक्षाद् दृष्टोऽसि मे क्रोध गच्छ त्वं विगतज्वरः ।
न त्वयापकृतं मेऽद्य न च मे मन्युरस्ति वै ।। ४७ ।।

जमदग्नि बोले—क्रोध! मैंने तुम्हें प्रत्यक्ष देखा है। तुम निश्चिन्त होकर यहाँसे जाओ। तुमने मेरा कोई अपराध नहीं किया है; अतः आज तुमपर मेरा रोष नहीं है ।। ४७ ।।

यान् समुद्दिश्य संकल्पः पयसोऽस्य कृतो मया ।
पितरस्ते महाभागास्तेभ्यो बुद्ध्यस्व गम्यताम् ।। ४८ ।।

मैंने जिन पितरोंके उद्देश्यसे इस दूधका संकल्प किया था, वे महाभाग पितर ही उसके स्वामी हैं। जाओ, उन्हींसे इस विषयमें समझो ।। ४८ ।।

इत्युक्तो जातसंत्रासस्तत्रैवान्तरधीयत ।
पितॄणामभिषङ्गाच्च नकुलत्वमुपागतः ।। ४९ ।।

मुनिके ऐसा कहनेपर क्रोधरूपधारी धर्म भयभीत हो वहाँसे अदृश्य हो गये और पितरोंके शापसे उन्हें नेवला होना पड़ा ।। ४९ ।।

स तान् प्रसादयामास शापस्यान्तो भवेदिति ।
तैश्चाप्युक्तः क्षिपन् धर्मं शापस्यान्तमवाप्स्यसि ।। ५० ।।

इस शापका अन्त होनेके उद्देश्यसे उन्होंने पितरोंको प्रसन्न किया। तब पितरोंने कहा—'तुम धर्मराज युधिष्ठिरपर आक्षेप करके इस शापसे छुटकारा पा जाओगे' ।। ५० ।।

तैश्चोक्तो यज्ञियान् देशान् धर्मारण्यं तथैव च ।
जुगुप्समानो धावन् स तं यज्ञं समुपासदत् ।। ५१ ।।

उन्होंने ही उस नेवलेको यज्ञसम्बन्धी स्थान और धर्मारण्यका पता बताया था। वह धर्मराजकी निन्दाके उद्देश्यसे दौड़ता हुआ उस यज्ञमें जा पहुँचा था ।। ५१ ।।

धर्मपुत्रमथाक्षिप्य सक्तुप्रस्थेन तेन सः ।
मुक्तः शापात् ततः क्रोधो धर्मो ह्यासीद् युधिष्ठिरः ।। ५२ ।।

धर्मपुत्र युधिष्ठिरपर आक्षेप करते हुए सेरभर सत्तूके दानका माहात्म्य बताकर क्रोधरूपधारी धर्म शापसे मुक्त हो गया और वह धर्मराज युधिष्ठिरमें स्थित हो गया ।। ५२ ।।

एवमेतत् तदा वृत्ते यज्ञे तस्य महात्मनः ।
पश्यतां चापि नस्तत्र नकुलोऽन्तर्हितस्तदा ।। ५३ ।।

इस प्रकार महात्मा युधिष्ठिरका यज्ञ समाप्त होनेपर यह घटना घटी थी और वह नेवला हमलोगोंके देखते-देखते वहाँसे गायब हो गया था ।। ५३ ।।

---

१. खाद्य पदार्थको पत्थरपर फोड़कर खानेवाले। २. सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले। ३. पूछकर दिये हुए अन्नको ही लेनेवाले। ४. यज्ञशिष्ट अन्नको ही भोजन करनेवाले। ५. तत्त्वका विचार करनेवाले।

* संचित अन्नका व्यय किये बिना ही उसके स्पर्शमात्रसे देवताओंको तृप्त करनेकी जो भावना है, उसका नाम स्पर्शयज्ञ है।